SAHITYA-MEMASA

साहित्य-मीमांसा

(साहित्य की प्रमुख विधाओं का मार्मिक विवेचन)

लेखक

विद्याभास्कर, वेदांतरत्न (गुरुकुल)
श्री **सूर्यकांत** शास्त्री, व्याकरणतीर्थ (कलकत्ता)
एम. ए., एम. ओ. एल., डी. लिट (पंजाब)
डी. फिल. (ऑक्सन)
रीडर इन संस्कृत
यूनिवर्सिटी ऑफ दि पंजाब, लाहौर

प्रकाशक

हिंदी भवन, लाहौर

विषयानुक्रमणी

१—साहित्य

२—पद्य-कविता

३—गद्य

४—पद्य + गद्य

माननीय सर मनोहरलाल

(के.टी., एम.ए., बार-एट-लॉ,)

अर्थमंत्री, पंजाब,

की

सेवा में सप्रेम

समर्पित

सूर्यकांत

साहित्य क्या है ?

विश्व में दृष्टिगोचर होने वाले आत्म तथा अनात्म की, अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक जगत् की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से की जा सकती है। इन प्रकारों अथवा कलाओं में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला—जिसे हम साहित्यकला के नाम से भी पुकारते हैं—प्रमुख हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में साहित्यकला का विवेचन किया जायगा।

साहित्य के अनेक लक्षण

साहित्य क्या है इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों का मतभेद रहा है। एमर्सन के मत में साहित्य **भव्य विचारों का लेखा** है तो दूसरा लेखक इसे **प्रवीण नरनारियों के विचारों तथा मनोवेगों को इस प्रकार लेखबद्ध करना बताता है कि उससे पाठक का मनोरंजन हो सके**। साहित्यसमीक्षण के प्रसंग में एक फ्रैंच विद्वान् लिखते हैं--

हम प्रथमवर्गीय रचनाओं (Classics) की समष्टि को साहित्य

कहते हैं; और प्रथमवर्गीय लेखक वह है, जिसने मानवीय मस्तिष्क को समृद्ध किया हो, जिसने सचमुच उसके भंडार में वृद्धि की हो, जिसने समाज की गति में त्वरा उत्पन्न की हो, जिसने किसी चारित्रिक सत्य का अन्वेषण किया हो, जिसने अपने विचारों, पर्यवेक्षणों अथवा आविष्कारों को किसी ऐसी रीति से उत्थापित किया हो कि वे उदात्त, तीव्र, विशद तथा भव्य संपन्न हुए हों; जो, अपनी ही किसी रीति या सरणि में, जो उसकी अपनी होने पर भी सब के लिए समान हो, जो एक ही समय में प्रत्न तथा नव हो, जो एक युग की निधि होने पर भी सब युगों की समान दाय हो, मनुष्यमात्र के साथ बोला हो। साहित्य में उन सब रचनाओं का अंतर्भाव है, जिनमें चारित्रिक सत्य तथा मनुष्य के मनोवेगों पर व्यापक, गंभीर तथा सुचारु रूप से चोट की गई हो।

कोई भी लेखक, जिसकी रचना में ऊपर बताई गई सब बातें अंतर्भूत हों, निःसंदेह अग्र श्रेणी का लेखक है; पर हमें संदेह है कि बहुत से माने हुए, चोटी के लेखकों में भी ये बातें एक साथ मिल सकेंगी या नहीं। फलतः साहित्य का उक्त लक्षण हमें आवश्यकता से अधिक संकुचित दीख पड़ता है।

अपनी मार्च ऑफ लिटरेचर नामक पुस्तक में साहित्य के लक्षण पर विचार करते समय अध्यापक फ़ॉर्ड मेडक्स लिखते हैं :—

साहित्य (पुस्तकों की) वह समष्टि है, जिसे मनुष्य आनंद की प्राप्ति के लिए, अथवा उस भावनाभरित संस्कृति के उपलाभ के लिए—जो सभ्यता के लिए सुतरां आवश्यक है—पढ़ते हैं, और पढ़ते चले

जाते हैं। साहित्य का विशेष गुण यह है कि इसकी उत्पत्ति कवि के कल्पनापूर्ण निरीक्षक हृदय से होती है। कंफ्यूशस अथवा उससे भी एक हजार बरस पहले होने वाले मिश्री लेखकों के समय से लेकर अब तक शिलाओं पर, जतु, प्राकार तथा सामान्य कागजों पर विपुल लेखराशि अंकित की जा चुकी है। इसे हम दो भागों में बाँट सकते हैं: प्रथम वह, जो पाठ्य है; दूसरी वह, जो उन कतिपय विशेषज्ञों को छोड़ कर, जिनका काम ही उन्हें पढ़ना है, दूसरों के लिए दुष्पाठ्य है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए वही साहित्य है जिसे वह पढ़ सके, और बार-बार पढ़ सके; किंतु किसी ऐसी रचना के विषय में, जो सैकड़ों और सहस्रों वर्षों से किसी एक देश अथवा अनेक देशों के नरनारियों का मनोरंजन करती आई है, किसी व्यक्ति को उसकी भव्यता तथा अभव्यता को कूतने के लिए अपनी वैयक्तिक मति से नहीं काम लेना चाहिए। भारतीय वेद और ग्रीस में होमर द्वारा रचे गए महाकाव्य किसी एक व्यक्ति के लिए रुचिकर हों या न हों, उनके द्वारा हजारों वर्षों से मानवसमाज का चित्तरंजन होता आया है, इस लिए वे निःसंदेह उत्कृष्ट साहित्य हैं। किंतु सामयिक रचनाओं की साहित्यासाहित्यिकता जाँचने में सब को अपनी वैयक्तिक रुचि से काम लेना चाहिए। यदि किसी रचना को एक व्यक्ति पढ़ता है, और प्रेम से बार-बार पढ़ता है, तो वह रचना और किसी भी व्यक्ति के लिए साहित्य न होकर उस एक व्यक्ति के लिए साहित्य बन जाती है। दूसरी ओर वह रचना, जिसको पढ़ने से उसका मन उचटता है, अन्य व्यक्तियों के लिए साहित्य होने पर भी उसके लिए नीरस तथा असाहित्यिक ठहरती है।

किंतु साहित्य के उक्त सभी लक्षणों में हमें साहित्य की व्याख्या मिलती है, उसका निर्धारित लक्षण नहीं। और क्योंकि साहित्य का नपा-तुला लक्षण असंभव सा है, इसलिए हमें इसका रूप समझने में ऐसी प्रक्रिया से काम लेना चाहिए जो हमें इस शब्द के अर्थ का यथार्थ बोध करा दे और जो अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति इन दोनों दोषों से स्वतंत्र हो। यह प्रक्रिया अनिवार्यरूप से विधेयात्मक न हो निषेधात्मक होगी और हम इसमें **साहित्य इसे कहते हैं,** यह न कह कर **साहित्य यह भी नहीं है, यह भी नहीं है,** ऐसा कह कर अग्रसर होंगे।

साहित्य के लक्षण में नेति-नेति की प्रक्रिया

निःसंदेह हम सभी मुद्रित पुस्तकों को साहित्य नहीं कहते। हम छपे हुए पंचांगों को तथा मुद्रित समाचारपत्र के लेखों को भी साहित्य नहीं कहते। क्यों? इस लिए, कि हम जानते हैं कि कल प्रातःकाल हम इन्हें ताक में रख देंगे; और **उस रचना में, जिसे हम साहित्य कहते हैं, एक प्रकार की आंगिक स्थायिता होनी आवश्यक है।** स्थिरता का यह सिद्धांत हमारी साहित्यभावना का अविभाज्य अंग है; यहाँ तक कि थोड़ी देर के लिए हम कह सकते हैं कि **साहित्य उन रचनाओं का नाम है जो स्थायी हों, जिनमें स्थिरता का आदर्श संनिहित हो।** किंतु साहित्य के इस लक्षण से हमारी तब तक तुष्टि नहीं होती, जब तक कि हम यह न जान लें कि वे कौन से तत्त्व हैं, जिनके समावेश

साहित्य का प्रथम उपकरण : स्थायिता

से साहित्य में स्थिरता आती है। इसमें संदेह नहीं कि साहित्य के इन तत्त्वों में उन सभी उपकरणों का समावेश आवश्यक है जो मनुष्य को चिरकाल से अपनी ओर खींचते आए हैं, अर्थात् जो उसके लिए बहुत अधिक उपयोगी हुए हैं। किंतु इतने से ही काम नहीं चलता। संवर्गमान के आँकड़े, देश की आर्थिक तालिकाएँ, और वकीलों की अलमारियों में सजी हुई न्यायशास्त्र की पुस्तकें साहित्य नहीं कहातीं; किंतु कौन कह सकता है कि इनका हमारे जीवन में स्थायी महत्त्व नहीं है। **नेति-नेति** की प्रक्रिया को एक पग और आगे बढ़ा हम कह सकते हैं कि बीजगणित, रेखागणित, भूगर्भविद्या, मनोविज्ञान तथा रूढिवाद और धर्मशास्त्र भी साहित्य नहीं हैं। इन सभी का मानवसमाज से मार्मिक संबंध है, तथापि ये साहित्य नहीं कहाते; इनमें साहित्य का चमत्कार और उसका रागात्मक तत्त्व नहीं मिलता। दूसरी ओर एक ललना के केश-पाश, उसकी ग्रीवा में पड़े कंठहार, उसकी कुंचित चितवन और आकाश में चमकते तारों पर कही गई सूक्तियों को हम साहित्य में संमिलित कर लेते हैं। पहली कोटि की रचनाओं में जीवन के साथ संघटित हुए ऐसे तत्त्व निहित हैं, जिनके अभाव में हमारा जीवन दूभर हो जाता है, किंतु दूसरी कोटि की सूक्तियों में जीवन के उन तत्त्वों पर चोट की गई है जो एक प्रकार से अनावश्यक होने पर भी मार्मिक सौंदर्य से भरपूर हैं। पहली कोटि के विपुल ग्रंथों को हम साहित्य में नहीं गिनते, किंतु दूसरी श्रेणी की लघुतम सूक्तियों को साहित्य में अपना लेते हैं।

साहित्य के इस सामयिक लक्षण में थोड़ा सा परिष्कार कर के हम कह सकते हैं कि साहित्य उन पुस्तकों की समष्टि को नहीं कहते, जिनमें स्थायी राग-वाले तत्त्वों का समावेश हो, अपि तु **साहित्य स्वयं वे पुस्तकें हैं, जो स्थायी राग से समुपेत हों।** साहित्य का यह लक्षण ऊपर कही गई पुस्तकों में नहीं घटता। यह सत्य है कि उन पुस्तकों में वर्णन किए गए तत्त्व मानवसमाज के लिए स्थायी राग वाले हैं, किंतु स्वयं वे पुस्तकें रागात्मक नहीं हैं। इन पुस्तकों में निदर्शित किए गए तथ्यों को हम दूसरे प्रकार से प्रकट कर सकते हैं; इनकी व्याख्या तथा क्रियात्मक उपपत्ति में हम दूसरे उपायों का आश्रय ले सकते हैं, जब कि वे पुस्तकें, जिनमें पहले-पहल इन तत्त्वों का व्याख्यान किया गया था, अब नामावशेष रह गई हैं। तथ्य जीवित हैं, किंतु उन तथ्यों को निरूपित करने वाली पुस्तकें गल चुकी हैं। उदाहरण के लिए, न्यूटन के क्रांतिकारी आकर्षणसिद्धांत को—जिसका मानवसमाज से बहुत गहरा संबंध है—जानने के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम न्यूटन द्वारा रची गई मौलिक पुस्तक का अनुशीलन करें; उसका वर्णन न्यूटन के पीछे आने वाले वैज्ञानिकों ने और भी अच्छी तरह से कर दिया है और उनकी रचनाओं को पढ़ कर हम न्यूटन के सिद्धांतों से भलीभाँति परिचित हो जाते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि न्यूटन की रचना नष्ट हो गई, किंतु उसके द्वारा आविष्कृत किए गए सिद्धांत आज भी वैसे

स्थायी रागात्मक तत्त्व वाली रचनाएँ साहित्य हैं

ही बने हुए हैं। फलतः हम ऐसी किसी भी रचना को साहित्य नहीं कहेंगे, जो आगे आने वाले वर्षों अथवा सदियों में उसी विषय पर रची जाने वाली अन्य कृतियों के क्षेत्र में आ जाने पर स्वयं चल बसती हो। साहित्य कहाने वाली रचना के लिए आवश्यक है कि जहाँ उसमें निदर्शित किए गए तत्त्व स्थायी हों, वहाँ वह स्वयं भी स्थायी हो, और सनातन रूप से जनता का चित्तरंजन करने वाली हो। अब यहाँ इस प्रश्न का उपस्थित होना स्वाभाविक है कि **वे कौन से तत्त्व हैं जिनके समावेश से किसी रचना में सच्ची स्थायिता संपन्न होती है।**

स्थायिता के लिए व्यक्तित्व का प्रतिफलन आवश्यक है

विद्वानों का कहना है कि **किसी रचना में स्थायिता तभी आती है, जब उसमें उसके रचयिता का व्यक्तित्व प्रतिफलित हो,** जब वह रचना अपने पाठ के समय पाठक के संमुख अपने रचयिता को ला खड़ा करती हो। और यह कहना किसी अंश तक है भी ठीक। सच पूछो तो कला के सभी उत्पाद्यों में इस बात का होना सुतरां आवश्यक है। किंतु क्या हम अपने इस प्रस्ताव को इन शब्दों में रख सकते हैं कि ऐसी प्रत्येक रचना, जिसमें उसके रचयिता का व्यक्तित्व प्रतिफलित हो, साहित्य कहाने की अधिकारिणी है। हमारी समझ में, नहीं ! इस बात में दो आपत्ति हैं : प्रथम, यह लक्षण अस्पष्ट है। व्यक्तित्व के प्रतिफलन का क्या आशय है ? क्या एक धर्मशास्त्र अथवा शब्दशास्त्र पर व्युत्पत्ति लिखने वाला आचार्य अपनी रचना

पर अपने व्यक्तित्व को, अपने श्रम, अध्यवसाय, अंतर्दृष्टि और विवेक को मुद्रित नहीं करता ? दूसरे, यदि हम इस बात को मान भी लें कि साहित्य की प्रत्येक रचना में उसके रचयिता का व्यक्तित्व प्रतिफलित रहता है—जब कि वैज्ञानिक पुस्तकों में ऐसा नहीं दीख पड़ता—तब यह प्रश्न होगा कि **वह कौन सी विधा अथवा प्रकार है, जिसके द्वारा एक लेखक अपने व्यक्तित्व को अपनी रचना में संपुटित कर सकता है**। वह कौन सा रहस्य है जिसके द्वारा एक कवि अपनी रचना में सदा के लिए अपने आपे को निहित कर जाता है, जब कि उसी का भाई एक वैज्ञानिक अपनी रचना को अपने आपे से अछूता रख उसमें अभीष्ट तत्त्व का प्रदर्शन करके बस कर देता है। यदि व्यक्तित्वसंनिधान के इस रहस्य को हम किसी प्रकार हृद्गत कर लें तो हमें काव्य का वह लक्षण मिल जायगा, जिसकी काव्य के अतिरिक्त और किसी भी रचना में उत्पत्ति नहीं होती।

साहित्य मनोवेगों को तरंगित करता है; विज्ञान मस्तिष्क को

और इस संबंध में जब हम उन रचनाओं की, जिनमें स्थायी महत्त्व वाले तत्त्वों का संनिधान होने पर भी उन्हें साहित्य नहीं कहा जाता, कवियों की उन कृतियों के साथ, जो अपने अंतस् में इस प्रकार के विज्ञानगर्भ तत्त्वों के न रहने पर भी मृत्यु को सदा ठुकराती रहती हैं, तुलना करते हैं, तब हमें व्यक्तित्वसंनिधान के विषय में किए गए उक्त प्रश्न का उत्तर सहज ही में मिल जाता है। और वह उत्तर यह है कि

जब कि कवि की रचना पाठक के मनोवेगों को अभिनंदित करती है, वैज्ञानिक की कृति उसके मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालती है, और यही है वह तत्त्व, जिसकी हमें साहित्य के लक्षण के लिए अब तक खोज थी। बस किसी रचना को स्थायिरूप से रागात्मक बनाने के लिए आवश्यक है कि वह पाठक के मनोवेगों को तरंगित करे; वह उसके मस्तिष्क में न घुस कर उसके अंतरात्मा को आप्लावित करे।

साहित्य को अमर बनाने वाले मनोवेग स्वयं क्षण-भंगुर होते हैं

आइए, अब विचारें कि पाठक के मनोवेगों को तरंगित करने की इस शक्ति से साहित्य के उन दो गुणों अर्थात् स्थायिता तथा व्यक्तित्व-प्रतिबिंबनशीलता का, जिनके बिना साहित्य साहित्य नहीं कहा सकता, कहाँ तक स्पष्टीकरण होता है। स्थायिता के विषय में एक बड़े अचंभे की बात यह है कि कविता या साहित्य की अन्य किसी रचना को अमर बनाने वाले मनोवेग स्वयं क्षणभंगुर होते हैं। ज्ञान और मनोवेगों में बड़ा भारी अंतर यह है कि जब कि ज्ञान में एक प्रकार की स्थायिता होती है, मनोवेग मत्स्य की भाँति निमेष मात्र मटक कर मन में विलीन हो जाते हैं। ज्योंही हम एक भौतिक तथ्य को भलीभाँति हृद्गत कर लेते हैं वह हमारे मन का अंग बन जाता है, वह हमारे अंतःकरण में, नाभि में अर के समान, धँस जाता है। हो सकता है कि हम उस तथ्य को भूल जायँ, किंतु उसका भूल जाना हमारे लिए अनिवार्य नहीं है।

इसी लिए जब हम भौतिक विज्ञान से संबंध रखने वाली किसी पुस्तक को पढ़ लेते हैं, तब हम उसे उठाकर रख देते हैं; उसके साथ होने वाला हमारा सख्य बस हो जाता है, और उसके अंतस् में निहित हुए तथ्य हमारे मानसिक फलक पर खचित हो जाते हैं। दूसरी ओर मनोवेगों का स्वभाव इस से सुतरां भिन्न है। वे सहज ही क्षणभंगुर हैं। हृदय में इनकी चिनगारियाँ सी उठतीं और क्षण भर चमक कर वहीं विलीन हो जाती हैं। मेघदूत को पढ़कर जो मधुमय भाव हमारे मन में उठते हैं वे उसके पढ़ने के दो घंटे उपरांत लुप्त हो जाते हैं। हाँ, मेघदूत की पुनरावृत्ति करने पर वे फिर उद्बुद्ध हो जाते हैं। और उनकी इस अस्थिरता तथा मधुरता के कारण ही हम उन्हें बार बार जागृत करते और इस काम के लिए मेघदूत को पढ़ते हैं। इस दशा में यदि कालिदास का मेघ-संदेश सामान्य कोटि का साहित्य हुआ तो हम उसे एक या दो बार पढ़कर बस कर देंगे, किंतु यदि उसमें विश्वजनीनता के उपकरण संनिहित हुए तो वह अनंत काल तक अगणित मनुष्यों के मनोवेगों को तरंगित करता रहेगा और उसकी गणना विश्व-जनीन रचनाओं मे होने लगेगी।

भावनाओं पर समय का प्रभाव नहीं पड़ता

ध्यान रहे मनुष्य के मनोवेगों को आंदोलित करने वाली यह शक्ति ही किसी कवि की रचना को अमर बनाया करती है। सब जानते हैं कि कला अमर वस्तु है, और इसमें संदेह नहीं कि आज कालिदास को हुए शताब्दियाँ बीत गईं और उनका नाम

पुराना पड़ गया है, किंतु उनकी रचनाएँ आज भी उतनी ही नवीन हैं, जितनी कि वे अपने रचयिता के जीवनकाल में थीं। और यह सब इसलिए कि महाकवि कालिदास मनुष्य के मनोवेगों को तरंगित करते हैं; और मनोवेग व्यक्तिरूप में प्रतिक्षण विलीन होते रहने पर भी अपनी संतति के रूप में अनंत काल तक अविच्छिन्न बने रहते हैं। संभव है कि समय की प्रगति और सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारे मानसिक वेगों, प्रेमतंतुओं तथा कल्पनासूत्रों में भी परिवर्तन आ जाय, किंतु इसमें संदेह नहीं कि हमारे मनोवेग सदा मनोवेग बने रहेंगे और हमारे सूक्ष्म शरीर में व्याप्त होने के कारण वे सदा हमारे स्थूल शरीर को अपना वशंवद बनाए रखेंगे। वस्तुतः विकास की प्रक्रिया हमारे विचारों का परिष्कार करती है, उसका हमारे मनोवेगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रामवनवास के अनंतर जंगल में अपने ज्येष्ठ भ्राता राम की चरणसेवा में निरत हुए लक्ष्मण के मन में अपने भाई भरत को दलबलसहित अपनी ओर आता देख जो क्रोधाग्नि भड़की थी वह आज भी उस परिस्थिति में पड़ने पर हम सब के मन में उसी प्रकार प्रज्वलित हो सकती है। दुष्यंत के प्रेमपाश में फँस उसकी स्नेहवीचियों से प्लावित हुई तापस शकुंतला को उसके द्वारा भरी सभा में प्रत्याख्यात होने पर जो अरुंतुद निराशा हुई थी वह आज भी उस परिस्थिति में पड़ने पर हर धर्मप्राण रमणी को हो सकती है। हजारों बरस बीत जाने पर भी लक्ष्मण और शकुंतला की

वे भावभंगियाँ हमारी आँखों में बल खा रही हैं; वे हमारी आत्मा का एक अंग बन गई हैं।

वैज्ञानिक तथा साहित्यिक दर्शन में भेद

कहना न होगा कि **मनोवेगों को तरंगित करने वाली यह रहस्यमयी शक्ति ही कवि की रचना में अपने रचयिता के व्यक्तित्व को संपुटित करती है;** क्योंकि यह बात एकमात्र भावना के क्षेत्र में ही संभव है कि एक लेखक अपने द्वारा किए गए जीवन व्याख्यान में अपने व्यक्तित्व को, अपनी ही रीति से प्रकट करता हुआ, अपनी रचना पर अपने आपे को मुद्रित कर सके। भौतिक सत्य तो—जहाँ तक उनका हमारी चर्मचक्षु से संबंध है—सब को एक ही रूप में दृष्टिगत होते हैं। सभी की दृष्टि में सदा दो और दो चार होते आए हैं और सभी वैज्ञानिकों को सदा से अशेष भौतिक पदार्थ एक ही रूप में दीखते आए हैं। विज्ञान का प्रादुर्भाव, सब को एक रूप में दीख पड़ने वाले भौतिक तथ्यों की समष्टि में हुआ है। और क्योंकि इन मूर्त तत्त्वों में किसी प्रकार का भेद नहीं है, इसलिए इनके वागात्मक व्याख्यान में भी किसी प्रकार का भौतिक भेद नहीं होता। गुलाब के प्रफुल्ल पुष्प का संघटन सभी वनस्पतिशास्त्रियों की दृष्टि में समान रूप से नन्हीं नन्हीं पटलियों तथा उनके मध्य विराजमान हुए पुष्प-पराग से होता है। उनकी आँख उस दृश्यमान मूर्त तक जाकर बस कर जाती है। अब दर्शन के जिस बिंदु पर वनस्पति शास्त्र की इतिकर्तव्यता है वहीं से कवि की अंतर्दृष्टि का व्यापार आरंभ

होता है। कवि एकांत के मधुमय मानस में खिलकर समय तथा देश की सूक्ष्म वीचियों पर अनुरागभरे स्मित की पीयूषवर्षा करने वाले उस गुलाब पर अपने हृदय के उन सब भावों को आरोपित कर देता है जो हमारी जीवननिशा को सुखमय बनाते हैं और जो हमारी मरणघड़ी को आशामय बनाते हैं। ज्योतिर्विज्ञान यह बताकर कि चंद्रमा पृथ्वी से कितनी दूरी पर है, उसका क्षेत्रफल क्या है, वह किससे प्रकाश पाता है, चुप हो जाता है। वही चंद्रमा कवि के कल्पनामय जगत् में साहित्य संसार का शृंगार, संयोगियों का सुधासार, वियोगियों का विषागार, उपमाओं का भंडार और उत्प्रेक्षाओं का आसार बन जाता है। रजनी के अनभ्र नभ में टिमटिमाते तारागण दूरदर्शी यंत्र से विपुलकाय दीख कर रह जाते हैं, अणुवीक्षण यंत्र से उनके आकार प्रकार का आभास हो जाता है और यहाँ बस। किंतु विरहविधुर कवि को उन तारों में समवेदना का समुद्र उमड़ा दीख पड़ता है। उसकी कल्पना-निशित दृष्टि उनके भौतिक गोल को कभी पुष्प के रूप में परिणत करती है, तो कभी प्रणयिनी के घर को दिखाने वाले दीपकों के रूप में बदल देती है। कभी उनमें उसे प्रेयसी के नेत्रों का आभास होता है तो दूसरे ही क्षण में वे उसे आकाश की नीली चुन्नी में सलमे बनकर दीखने लगते हैं। कवि की यह अंतर्दृष्टि ही; उसकी यह दृश्यमान जगत् पर मनचाहा रंग फेरने की शक्ति ही उसकी रचना में उसके व्यक्तित्व को कीलित कर देती है, यह विद्युन्मयी त्वरित कल्पनाशक्ति ही उसे उसकी रचना में ला बैठाती है।

दो और दो चार होते हैं" इसको सभी समान रूप से कहते हैं। उनके इस विचार और कथन पर उनका व्यक्तित्व नहीं मुद्रित होता। इसके विपरीत भावनाओं के क्षेत्र में दो व्यक्तियों का अनुभव कभी एक सा नहीं होता। ज्यों ही एक तत्त्व, विज्ञान के क्षेत्र से सरक भावना के क्षेत्र में पदार्पण करता है, त्यों ही उसके स्पर्शादि गुणों में एक वैचित्र्य आ जाता है, और इस वैचित्र्य का वर्णन करने वाले साहित्यिक को, इस काल्पनिक वैचित्र्य के निदर्शन का अवसर मिल जाने के कारण, अपने व्याख्यान पर अपने निजू व्यक्तित्व को मुद्रित करने का संयोग मिल जाता है। विज्ञान की भाँति साहित्य कभी भी तत्त्वों को उनके प्रतीयमान रूप में हमारे संमुख नहीं रखता; वह उन पर कल्पना का मुलम्मा चढ़ा कर, उनको मनोरागों से अनुरंजित करके किसी और ही, अनूठे, अट-पटे, चमत्कृत रूप में प्रस्तुत करता है; और जो साहित्यिक जितनी भव्यता, विशदता तथा व्यापकता के साथ इस वैचित्र्य को संपन्न करता है वह उतना ही अधिक और उतने ही अधिक रुचिर रूप में अपनी रचना पर अपने व्यक्तित्व को अंकित किया करता है।

मैथ्यू आर्नल्ड द्वारा किया गया कविता का लक्षण

स्मरण रहे, मनोवेगों को तरंगित करने की इस शक्ति में हमें उन और बहुत से उपकरणों की उपलब्धि होती है, जिन्हें हम किसी यथार्थ साहित्यिक रचना में पाया करते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार **जीवन की आलोचना को कविता** कहते हैं। भले ही इस लक्षण में अस्पष्टता हो, किंतु यह सत्य है कि

यथार्थ में साहित्य का लक्षण है

कविता, कवि द्वारा की गई जीवन की आलोचना है; यह कवि के मन पर अंकित होने वाले जीवन के वे सूक्ष्म प्रभाव है; जिन्हें आत्मसात् करके वह अपनी गीतमयी वाणी द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है। किंतु कविता का यह लक्षण कविता तक ही परिसीमित न हो साहित्यमात्र पर घटता है; क्योंकि कविता के समान इतर साहित्य भी जीवन की समालोचना करता है, उसे रागमय वचनों में हमारे संमुख रखता है। फलतः उक्त लक्षण में किंचित् परिष्कार करके हम कह सकते हैं कि साहित्य **जीनव के प्रकाशन अथवा उसके व्याख्यान** को कहते हैं। इस विषय में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि यह मनोवेगों को तरंगित करने वाली शक्ति ही है, जो साहित्य को जीवन की व्याख्या करने में सबल बनाती है। क्योंकि जीवन—जैसा कि यह हमारे संमुख प्रपंचित है--वस्तुतंत्र तथा तथ्यों का नहीं, हमारे विचारों और अनुशीलनों का भी नहीं, अपितु हमारे मनोवेगों का संतानमात्र है, यह उनका अविच्छिन्न प्रसारमात्र है। मनोवेग ही हमारी इच्छाओं के जन्मदाता हैं, उन्हीं से हमारे क्रियाकलाप की उत्पत्ति होती है। हमारे आचार की कसौटी हमारे मनोवेग हैं, हमारे जीवनतंतुओं की तकली हमारा मन है। इसलिए वह साहित्य, जो एक साथ लेखक के मनोवेगों को मुखरित करता और पाठक के मनोवेगों को आंदोलित करता है, ही, जीवन का सब से अधिक रहस्यमय अंकन है, उसका सब से अधिक पते का, जीताजागता लेखा है।

साहित्य और इतिहास

साहित्य के प्रस्तुत लक्षण के विषय में यह आपत्ति की जा सकती है कि यह आवश्यकता से अधिक संकुचित होने के कारण अव्याप्ति दोष से दूषित है। हम यह मान भी लें कि जिस किसी रचना में मनोवेगों को प्रणुदित करने की शक्ति हो, वह साहित्य है, क्या आप विपरीत रूप से यह कह सकते हैं कि जो भी रचना साहित्यपदभाक् है, उसमें मनोवेगों को त्वरित करने की शक्ति अनिवार्य रूप से रहनी चाहिए। सब जानते हैं कि इतिहास साहित्य के प्रधान अंगों में से एक है। किंतु इससे पाठक के मनोवेगों का प्रणुदन नहीं होता। यह तो जीवनक्षेत्र में घटी हुई घटनावलियों का लेखामात्र है; और साहित्य का उपर्युक्त लक्षण इस पर नहीं घटता। फलतः साहित्य का उक्त लक्षण वास्तव में कविता का लक्षण है, साहित्य-सामान्य का नहीं।

इस आक्षेप के उत्तर में हम यही कहेंगे कि **जो भी रचना साहित्यिक है उसमें मनोवेगों को आंदोलित करने की शक्ति का होना अनिवार्य है।** हम इतिहास को साहित्य उसी सीमा तक कहेंगे; जहाँ तक कि वह अतीत घटनाओं की आवृत्ति करता हुआ भी हमारे मन की भावनाओं को गुदगुदाता हो, हमारे मन में आनंदभरी उथलपुथल मचा देता हो। इतिहास के वे अंश, जिनका एकमात्र लक्ष्य घटनावलियों की आवृत्ति करना है, साहित्य नहीं, अपितु कोरे लेखे मात्र हैं। ऐतिहासिक कलाकार की सफलता या असफलता इस बात से परखी जाती है कि वह कहाँ तक इतिहास

के उन गुणों को, अर्थात् वर्ण्य घटनाओं की तथ्यता, उनकी पूर्णता और उसकी अपनी पक्षपातशून्यता को—जिनका किसी भी इतिहास में होना अनिवार्यरूपेण आवश्यक है—मनुष्य के उन मनोवेगों के साथ जुटा कर सज्जित करता है, जो उसके द्वारा वर्णित घटनाओं के मूलस्रोत हैं, और जो इलियड, ओडेसी, रामायण और महाभारत के काल के समान आज भी हमारी हृदयस्थलियों में तरंगित हो रहे हैं। सच्चे इतिहास में जहाँ हमें अतीत घटनाओं की सुसज्जित पंक्तियाँ लगी दीख पड़ती हैं, वहाँ हमें उन घटनाओं की प्रचंड चपेटों से प्रताडित हुए मनुष्यों और उनके रचे संसारों के खँडहर भी दीख पड़ते हैं। और जहाँ हमें रामायण को पढ़ते समय राम-रावण तथा दशरथ-कैकेयी के ऊपर घटने वाली रोमहर्षण घटनाओं का फिर से दर्शन होता है, वहाँ हमें साथ ही जराग्रस्त दशरथ के, उसकी प्राणप्रिया महिषी कैकेयी के हाथों प्राण-पखेरू खिंचते दीख पड़ते हैं। और यह जानकर कि उस समय दशरथ के भीतर उठने वाली अरुंतुद टीस और उसके रोमरोम को सालने वाली शूलशलाकाओं में हम भी कभी बिंध सकते हैं, हमारी आँखों में सावन भर जाता है और हम वाल्मीकि के साथ एकस्वर हो नियतियक्षी को धिक्कारने लगते हैं। जिस सीमा तक एक इतिहासकार अतीत घटनाओं को घटाने वाले देवदानवों के साथ हमारा तादात्म्य संबंध स्थापित करके हमें फिर से, इस शरीरपिंजर में पिहित रहने पर भी, अतीत के क्षेत्र में घुमा फिरा कर हँसा और रुला सकता है, उसी सीमा

तक उसके इतिहास को हम साहित्य के नाम से विभूषित करेंगे।

साहित्य और विज्ञान

ऊपर की गई विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार विज्ञान और साहित्य में मौलिक भेद है उसी प्रकार वैज्ञानिक तथा साहित्यिक पुस्तकों के स्वभाव में भी अंतर है। किंतु जिस प्रकार कला तथा ललित कलाओं में अंतर होने पर भी मौलिक समानता है, उसी प्रकार साहित्य में विज्ञान और विज्ञान में साहित्यांश का होना संभव तथा वांछनीय भी है। विज्ञान और साहित्य के भेद को दर्शाने के लिए हमने फूल का उदाहरण देते हुए बताया था कि एक वनस्पतिशास्त्री की चर्मचक्षु पुष्प के पटल, पराग, पौधे और उसकी शाखाप्रशाखाओं के साथ होने वाले उसके संबंध, उसके जन्म, स्थिति, भंग तथा पुनरुत्पत्ति की भौतिक प्रक्रिया के बौद्धिक विवेचन तथा विश्लेषण में ही व्याप्त होकर शांत हो जाती है, जबकि एक कवि की निर्माणमयी अंतर्दृष्टि उस प्रसून को देख उसकी सत्ता के मूल में पैठती और वहाँ से उसके जीवन के एक मात्र सार सौंदर्य को पीकर बाहर आती है। कवि के काल्पनिक चित्रपट पर खड़े हो उस प्रसून के पटल और पराग शतधा मुखरित हो उठते हैं और उसे उन सब भव्यभावनाओं का संदेश देते हैं जिनके लिये उसका हृदय प्रतिपल लालायित रहता आया है। वैज्ञानिक की बुद्धि में प्रसून के पटल और पराग निर्जीव बनकर आए थे, वही कवि के क्षेत्र में पहुँच जीवधारी बनकर फड़क जाते हैं

और उसे उनमें उसी सौरभभरे सौंदर्य की उपलब्धि होती है, जो उसे बालकों के तुतलाते ओठों पर मिलता है, जो उसे तापस बालाओं के स्मित में प्राप्त होता है और जो ध्यानपूर्वक देखने पर सरिता, सागर तथा अंबरतल में खुले हाथों बिखरा दीख पड़ता है। **विज्ञान का संबंध निर्जीव पदार्थों के निर्जीव विश्लेषण से है; साहित्य का संबंध निर्जीव पदार्थों में भी जीवन का उद्बोधन करके उनके साथ कवि और पाठक दोनों का तादात्म्य स्थापित करना है।**

संगीत तथा साहित्य

हम देख चुके हैं कि **साहित्य की मौलिक वृत्ति भावों को तरंगित करना** है। किंतु साहित्य की मूलभित्ति होने पर भी साहित्य में एक मात्र यही तत्त्व नहीं रहता। वह कला, जो एक मात्र भावनाओं के आधार पर खड़ी होती है, संगीत कला है। संगीत में श्रोता की बुद्धि पर किसी प्रकार का प्रभाव न पड़कर केवल उसका अंतःकरण प्रभावित होता है और उसके भावनातंतु त्वरा के साथ ग्रथित होने लगते हैं। इसमें संशय नहीं कि संगीत की नानाविध लहरियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की भावनाओं को उद्बुद्ध करती हुई लक्षणा द्वारा किसी सीमा तक विचारों को भी जन्म देती हैं; किंतु ये विचार, बुद्धि से उत्पन्न हुए ये तत्त्व प्रायः अनिश्चित तथा अनिर्धारित रहते हैं। किंतु एक प्रवीण संगीतज्ञ अपने नाद में लयचित्र खड़े करके अथवा अपने संगीत में कविता को मिलाकर संगीतज लक्षणाओं को यथासंभव निश्चित तथा निर्धारित रूप देकर संगीत के प्रभाव में घनता उत्पन्न कर सकता

है। परंतु यह सब होने पर भी संगीत का प्रत्यक्ष प्रभाव श्रोता की भावनाओं पर पड़ता है, उसके किसी संकलित अनुभवविशेष पर नहीं। सामान्यतः संगीत के प्रभाव में पूरी पूरी घनता और सांद्रता तब आती है, जब उसमें किसी अन्य तत्त्व का, अर्थात् वागात्मक कविता आदि का, संकलन न हो, जैसे वादित्र भवन में नादित होते हुए वाद्यों के स्वर में, अथवा श्रोता के लिए अपरिचित भाषा में गाने वाले गायक की तान में। यह सब होने पर भी मानना पड़ेगा कि संगीत का प्रत्यक्ष प्रभाव भावनाओं पर पड़ता है, विचार आदि पर नहीं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संगीत **वह नाद अथवा भाषा है, जिसमें भाव अत्यंत स्वाभाविक रीति से मुखरित होते और श्रोता की समवेदना तथा भावनाओं को उद्बुद्ध करते हैं।** वस्तुतः देखा जाय तो भावना के वे सभी स्वतः-प्रवर्तित प्रकाशन, जो उत्कट होने पर भी मनुष्य के वश से बाहर नहीं होते, संगीत के समान हैं; और इस दृष्टि से देखने पर हास्य, रोदन, आकारण, उद्घोषण तथा चमक कर किए गए वार्तालाप, इन सब में वही लय, ताल तथा कल हैं, जो संगीत में पाए जाते हैं। किंतु प्रत्यक्षरूपेण मनोवेगों को लहरित करने वाला संगीत का प्रभाव और सभी कलाओं के प्रभाव से कहीं अधिक घन तथा उत्कट होने पर भी उनके समान चिरजीवी न होकर, अल्प समय में ही बस हो जाता है; और जहाँ अन्य कलाओं का प्रभाव भावना के साथ साथ विचार पर भी पड़ता है, वहाँ संगीत का प्रभाव भावना के क्षेत्र में परिसीमित रहता है; और यही कारण है कि

संगीत का हमारे तर्कोद्वलित चारित्रिक जीवन पर वह प्रभाव नहीं पड़ता जो अन्य ललित कलाओं का पड़ता है।

साहित्य का आधार कल्पना है

हाँ, हम कह रहे थे कि एकांततः भावनाओं को प्रमुदित करने की शक्ति एकमात्र संगीत में है। रंग रूप के आधार पर खड़ी होने वाली वास्तुकला और चित्रकला में भी यह बात नहीं देखी जाती। वे अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए हमारे संमुख सौंदर्य के मूर्त प्रतीक उपस्थित करते हैं, जिन्हें हम अपनी बुद्धि से आत्मसात् करते और जिनका हमारी अनुभूति में निहित भावनाओं के साथ संबंध रहता है। प्रतिमा और चित्र में एक ऐसी बात होती है जो संगीत में नहीं मिलती। फिर साहित्य तो विशेषतः किंचित् निर्धारित हुए बौद्धिक तत्त्वों, अर्थात् विचारों द्वारा व्याप्त होता है। भावनाओं के प्रति होने वाली साहित्य की अपील अनिवार्य रूप से अप्रत्यक्ष होती है। वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला की नाईं साहित्य में भी यह अपील पाठक की बुद्धि के संमुख द्रव्यविशेष, व्यक्तिविशेष तथा घटनाविशेष प्रस्तुत कर के ही की जाती है; और वह वृत्ति जिसके द्वारा इस प्रक्रिया की निष्पत्ति होती है, **कल्पना** है। भावनाओं को तरंगित करने वाली इस वृत्ति का साहित्य में होना अत्यावश्यक है।

इसके साथ ही साहित्यसमीक्षण में हमें बुद्धि के साथ संबंध रखने वाले एक और तत्त्व पर ध्यान देना उचित

साहित्य में सत्य का होना आवश्यक है

है, जो सब प्रकार के लेखों की आधारशिला है और जिसे हम सत्य अथवा तथ्य के नाम से पुकारा करते हैं। साहित्य की कतिपय विधाओं का तो लक्ष्य ही सत्य होता है और उसी की चारु परिनिष्ठा में उनके प्राप्तव्य की इतिमत्ता होती है। उदाहरण के लिए, हम एक ऐतिहासिक पुस्तक की गरिमा को इस कसौटी पर नहीं परखते कि उसने हमारी भावनाओं को कहाँ तक उद्बुद्ध किया है, अथवा उसने हमारे कल्पनाजगत् को कहाँ तक सुषमित किया है; इतिहास के महत्त्व को हम इस मापदंड से परखते हैं कि उसमें यथार्थता, परिपूर्णता, पक्षपातशून्यता और उचितनिर्णायकता कहाँ तक संपन्न हो पाए हैं। साहित्य की इतर विधाओं के सौष्ठव को हृद्गत करने के लिए भी हम उनके आधारभूत सत्य अथवा तथ्य के मापदंड से ही काम लेंगे; और सत्य की इस चरम कसौटी के महत्त्व को पहचान लेने पर हमें कविता का उत्कर्ष भी कवि के काल्पनिक जगत् के मूल में संनिहित हुए सत्य में ही दीख पड़ेगा। क्योंकि हम जानते हैं कि बौद्धिक तत्त्व, अर्थात् विचार के उचित मात्रा में न रहने पर हमारे उत्कट मनोवेग क्रोध, मात्सर्य तथा इसी प्रकार के अन्य उग्र रूपों में परिवर्तित हो जाते और हमारे निरर्गल त्वरित मनोवेग भावुकता अथवा चिड़चिड़ेपन में बदल जाते हैं। निःसंदेह असत्य अथवा भ्रांत सत्य अस्वस्थ भावनाओं का जन्मदाता है। और हमारे जीवन के मूलभूत विचारों में जब तक किसी महान् आदर्श का उत्थान नहीं

होता तब तक हमारे अन्तःकरण में सांद्र तथा बलवती भावनाओं का विकास भी नहीं हो पाता।

अंत में किसी भी साहित्यिक रचना के सौष्ठव को परखने में हमें उसकी रचनाशैली पर भी ध्यान देना होगा।

रचनाशैली

भावना, कल्पना और विचार इन सभी का प्रकाशन भाषा द्वारा होता है। यदि साहित्य का प्रतिपाद्य विषय उसका आत्मा है तो उसका प्रतिपादक, अर्थात् भाषा उसका शरीर है। आत्मा के परिनिष्ठित तथा परिपूर्ण होने पर भी यदि उसके व्यापार का केंद्र शरीर भग्न अथवा वक्र हुआ तो उसके द्वारा आत्मा का उचित प्रकाशन असंभव है। ठीक यही बात साहित्य के विषय में कही जा सकती है। क्योंकि मनोवेगों के प्रति स्थायी अपील करने की शक्ति—जिसे हमने साहित्य का सर्वस्व माना है—जहाँ विषय की रसवत्ता पर निर्भर है, वहाँ वह, उस विषय को किस प्रकार से कहा गया है, इस पर भी बहुत कुछ अवलंबित है।

इस प्रकार किसी भी साहित्यिक रचना के सौष्ठव को परखने के लिए हमें उसकी अंगीभूत इन **चार बातों** पर ध्यान देना चाहिए—

१. **भावना अथवा रागात्मक तत्त्व,** जो हमारे लक्षण के अनुसार साहित्य का सर्वप्रथम परिच्छेदी गुण है। साहित्य की आदर्श रचनाओं का ध्येय भावनाओं को स्फुरित करना होता है तो उसकी सामान्य रचना अर्थात् इतिहास आदि में यह किसी ध्येयविशेष की उपलब्धि का एक साधन बनकर आता है।

२. **कल्पनातत्त्व**—अर्थात् मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति, जिसे कवि अपनी रचना में संपुटित करके पाठकों के हृदयचक्षु के संमुख भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है, और जिसके अभाव में भावना अथवा रागात्मक तत्त्व की परिनिष्ठा नहीं हो पाती।

३. **बुद्धितत्त्व**—अर्थात् वे विचार, जिन्हें एक लेखक या कवि अपने विषयप्रतिपादन में प्रयुक्त और अपनी कविता में अभिव्यक्त करता है और जो संगीत के अतिरिक्त और सभी कलाओं के आधारभूत हैं। साहित्य की सभी उपदेशपर अथवा प्रबोधक रचनाओं में इस तत्त्व की प्रधानता होती है; क्योंकि यह उस अंश की पूर्ति करता है जिसके उद्देश्य से इस प्रकार की पुस्तकें लिखी जाती हैं।

४ **रचनाशैली**—जो कि स्वयं एक उद्देश्य नहीं, अपितु हमारे भावों तथा विचारों को प्रकाशित करने के प्रमुख साधनों में से एक है।

ऊपर के संदर्भों में पाश्चात्य रीति से उन तत्त्वों का दिग्दर्शन कराया गया है, जिन से साहित्य की निष्पत्ति होती है। इन तत्त्वों को भलीभाँति समझ लेने पर हमारे लिए संस्कृत साहित्याचार्यों द्वारा दी गई साहित्य की परिभाषा सहजगम्य हो जाती है।

साहित्य शब्द का अर्थ

संस्कृत के **सहित** शब्द का अर्थ है **साथ** और उसमें भाववाचक प्रत्यय जोड़ देने पर **साहित्य** शब्द की सिद्धि होती है, जिसका आशय होता है, समन्वय, साहचर्य, अर्थात् दो तत्त्वों को

सहचरी सत्ता। साहित्य पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि उसकी प्रमुख वृत्ति हमारे मनोवेगों को तरंगित करना है, और मनोवेगों के तरंगित होने पर हमारा बाह्य जगत् के साथ ऐसा रागात्मक संबंध स्थापित होता है जो अपनी चरम-कोटि पर पहुँचकर उस जगत् के साथ हमारा ऐक्य स्थापित कर देता है। इस अनुभाव्य और अनुभावक के तादात्म्य को ही रस कहते हैं और इस रस वाले वाक्य को ही हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य अर्थात् साहित्य कहा है।

साहित्य का आधार तत्त्व ऐक्य

साहित्य से उद्भूत होने वाले ऐक्य को हम दूसरे प्रकार से भी व्यक्त कर सकते हैं। प्रत्येक साहित्यिक रचना में हमें दो तत्त्व दीख पड़ते हैं, एक अर्थ और दूसरा शब्द। यह भी पहले कहा जा चुका है कि साहित्यदर्शन में और सामान्य अथवा वैज्ञानिकदर्शन में मौलिक भेद है। सामान्य जन तथा वनस्पति-शास्त्री एक फुल्ल प्रसून को उसके पटल और पराग के समवाय के रूप में देखते हैं, जब कि कवि उस पटल तथा पराग को, कल्पना के द्वारा, किसी और ही रूप में, कुछ जीता-सा, कुछ मुसकराता-सा, कुछ कहता और बुलाता-सा देखता है, अर्थात् वह दृश्यमान पदार्थों को, उनके प्रतीयमान रूप में नहीं, अपितु उस प्रतीयमान के मूल में निहित सत, चित् और आनंद के रूप में देखता है। जिस प्रकार एक कवि का पुष्पदर्शन वैज्ञानिकों के पुष्पदर्शन से भिन्न प्रकार का है, इसी प्रकार उस दर्शन को निष्पन्न कराने वाले अर्थ और

शब्द भी उसके सामान्य पुरुषों के माने हुए अर्थ और शब्दों से भिन्न प्रकार के होते हैं। सामान्यजनों की दृष्टि में शब्द और अर्थ दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं । इन लोगों के मत में शब्द विनाशी वर्णों की एक शृंखला है, जो उच्चरित होते ही अपनी वर्णरूप कड़ियों के साथ नष्ट हो जाती है । दूसरी ओर वेदांतियों के मत में शब्द एक अविनाशी ध्वनि है, जिसे **स्फोट** कहा जाता है, और जो वर्णों की शृंखला के द्वारा अभिव्यक्त होती है। अपने अभिव्यंजक वर्णों के क्षर होने पर भी यह मूलरूपेण अक्षर और अविनाशी रहता है। दूसरी ओर अर्थ भी व्यक्तिरूपेण नश्वर होता हुआ भी, परिणाम, परंपरा अथवा अपने मूलभूत तत्त्व के रूप में अव्यय और अविनाशी है । दूसरे शब्दों में सामान्य जनों द्वारा प्रयुक्त हुआ "प्रसून" शब्द और उसका वह दृश्यमान अर्थ दोनों अनित्य हैं; एक सुना जाकर शून्य में विला गया और दूसरा देखा जाकर कतिपय दिनों में झड़ गया । किंतु कालिदास के द्वारा प्रयुक्त हुआ "प्रसून" शब्द और उसकी कल्पनाभरित आँखों द्वारा देखा गया प्रसून तत्त्व, अपने प्रतीकरूप के झड़ जाने पर भी, सदा एकरस बना रहता है; वह अपने स्थूल प्रतीक के रूप में न रहने पर भी सदा हराभरा रहता है और कवि को दीखा करता है। बस, अनित्य वर्णों के द्वारा नित्य स्फोट को और अनित्य प्रतीकों के द्वारा नित्य मौलिक तत्त्व को परस्पर संबद्ध करना और उन्हें उस रसमय रूप में पाठकों के संमुख रखना ही साहित्य अर्थात् साहचर्यस्थापक रचनाओं का प्रमुख लक्ष्य है।

साहित्य की इसी रहस्यमय प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ध्वन्यालोककार ने लिखा है :—

अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

अर्थात् काव्यरूपी जो अनंत जगत् है, उसमें कवि ही प्रजापति है—उस जगत् का सृष्टिकर्ता वही है। उसे जिस प्रकार का जगत् रुचता है, इस जगत् को उसी प्रकार में बदल जाना पड़ता है।

बस, जगत् का दीखने वाले प्रकार से, कवि को रुचने वाले प्रकार में बदल जाना ही साहित्य का सार है; और इसी प्रक्रिया को पिछले आचार्यों ने रस आदि के नाम से पुकारा है। इस रस तक पहुँचने के लिए अग्निपुराण, दंडी, रुद्रट, आनंदवर्धनाचार्य, मम्मट, वाग्भट, पीयूषवर्ष, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ को अनेक घाटियाँ तै करनी पड़ी हैं, जिनमें घुसना हमारे लिए न तो उचित है और न आवश्यक ही।

साहित्य और भाव

साहित्य के तत्त्व नामक प्रकरण में हम बतायँगे कि रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायी भावों से होती है। किंतु वह कौन सी प्रक्रिया है, जिससे इन चार उपकरणों द्वारा रस की निष्पत्ति होती है और इस सामग्री से रसका क्या संबंध है, इस प्रश्न का उत्तर भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद से दिया और शंकुक ने अनुमितिवाद से। दोनों के उत्तरों से असंतुष्ट

हो भट्टनायक ने अपना भुक्तिवाद चलाया। आचार्यों की तृप्ति इससे भी न हुई और अभिनवगुप्त ने पहले सब मतों का खंडन करके अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की। आगे चलकर किंचित् परिष्कार के साथ आचार्यों ने इसी मत को स्वीकार किया।

कहना न होगा कि साहित्य के मार्मिक तत्त्व अर्थात् रस के भली भाँति हृद्गत कर लेने पर, और यह जान लेने पर कि यह तत्त्व विनाशी नहीं, अपितु शाश्वत है, यह समझ लेना सहज हो जाता है कि इसे उत्पन्न न कहकर अभिव्यक्त हुआ कहना अधिक युक्तियुक्त है और अभिव्यक्त होने पर, क्योंकि यह रसरूप है, इस लिए इसकी भुक्ति अर्थात् चर्वणा भी एक स्वाभाविक बात है। इन मतों के गड़बड़-झाला में न पड़ हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि साहित्य के पाश्चात्य लक्षणों की भाँति उसके पौरस्त्य लक्षणों में भी उसके आनंदोत्पादनरूप पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, और उसे ज्ञानोत्पादन अथवा प्रचार के कार्य से दूर रखा गया है। हमारे आचार्यों के अनुसार भी साहित्य के लिए सब से अधिक आवश्यक बात यह है कि वह अपने विषय तथा रचना—शैली से पढ़ने तथा सुनने वालों के हृदय में उस अखंड आनंद का प्रवाह बहावे जो रसानुभव अथवा रसपरिपाक से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनंद या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य अथवा काव्य के पाश्चात्य तथा भारतीय

दोनों ही लक्षणों में, उसके द्वारा मनोवेगों के प्रति की जाने वाली अपील पर, जिसे हम रसनिष्पत्ति अथवा जीवन के साथ रागात्मक संबंध-स्थापना के नाम से भी पुकारा करते हैं—सब से अधिक बल दिया गया है ।

साहित्य के तत्त्व

साहित्य की परिभाषा पर विचार करते हुए हम कह चुके हैं कि साहित्य उन रचनाओं का नाम है, जो श्रोता अथवा पाठक के मनोवेगों को तरंगित करती हों। और यद्यपि जिस प्रकार प्रतिमा में उसकी सामग्री और निर्माणकला का ऐक्य होजाने के कारण दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार साहित्य में भी शब्द और अर्थ को पृथक् करना, साहित्य का स्वत्व नष्ट कर देना है, तथापि तत्त्वावबोध की सुविधा के लिए हम साहित्य को उसके भावपक्ष तथा कलापक्ष इन दो भागों में विभक्त कर उस पर विचार करेंगे।

साहित्य के भावपक्ष और कलापक्ष

कहना न होगा इन दोनों पक्षों में भावपक्ष की प्रधानता है और कलापक्ष उसके प्रकाशन अथवा उसकी आत्माभिव्यक्ति में सहायक होने के कारण किसी सीमा तक गौण है। और क्योंकि साहित्य का प्रमुख ध्येय मनुष्य के आंतरिक तथा बाह्य जगत् को कल्पनापट पर चित्रित करना है; इस लिए जिस प्रकार मनुष्य का वह जगत् अपनी बहुमुखता, बहुरूपिता तथा विविधता के कारण सहज रूप

भावपक्ष के विवरण में कठिनता

से बुद्धिगम्य नहीं है, उसी प्रकार उसके व्याख्यानरूप साहित्य के भावपक्ष का सम्यक् निदर्शन भी सुतरां दुरूह तथा कठिन है। चराचर विश्व के अगणित जंतुओं की चित्तवृत्ति का तो कहना ही क्या, स्वयं एक व्यक्ति की चित्तवृत्ति भी सदा एक-सी नहीं रहती; और उसकी चित्तवृत्तियों से प्रवाहित होने वाला क्रिया-कलाप जितना ही विविध होता है, उतना ही वह वर्णन से बाह्य होता जाता है। साहित्य के भावपक्ष को सम्यक् प्रदर्शित करने में इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयाँ हैं।

कलापक्ष भी अनादि है।

जिस प्रकार मनुष्य में अनादिकाल से भाषा द्वारा अपने अंतरात्मा को और अपने साथ संबद्ध हुए इस चराचर विश्व को प्रकाशित करने की इच्छा बलवती रहती आई है, उसी प्रकार उसमें सौंदर्यवृत्ति के निहित होने के कारण अपनी भाषा को भाँति भाँति के उपायों द्वारा चमत्कृत करने की प्रवृत्ति भी अनादिकाल से व्याप्त होती आई है। साहित्यकला का मूल भाषा को चमत्कृत करने की इसी वृत्ति में निहित है; और साहित्य-शास्त्रियों ने इस आदर्श को अनेक प्रकार से नियमबद्ध करते हुए चमत्कार के अगणित रूपों का वर्गीकरण किया है और साथ ही उनके लक्षण भी किए हैं। भाषा की गति या प्रवाह, वाक्यों की उचित उठ-बैठ, शब्दों की लाक्षणिक तथा व्यंजनामूलक शक्तियों का समुचित प्रयोग, ये बातें कलापक्ष के विकास में प्रमुख सीढ़ियाँ हैं और इन का विस्तृत विवरण ही अलंकारशास्त्रों तथा लक्षण-ग्रंथों का उपपाद्य विषय

है। प्रस्तुत प्रकरण में हम संक्षेप से साहित्य के भावपक्ष और कलापक्ष का परिपाक करने वाले तत्त्वों पर विचार करेंगे।

साहित्य के तीन तत्त्व

साहित्य का लक्षण करते हुए हमने यह भी देखा था कि प्रत्येक साहित्यिक रचना की भित्ति उसके भावपक्ष में अनिवार्यरूप से दृष्टिगोचर होने वाले तीन तत्त्व अर्थात् **भावतत्त्व** (= रागात्मक-तत्त्व), **कल्पनातत्त्व** और **बुद्धितत्त्व** पर खड़ी होती है। इनमें से एक का अभाव होने पर भी साहित्य का भाव पक्ष निर्बल पड़ जाता है और उसमें संपन्न होने वाले रस की भुक्ति चारुरूप से नहीं हो पाती। अब हम इन तीनों तत्त्वों में से पहले तत्त्व अर्थात् कल्पनातत्त्व पर विचार करेंगे।

(१) कल्पनातत्त्व

कल्पना तत्त्व

पहले कहा जा चुका है कि **साहित्य** उस रचना को कहते हैं जो **श्रोता अथवा द्रष्टा** के **मनोवेगों** को **तरंगित करे**। यहाँ इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है कि वह कौन सा उपाय है जिसके द्वारा एक साहित्यिक, श्रोता या द्रष्टा के मन में भावों अथवा मनोवेगों की तरंगें प्रवाहित करता है। किस प्रकार एक कवि, नाट्यकार, उपन्यासकार अथवा चतुर आख्यायिकालेखक हमारी भावनाओं को स्फुरित कर हमारे मुख से "वाह वाह" कहा सकता है।

निःसंदेह यह काम केवल भावनाओं के विषय में कुछ कहने सुनने से नहीं हो सकता। हर्ष, विषाद, प्रेम और क्रोध आदि

भावनाओं के विषय में कितना भी वाद्‌विवाद क्यों न किया जाय, उससे श्रोता अथवा द्रष्टा के मन में किसी प्रकार की तरंगें नहीं उत्पन्न हो सकतीं। इसमें संशय नहीं कि आत्मसंमान, स्वदेश-प्रेम तथा कीर्ति आदि पर बल देने वाली वक्तृता आदि को सुन कर श्रोता के मन में भावनाएँ जागृत हो जाती हैं, किंतु भावनाओं के इस जागरण में और साहित्य को पढ़ अथवा नाटक को देखकर उत्पन्न हुई भावनातरंगों में बहुत बड़ा भेद है।

कवि पाठक के संमुख मूर्त द्रव्य उपस्थित करके उसके मनोवेगों को तरंगित करता है।

अब यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यदि एक कलाकार भावनाओं के विषय में वार्तालाप करके अथवा स्वयं उनकी अनुभूति करके भी श्रोता अथवा द्रष्टा के मन में मनोवेगों को नहीं तरंगित कर सकता, तो फिर वह इस काम को करता ही कैसे है। इसका उत्तर होगा कि वह इस काम की निष्पत्ति श्रोता अथवा द्रष्टा को उसके मनोवेगों को तरंगित करने वाले तथ्य और घटनाएँ दिखाकर करता है। सब जानते हैं कि केवल मूर्त द्रव्य ही हमारी भावनाओं पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। जब तक हम किसी मूर्त तथ्य को अपनी आँखों से नहीं देख लेते तब तक हमारे मन में भावना की लहरें नहीं उठतीं। हमने समाचारपत्र में पढ़ा है कि जर्मन नौसैनिकों ने अंग्रेज़ों के प्रसिद्ध जंगी जहाज़ 'हुड' को डुबो दिया है। उस पर काम करने वाले सैकड़ों सैनिक भी उसी के साथ सदा के लिए समुद्र में सो गए। किंतु इस समाचार को

पढ़कर हमारे मन में भावनाओं की तरंगें नहीं उठतीं; हमारी मुखमुद्रा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। दूसरी ओर जब हम तुलसीदास के रामचरितमानस में कैकेयी द्वारा धोखे में सताए गए दशरथ को अपने हाथों वन में प्रस्थापित किए राम के वियोग में विलपता देखते हैं, तब हमारा मन उत्कट करुणा से आप्लावित हो जाता है और हम अपने आप को भूल जाते हैं। इस भेद का कारण यह है कि समाचारपत्र के संपादक ने हमें 'हुड' के विषय में केवल समाचार सुनाया है; इसे हमने सुन लिया और हम अपने काम में लग गए। उसने 'हुड' को हमारी आँखों के आगे नहीं रखा; उसने उस विशाल उद्वेलित समुद्र को भी हमारे संमुख नहीं रखा; उसने हमें उस विशालकाय जहाज़ का और उस पर सोने, बैठने, भोजन करने और नाचने वाले सैनिकों के भी दर्शन नहीं कराए; संक्षेप में उसने उस जहाज़ को हमारे सामने नहीं डुबाया। फलतः हम पर इनमें से किसी भी घटना का किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरी ओर महाकवि तुलसीदास हमें दशरथविलाप और उनके निधन का समाचार नहीं सुनाते। वे तो उन सब व्यक्तियों और उन सब घटनाओं को अपनी कल्पना की तूलिका से पुनर्जीवित करके हमारे सामने ला खड़ा करते हैं; हम अपनी आँखों के सामने इक्ष्वाकु-कुलावतंस, चक्रवर्ती राजा दशरथ को पुत्र-वियोग में ध्वस्त होता देखते हैं; हम यह सब काम उसकी प्राणप्रिया महिषी कैकेयी के हाथों संपन्न होता देखते हैं; और नियतियक्षी के इस प्रचंड

तांडव को देख हमारी आँखें सजल हो जाती हैं और हमारा मन विषाद में कथित हो उठता है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी कल्पना के द्वारा निर्जीव बिंदुओं से बनी रेखाओं के रूप में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हुए श्रीराम को परिगाद्ध करके हमें उनके दर्शन करा देता है—और हम उस अवाक् चित्र में श्रीराम की अमित गरिमा को मुखरित होता देख वाष्पगद्गद हो उठते हैं, उसी प्रकार कवि अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हुए श्रीराम को अपनी मंत्रमयी भाषा के छंदों में मूर्तिमान् करके हमारे संमुख उपस्थित कर देता है। **अतीत को वर्तमान में, अतथ्य को तथ्य में, परिचित को अपरिचित में और अमूर्त को मूर्त में परिणत कर देने में ही एक कलाकार की कलावत्ता है।** संपूर्ण ललित कलाओं की गुरुता इस उत्पादिनी शक्ति की गरिमा पर निर्भर है। इसी शक्ति को हम **कल्पना** के नाम से पुकारते हैं।

कल्पना की व्युत्पत्ति क्लृप धातु से

भारतीय वैयाकरणों ने **कल्पना** शब्द की व्युत्पत्ति रचनार्थक क्लृप धातु से करके इसके अर्थ की गभीर गरिमा की ओर संकेत किया है। हमारे दर्शनाचार्य वेदांतियों ने इस बहुरूपी नामरूपमय जगत् को मायोपेत आत्मा की कल्पना का जाल बता कर **कल्पना** की गरिमा को और भी गुरुतर बनाया है। शंकर ने इस कल्पना को भी कल्पना अथवा माया बताकर द्वैत की दुविधा को समूल दुतकारते हुए इसकी महिमा को पहले से कहीं अधिक रहस्य-

मय बना दिया है। इसी रहस्य को रस्किन के शब्दों में हम यों व्यक्त कर सकते हैं "कल्पनावृत्ति का सार सुतरां रहस्यमय तथा वर्णनातीत है; यह केवल अपने परिणाम रूप में ही जानी जाती है।"

साहित्यिक क्षेत्र में में कल्पना की उत्पत्ति

दार्शनिक क्षेत्र को छोड़ जब हम साहित्यिक क्षेत्र में आ कल्पना के विषय में विचार करते हैं, तब यहाँ भी हमें उसकी गरिमा गभीर बनकर दृष्टिगोचर होती है। हम कहते हैं कि अमुक कवि अथवा उपन्यासकार ने अमुक पात्रों की रचना की है। उसने अमुक-अमुक पुरुष तथा स्त्री-चरित्रों का निर्माण किया है। इसमें संशय नहीं कि इन पात्रों में कोई भी अंश ऐसे नहीं, जिनको कवि ने उनके पृथक् पृथक् व्यक्ति-रूप में न देखा हो; उसने इन पात्रों की भिन्न भिन्न विशेषताओं को पृथक् पृथक् रूप में बहुत बार देखा है; किंतु उसके द्वारा उद्भावित की गई इन सब तत्त्वों की समष्टि, उनका एक जगह उसकी रचना के रूप में संकलित होना, सुतरां एक नई वस्तु है। हम कह सकते हैं कि कालिदासद्वारा निदर्शित शकुंतला पहले कभी नहीं जन्मी थीं, और न उनके द्वारा उत्थापित दुष्यंत राजा ही पहले कभी जन्मे थे। इन दोनों की कालिदास ने स्वयं रचना की है। साथ ही हम यह भी कहेंगे कि एक कवि अथवा नाट्यकार अपने पात्रों को विचार, विश्लेषण तथा अनुशीलन की प्रक्रिया के द्वारा नहीं रचता; यह सरणि तो एक दार्शनिक की हुआ करती है। कवि के संमुख तो उसके पात्र स्वयं आ खड़े होते हैं। नाट्यकार अपने

पात्रों को, उन मूर्त आदर्शों को, जिन्हें उसने अपनी कल्पना के गर्भ से सजीव निकाला है, अपने संमुख स्पंदित होता देखता है। जिस प्रकार अपने वत्स को देख दुधारू धेनु रोम रोम में प्रफुल्लित हो पावस जाती है, इसी प्रकार कवि पर प्रसन्न हो उसकी प्रतिभा पावस जाती है और उसके रचे सजीव काल्पनिक जगत् के रूप में प्रवाहित हो निकलती है। हम ने अभी कहा था कि कालिदासद्वारा रचे गए दुष्यंत और शकुंतला पहले कभी नहीं जन्मे थे; इनकी रचना स्वयं कालिदास ने की है। **असत् में से सत् को उत्पन्न करने की इसी प्रक्रिया का नाम कल्पना है।**

कल्पना में असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होती है

किंतु हम जानते हैं कि **सत्** की उत्पत्ति **असत्** में से असंभव है। जिस प्रकार सत् वस्तु की असत् में परिणति असंभव है उसी प्रकार असत् से सत् का विकास भी असंभव है। किंतु इसी नियम के आधार पर हम यह भी कहेंगे कि हमारी इंद्रियों का अर्थ के साथ संनिकर्ष होने पर जिन ज्ञानतंतुओं की उत्पत्ति होती है, वे त्रिकाल में भी नष्ट नहीं होते। जिस प्रकार रथचक्र के अरे उसकी नाभि में धँसे रहते हैं, इसी प्रकार ये ज्ञानतंतु भी स्थूलरूप में नष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहते हुए आत्मरूप नाभि में कीलित हो जाते हैं। इंद्रिय और अर्थों के संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले ज्ञानतंतुओं की प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है और अनंत काल तक चलती रहेगी। इस प्रक्रिया के अनुसार हमारा आत्मा—या मन, इन अगणित ज्ञानतंतुओं का

अमित भंडार ठहरता है। अपने भीतर निहित हुए अगणित ज्ञान-तंतुओं के इस उर्वर ऊर्व को जन सामान्य नहीं देख सकते; किंतु अपेत-मल कुशाग्रबुद्धियों को इसका भान सदा होता रहता है। फलतः एक कवि का अंतरात्मा अमित ज्ञान का भंडार होता है। वह अपने भीतर पिहित ज्ञान की समष्टि से उत्पन्न होने वाली दिव्य दृष्टि से सदा उद्भासित रहा करता है। हमारी ज्ञानावभासित आत्माग्नि में से अप्रवर्तितरूपेण निकलने वाले ज्ञानस्फुलिंगों में से प्रत्येक कण व्यष्टिरूपेण एक होने पर भी, अपने स्रोतभूत आत्मा से अभिन्न होने के कारण—जो स्वयं अगणित ज्ञानस्फुलिंगों का समवायमात्र है—समष्टिरूपेण सभी ज्ञानस्फुलिंगों का सूक्ष्म रूप है। इस प्रकार अनुशीलन करने पर हमें चिद्रूप आत्मा के क्षेत्र में समष्टि में व्यष्टि के और व्यष्टि में समष्टि के अत्यंत ही रुचिर दर्शन प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही बाह्य जगत् में भी हम इसी प्रकार की प्रक्रिया को काम करता हुआ देखते हैं। विश्व का प्रत्येक कण, काल का प्रत्येक क्षण, और क्रिया का प्रत्येक स्पंदन हमें वर्णनातीत त्वरा के साथ कहीं से आता और कहीं जाता दिखाई पड़ता है। जहाँ से यह आता और जहाँ यह जाता है वह तत्त्व इसका आत्मा होने के कारण इससे भिन्न नहीं कहा जा सकता। संततिरूपेण इन तत्त्वों की समष्टि ही उस तत्त्व का आत्मा है तो व्यष्टिरूपेण यही तत्त्व इनके रूप में उच्छ्वसित तथा प्रस्फुरित हुआ करता है। फलतः जिस प्रकार हमने चेतन जगत् में समष्टि में व्यष्टि और व्यष्टि में समष्टि देखी थी उसी प्रकार बाह्य जगत् में

भी हमें समष्टि में व्यष्टि के और व्यष्टि में समष्टि के बहुत ही अभिराम दर्शन होते हैं। कहना न होगा कि जिस को हम आंतर और बाह्य इन दो नामों से पुकारते हैं वह मूलतः एक ही समष्टि है। दीखने वाला द्वैत केवल उसकी अपनी ही कल्पना है; अपने ही भीतर उठने वाली उसकी अपनी ही माया है।

जिस क्षण हम ऊपर निर्दिष्ट किए रहस्य को हृद्गत कर लेंगे उसी क्षण हमारी समझ में आ जायगा कि **कवि के कल्पनाजगत् में असत् से सत् की सृष्टि किस प्रकार होती है।** ऊपर के विवेचन में हमने देखा था कि कोई भी सत असत् में परिणत नहीं हो सकता; फलतः अतीत काल के सभी व्यक्ति और उस काल की सभी घटनाएँ त्रिकाल में एकरस बनी रहती हैं। कवि के हृत्तल पर वह ज्ञानशलाकाओं द्वारा कीलित रहा करती हैं। आंतरिक अथवा बाह्य जगत् में घटने वाला, दीखने में तुच्छ से तुच्छ घटनास्फुलिंग भी कवि के हृदय में निहित हुए उस अग्निघन को देदीप्यमान कर सकता है; उसके भीतर निहित हुए अनंत तैलसमूह को सजीव रचना की विविध प्रणालियों में प्रवाहित कर सकता है। बस, कवि की कल्पनासृष्टि का सार इसी बात में है।

कल्पना का महत्त्व

उक्त विवेचना के अनुसार हम कल्पना, आत्मा की उस शक्ति अथवा वृत्ति को कहते हैं जो, जहाँ तक कि यह काम मनुष्य के लिए साध्य है, रचना करती है; इसे हम दैवीय उत्पादनशक्ति की

प्रतिमूर्ति अथवा उसकी प्रतिध्वनि कहेंगे; उसके समान यह भी उस तथ्य को रूपवान् तथा अर्थवान् बनाती है, जिसमें पहले दोनों का अभाव था, जो पहले अरूप था और अर्थरहित था; यह उस सत्ता को साकार बनाती है जिसका पहले कोई आकार न था; यह उस तथ्य में सार भरती है जो पहले सारहीन था, रिक्त तथा तुच्छ था। यह विनाश भी करती है, किंतु इसकी विनाशमयी वृत्ति भी पुनर्निर्माण के लिए है; बिखरे हुए सद्घनों को पुनःसंकलित अथवा आदर्शरूप में परिणत करने के लिए; अथवा किसी अज्ञेय, उड़ते—फिरते, तिरमिराते तत्त्वजाल में से जीवन का स्थिर आदर्श घड़ने के लिए। बस, आदर्श के इस सजीव उत्थापन में ही साहित्य की इतिकर्तव्यता है।

इमेजिनेशन शब्द की व्युत्पत्ति और उसका रहस्य

हमने अभी कहा था कि संस्कृत में वैयाकरणों ने कल्पना शब्द की व्युत्पत्ति रचनार्थक क्लृप धातु से करके उसके रचनापक्ष को अभिव्यक्त किया है। ठीक इसी प्रकार की बात हमें अंग्रेज़ी के **इमेजिनेशन** (imagination) शब्द में संनिहित हुई दीख पड़ती है। **इमेजिनेशन** शब्द का अंग्रेज़ी के **इमेज** (image) शब्द के साथ आंगिक संबंध है, और **इमेज** का अर्थ है प्रतिमा, प्रतिमूर्ति, छाया और प्रतिबिंब। अब यदि हम **इमेज** शब्द के दोनों अर्थों—अर्थात् प्रतिमा और छाया को—एक ही तथ्य में संकलित करके **इमेजिनेशन** शब्द के अर्थ पर विचार करें तो वह पहले से कहीं अधिक भव्य तथा रहस्यमय

बन कर हमारे संमुख उपस्थित होता है। कल्पना के रचनापक्ष पर बल देते हुए हमने कहा था कि एक नाट्यकार अपने पात्रों का निर्माण करके उन्हें हमारे संमुख ला खड़ा करता है। किंतु उसके रचे पात्र—उदाहरण के लिए दशरथ और राम—आज से सहस्रों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए दशरथ और राम के समान होने पर भी, शारीरिक तथा आत्मिक दोनों दृष्टियों से शतशः उन्हीं जैसे होने पर भी, उनसे भिन्न प्रकार के, कुछ छाया जैसे, अंधकार में उद्भूत हुए कुछ आभास जैसे, सघन नीहार के मध्य में से दीख पड़ने वाले कुछ सूर्यबिंब ऐसे, कुछ छितरे छितरे घनपटों के मध्य में से आभासित होने वाले चंद्रवदन जैसे दीख पड़ते हैं। वे शतशः सजीव होने पर भी, सुतरां मानुषाकार होने पर भी, उन्हीं की भाँति सब कुछ करते हुए भी उनसे कुछ भिन्न ही प्रकार के होते हैं। वे हमारे संमुख खड़े हुए भी हम से दूर रहते हैं; हमारे लिए अत्यंत परिचित होने पर भी हम से अपरिचित से रहते हैं। वे रूपधारी होने पर भी अरूप, साकार होते हुए भी निराकार और सत् होते हुए भी असत् से होते हैं। क्योंकि यदि वे सचमुच सरूप, साकार तथा सत् हों तो रामायण पढ़ने के अनंतर, जब हम पर उसका प्रभाव नहीं रह जाता, तब भी हमारे संमुख खड़े रहने चाहिएँ, और हमें पहले की भाँति दीखते रहने चाहिएँ। **प्रतिमा और छाया के इस समवाय में, साकार और निराकार के इस संकलन में, और सत् तथा असत् के इस तादात्म्य में ही कल्पना की इतिकर्तव्यता है;** और तत्त्वज्ञान का यह वही

बिंदु है, जिस पर खड़े होकर हमारे वेदांतियों ने, कल्पना की इस रहस्यमय वृत्ति को कविजगत् तक ही परिसीमित न रख उसे जीवमात्र की परिधि में क्रियाशील बनाया है, और अंत में इस द्वैत के पसारे को एक ही आत्मतत्त्व का विविध उच्छ्वास तथा मायारूप उल्लास बताते हुए, जीव को अद्वैत का निर्वाणपथ दर्शाया है।

कल्पना और इमेजिनेशन का रहस्य

कहना न होगा कि उक्त विवेचन के अनुसार इमेजिनेशन अथवा कल्पना कवि की वह शक्तिमयी दिव्य वाणी ठहरती है, जिसके यह कहते ही कि "यह हो" कवि का रहस्यमय जगत् अभाव की कुक्षि में से सोते से उठ खड़ा होता है; कल्पना है वह अश्रव्य दैवी संगीत, जो अपनी तान और लय द्वारा गतिशील संसार में पृथक् पृथक् उड़ते हुए, उखड़े पुखड़े फिरते संगीतलयों को जोड़ कर उनकी व्यस्त अवस्था में से तानसमास उत्पन्न कर उसे मुखरित कर देता है; कल्पना है आत्मा की वह निर्माणमयी वृत्ति, जो अकिंचित् में से सब कुछ ला खड़ा करती है; यह है उसकी वह रहस्यमय शक्ति, जो उस खड़े हुए को भी अकिंचित् सा, छाया सा बनाए रखती है, उस में घनता, और मूर्तता नहीं आने देती। इसे हमने संगीत उसी दृष्टि से बताया है, जिस दृष्टि से ग्रीक तत्त्वज्ञों ने और हमारे वैयाकरण आचार्यों ने संगीत से, स्फोटब्रह्म, से जगत् की रचना बताई है। हमने इसे संगीत इसलिए भी कहा है कि जिस प्रकार संगीत का मनुष्य के मनोवेगों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है

उसी प्रकार कल्पना का भी उसकी मनोवृत्तियों के साथ प्रत्यक्ष संबंध रहा करता है; क्योंकि यह साहित्यिक पुरुष की कल्पना-शक्ति ही है, जिसके द्वारा वह श्रोता अथवा द्रष्टा को उसके मनोवेगों में तरंगित कर देता है; उसे रस के प्रवाह में प्रवाहित कर देता है। कल्पना की इस रचनामयी वृत्ति का मनुष्य के साथ इतना घना संबंध है कि यदि हम यह भी कहें तो अत्युक्ति न होगी कि मनुष्य के समस्त मोद और प्रमोद, उसके सकल आनंद तथा प्रसन्नता की कल्पना में ही पराकाष्ठा है। कल्पना के अभाव में जीवन ही नीरस है, वह रिक्त घड़ियों का तुच्छ यापन है। हम तो यह कहते हुए भी नहीं झिझकते कि कल्पना और आनंद एक ही पदार्थ के दो नाम हैं; और इस कल्पना के उचित व्यापार में ही मनुष्य के, और विशेषतः साहित्यिक निर्माता के जीवन की इतिकर्तव्यता है।

(२) बुद्धितत्त्व : जीवन का लक्ष्य

बुद्धितत्त्व

कल्पनातत्त्व के द्वारा ही साहित्यिक निर्माता अपने श्रोता अथवा द्रष्टाओं के मनोवेगों को तरंगित करता है। इस कल्पनातत्त्व पर विचार किया जा चुका। अब प्रश्न होता है कि क्या एक साहित्यिक निर्माता अपनी रचना को केवल रचना के लिए बनाता है, अथवा वह किसी निगूढ़ जीवनतत्त्व को प्रस्फुट करने के उद्देश्य से अपना निर्माण खड़ा करता है; और इस प्रश्न के साथ ही हम साहित्य के द्वितीय अंग बुद्धितत्त्व पर आते हैं।

साहित्य पर विचार करते समय अपने विवेचन का निष्कर्ष निकालते हुए हमने कहा था कि साहित्य की किसी भी रचना को चिरजीवी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी आधार-शिला तथ्यों पर, विचारों पर, अथवा स्पष्ट शब्दों में जीवन के महान् तत्त्वों पर स्थापित की जाय। साहित्य की कतिपय श्रेणियों में तो रचना का प्रमुख लक्ष्य ही सत्य का संप्रदर्शन होता है। उदाहरण के लिए, ऐतिहासिक रचनाओं का तथा आलोचनात्मक प्रबंधों का मुख्य ध्येय पाठक के मन में भावनाओं को प्रवाहित करना नहीं, अपितु पक्षपातशून्य होते हुए कथनीय तथ्यों तथा घटनाओं को, उचित रूप से, सचाई के साथ उसके संमुख रखना होता है। और यद्यपि उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं को साहित्य इस लिए कहा जाता है कि ये हमारे मनोवेगों पर रागात्मक आघात करती हैं, तथापि उनके मूल्य को आँकते समय हम उनके इस पक्ष पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि उनकी पक्षपातशून्यता, सत्यवादिता तथा स्पष्टता और संयम के साथ वर्णन करने की दक्षता पर; क्यों कि इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर एक ऐतिहासिक अपनी रचना में अग्रसर हुआ करता है।

इतिहास और बुद्धितत्त्व

किंतु साहित्य की एक श्रेणी वह भी है,—जिसका प्रमुख ध्येय श्रोता अथवा द्रष्टा के मनोवेगों को तरंगित करना है; और वास्तव में यथार्थ साहित्य है भी यही। कविता, नाटक, उपन्यास और आख्यायिका

कविता और बुद्धितत्त्व

आदि का इसी में समावेश है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस मार्मिक साहित्य का मूल भी सत्य ही पर निहित होना चाहिए; क्या यहाँ भी निर्माता की दृष्टि सत्य पर स्थिर रहनी चाहिए, और क्या इस कोटि की रचना का लक्ष्य भी किसी प्रकार के सिद्धांत का निदर्शन होना चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर हम "हाँ" में देंगे; और क्योंकि **जीवन के रागात्मक व्याख्यान का नाम ही साहित्य है, इसलिए इसमें आदर्शवादिता का होना सुतरां आवश्यक है।** किसी भी महान् साहित्यकार को लीजिए, उसकी महत्ता का मापदंड उसके द्वारा की गई जीवनव्याख्या की सारवत्ता होगा। हम उसके महत्त्व को इस बात से देखेंगे कि वह जीवन का आदर्श प्रस्तुत करने में कहाँ तक सफल हो सका है।

जीवनकी व्याख्या दार्शनिकों की अपेक्षा साहित्यिकों ने अच्छी की है।

ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि जीवन के जिन निगूढ़ तत्त्वों की व्याख्या हमें साहित्यकारों की रचनाओं में मिलती है, उनकी अन्यत्र किसी भी प्रकार की रचना में नहीं प्राप्त होती। जीवन के विषय में इतना किसी भी दार्शनिक ने हमें नहीं सिखाया जितना महर्षि वाल्मीकि, व्यास और कालिदास ने। यही काम यूरोप में होमर, हेसियड, वर्जिल, दांते, शेक्सपीअर तथा मिल्टन ने किया है। भारत के हिंदू युग का वर्णन जैसा हमें कालिदास की रचनाओं में प्राप्त होता है, वैसा संभवतः किसी भी साहित्यिक रचना में नहीं प्राप्त होता। सोलहवीं सदी के लगभग भारत की जो परिशोच्य दशा थी, उसका चित्रण जैसा हमें

तुलसीदास के मानस में मिलता है वैसा साहित्य के किसी भी ग्रंथ में नहीं। इसी प्रकार इंगलैंड के विक्टोरियन युग का जैसा रमणीय प्रदर्शन टैनीसन, ब्राउनिंग तथा मैथ्यू आर्नल्ड की रचनाओं में संपन्न हुआ है, वैसा किसी भी ऐतिहासिक की कृतियों में नहीं। इसलिए हमें किसी भी साहित्यिक रचना के विषय में—चाहे मनोवेगों को तरंगित करने की दृष्टि से उसका कितना भी महत्त्व क्यों न हो—यह पूछने का अधिकार है कि उसका मार्मिक लक्ष्य क्या है। उसके अंतस् में कौन से सत्य अथवा आदर्श निहित हैं?

कवि का सत्य नवीन नहीं होता

इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि किसी कवि, नाट्यकार अथवा उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके द्वारा उद्भावित किया गया सत्य नवीन हो। किंतु उन रचनाओं में, जिनका प्रमुख लक्ष्य ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करना है, इस बात का होना आवश्यक होता है। हम इतिहास की ऐसी पुस्तक को कदापि नहीं पढ़ेंगे, जिस में उसी घटनावलि की आवृत्ति की गई हो, जिसे हम पहले ही भलीभाँति जानते हैं। किंतु दूसरी कोटि की पुस्तकों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, हम श्रीराम के चरित को भलीभाँति जानते हैं, किंतु फिर भी तुलसीदास की रामायण को पढ़ते हैं और बार बार पढ़ते हैं। और इस बात को भलीभाँति हृद्गत करने के लिए हमें स्मरण रखना चाहिए कि सत्य (Truth) तथा तथ्य (Fact-

प्रमेय) में भेद है। मनोवेगों को तरंगित करने वाली रचनाओं में तथ्य अथवा प्रमेयों (Fact) का आधार कल्पना होती है, किंतु सत्य मानव प्रकृति के वही नियम होते हैं, जो हमारी प्रेम, स्नेह, द्वेष आदि चित्तवृत्तियों को, तथा हमारे एक दूसरे के साथ होने वाले व्यापार को प्रभावित करते हैं। अब, क्योंकि उक्त प्रकार की रचना में समन्वित हुए तथ्यों (Fact) की उत्पत्ति कल्पना से होती है, इस लिए उनका नवीन होना स्वाभाविक है। किंतु इन रचनाओं की अंतस्तली में प्रवाहित होने वाले सत्य वही होते हैं, जिन से हम भलीभाँति परिचित हैं। उदाहरण के लिए, कालिदास की किसी भी कविता अथवा नाटक को लीजिए। इनकी कथा में हमें एक प्रकार की नवीनता मिलती है। इतिहास बताता है कि रघुकुल में महाराज दिलीप का जन्म हुआ था, और वृद्धावस्था में जाकर उनको पुत्रदर्शन हुए थे। अब, उस पुत्रोत्पत्ति के निमित्त उनका वन में जाकर कामधेनु की अर्चना और परिचर्या करना कालिदास की अपनी कल्पना है; और इसी प्रकार की अनेक मनोरम कल्पनाओं में उनके महाकाव्य रघुवंश की निष्पत्ति हुई है। हमारा पौराणिक इतिहास हमें बताता है कि दुष्यंत राजा हुए थे, तापस-कन्या शकुंतला हुई थीं; और दोनों का प्रणयबंधन होकर उसमें विक्षेप हो गया था। अब, इस सामान्य चर्चा में विविध कल्पनाओं की अर्चा को देकर इसे अभिरूप रूपक का रूप देना कालिदास का अपना काम है। हम जानते हैं कि राजा दुष्यंत वन में तापस शकुंतला को

प्रणय-बंधन में बाँधकर, नगर में आ अपने ऐश्वर्य में मस्त हो उसे भूल गए थे; और बार बार उसके स्मरण कराने पर भी अपनी प्रेमलीला को स्मरण न करते थे, अथवा स्मरण होने पर भी उसका प्रत्याख्यान करते थे। अब, इस शकुंतलाविस्मरण के लिए दुर्वासा के शाप को कथा में लाना कालिदास का अपना काम है, और उसी में सारे नाटक की भव्यता संपुटित हुई पड़ी है। यही बात हमें उनके कुमारसंभव में दीख पड़ती है। किंतु यह सब होने पर भी कालिदास का अमर महत्त्व कल्पना के आधार पर निर्मित हुए तथ्यों के चमत्कार में इतना नहीं है, जितना कि इनकी रचनाओं के अंतस् में प्रवाहित होने वाले भारतीय जीवन के अमर आदर्शों के अभिराम निदर्शन में। यह बात नहीं कि अपनी रचनाओं में कालिदास ने हमें इन तत्त्वों का पाठ पढ़ाया है; यह काम तो धार्मिक आचार्यों का होता है। किंतु जिस प्रकार उनकी प्रतिभा अथवा उनकी कल्पनाशक्ति का उनकी रचनाओं के रूप प्रवाहित होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार, उनके जाने बिना ही, उनकी रचना का सत्य, शिव और सुंदर की सेवा में समर्पित होना भी नैसर्गिक है। जिस प्रकार वे कविता को नहीं रचते, अपितु वह स्वयं उनके हृदय से फूटी पड़ती है, इसी प्रकार वे जानकर उसके प्रवाह को जीवनतत्त्वों के रम्य क्षेत्रों में नहीं प्रवाहित करते; वह तो स्वभावतः उस ओर बह निकलता है। इस प्रकार हम ने देखा कि घटनावलियों के काल्पनिक होने के कारण नवीन होने पर भी, कवि की रचनाओं के आदर्श में,

अर्थात् उसके चरम लक्ष्यभूत जीवनसिद्धांतों में नवीनता नहीं होती। वे सामान्यत: वही तत्त्व होते हैं, जिन्हें हम भली-भाँति जानते हैं; जो शैशव से लेकर आज तक हमारे जीवन को चलाते आए हैं। किंतु जहाँ धार्मिक नेताओं के मुख से उनके विषय में उपदेश सुन उनके महत्त्व को हम बुद्धि द्वारा अवगत करते हैं, वहाँ कवि की रचनाओं में हम उनका रागात्मक अनुभव करते हैं, और अपनी कल्पना द्वारा उन्हें आत्मसात् करके तदनुसारी मनोवेगों में तरंगित हो जाते हैं।

(३) भाव अथवा मनोवेग

मनोवेग

साहित्य का लक्षण करते हुए हम ने कहा था कि साहित्य उस रचना को कहते हैं, जो श्रोता अथवा द्रष्टा के मनोवेगों को तरंगित करती हो। साहित्य के अंगभूत तीन तत्त्वों में से पहले कल्पनातत्त्व पर विचार करते हुए हम देख आए हैं कि इस काम को एक साहित्यिक अपनी कल्पना द्वारा श्रोता अथवा द्रष्टा के संमुख मूर्त जगत स्थापित करके संपादित करता है; और जो कवि जितना भी अधिक पाठक के मनोवेगों को तरंगित कर सकता है उतना ही अधिक उसकी रचना का महत्त्व बढ़ जाता है।

साहित्यिक मनोवेगों को निष्पन्न करने

साहित्य के आत्मभूत रस की निष्पत्ति भावों के आधार पर बताने वाले भारतीय आचार्यों ने भावों की मार्मिक विवेचना की है और उन्होंने इन भावों को कई वर्गों में विभक्त किया है। किंतु भावों के

वाले पाँच तत्त्व

स्वरूपनिरूपण और उनकी अनेक विधाओं के विवेचन में पड़ने से पहले यह अभीष्ट प्रतीत होता है कि हम पहले उन तत्त्वों पर विचार कर लें, जो इन साहित्यिक भावों में उत्कटता उत्पन्न कर उनके द्वारा उद्भूत होने वाले रस को उत्कृष्ट कोटि का संपन्न करते हैं। विंचेस्टर के अनुसार ये तत्त्व नीचे लिखे पाँच हैं—

१ मनोवेग की न्याय्यता तथा औचित्य;

२ मनोवेग की विशदता और उसकी शक्तिमत्ता;

३ मनोवेग की स्थिरता और उसका सातत्य;

४ मनोवेग की विविधता;

५ मनोवेग की वृत्ति अथवा उसका गुण।

उचित आधार पर खड़ा हुआ मनोवेग साहित्यिक है

किसी मनोवेग को न्याय्य अथवा उचित बताने से हमारा आशय यह है कि रचनाविशेष में उसे उचित आधार पर खड़ा किया गया है। उत्कृष्ट कोटि का मनोवेग भी, उचित आधार के न होने पर निर्बल पड़ जाता है! उदाहरण के लिए, किसी उत्सव के अवसर पर छोड़े जाने वाली आतिशबाजी को देखकर एक व्यक्ति के मन में उसके प्रति प्रबल प्रशंसा का भाव उत्पन्न हो सकता है। किंतु इस भाव को हम साहित्यिक दृष्टि से न्याय्य नहीं कहते; क्योंकि इसका आधार एक सामान्य तमाशा है, और उससे उत्पन्न होनेवाला मनोवेग सामान्य आधार पर खड़ा होने के कारण साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वशाली नहीं हो सकता।

इसके विपरीत, एक प्रसून को एकांत में प्रस्फुटित होता देख एक रसिक व्यक्ति के मन में उत्पन्न होने वाला प्रशंसा का भाव कवीय भाव है; क्योंकि उस प्रसून पर मुसकराते दिव्य सौंदर्य तथा उसके अंतल् में निहित आत्मिक शक्ति की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। जहाँ तमाशे की आतिशबाज़ी को देख कर उत्पन्न हुआ प्रशंसात्मक भाव क्षणिक था, वहाँ प्रसून में छिपी आत्मिक विभूति की मौनमुद्रा को देख उत्पन्न हुआ वही प्रशंसात्मक मनोवेग सजीव तथा उत्कट बन कर कविता के रूप में प्रवाहित हो पड़ता है। फलतः किसी भी साहित्यिक रचना के मूल्य को निर्धारित करने के लिए हमें पहले यह जानना होगा कि उस के द्वारा प्रस्फुटित होने वाले मनोवेग किस प्रकार के हैं। वे कहाँ तक हितकारी हैं और रचना ने उनको किसी सबल आधार पर खड़ा किया है या नहीं। क्योंकि यह हो सकता है कि कोई साहित्यिक समयविशेष के समाज की किसी विशेष प्रवृत्ति को देख कर अपनी रचना में ऐसी बातों का उल्लेख करके उन के ऐसे मनोवेगों को तरंगित कर दे, जिनका जीवन में विशेष महत्त्व नहीं है। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि बाबू देवकीनन्दन खत्री के चंद्रकांता तथा चंद्रकांतासंतति नाम के उपन्यासों ने हिंदी-गद्य के उठते युग में जासूसी की सामान्य घटनाओं को गूँथकर हिंदीजगत में विपुल ख्याति प्राप्त की थी। यही बात पंडित किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं के विषय में कही जा सकती है। किंतु इनकी वह ख्याति अधिक दिन तक न टिक सकी;

वह आँधी के समान आई थी और उसी के वेग से चली भी गई। उनकी अस्थायिता का कारण यह था कि उनकी उत्थानिका जीवन की सतह पर उतराने वाले चमकीले तथा भड़कीले चरित्रों में की गई थी, जिनका व्यवसाय था जादूगरी, डाकाज़नी, चहल-कदमी, मारधाड़ और लूटखसोट। इन रचनाओं की पहुँच जीवन के मार्मिक तत्त्वों तक न थी; इन्होंने भावुक प्रकृति के उस उदात्त रूप को न देखा था, जो हमें महान् कवियों की रचनाओं में परिपक्व हुआ दृष्टिगत होता है। इन रचनाओं को पढ़कर पाठक अपने व्यक्तिगत संबंध की संकुचित परिधि से ऊपर उठ कर लोकसामान्य भावभूमि पर नहीं पहुँच पाता। इंगलैंड में भी एक समय इस प्रकार की अटपटी रचनाओं की धूम मची थी। १८१३ और १८१८ के मध्य बायरन द्वारा लिखी गई दि कोर्सेअर, लारा, दि ब्राइड ऑफ अबीडोस, दि सीज ऑफ कोरिंथ नामक कविताएँ इसी श्रेणी की थीं। कुछ विद्वान् शैले की रचनाओं में भी उक्त दोष का उद्भावन करते हैं; हम नहीं कह सकते वे कहाँ तक सच्चे हैं; किंतु इसमें संदेह नहीं कि यूरोप के रहस्य-वादी कवियों से चलकर जिस कविता का बंगाल के रवींद्र आदि सुकवियों में रमणीय उत्थापन हुआ, वही बंगाल से आकर हमारे हिंदीक्षेत्र में आधुनिक हिंदी कवियों द्वारा अकथनीय दुर्दशा को प्राप्त हुई है। जहाँ यूरोप और बंगाल में लौकिक आलंबनों के आधार पर खड़े किए गए प्रेम की गाथाएँ सुकुमार बन पड़ी थीं, वहाँ उन दोनों के साहित्य में पारलौकिक आलंबन पर निर्भर रहने

वाले दैवीय प्रेम के भी बड़े ही अनूठे चित्रण संपन्न हुए थे। सभी देशों के कवि आदिकाल से करुणारस की व्यंजना करते हुए दुखी समाज में साहित्यिकता का संचार करते आए हैं; किंतु बात बात पर आँसू वहाने लग जाना, निर्वीर्य आलंबनों पर सच्चे प्रेम का प्रासाद खड़ा करना, क्रांति का नाम आते ही मुँह से जलते कोयले उगलने लगना जितना आज हमारे साहित्य में दीख पड़ता है, उतना संभवतः किसी भी साहित्य में विकसित न हो पाया हो। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार निर्वीर्य मनोवेगों की आधार-शिला पर खड़ा किया गया यह चालू साहित्य अपने लेखकों के जीवनकाल में ही समाप्त हो जायगा और इसके समाप्त हो जाने ही में हमारे देश और हमारे समाज का कल्याण है। इस प्रकार के "क्षणे तुष्टाः क्षणे रुष्टाः" वाली अस्थायी वृत्ति के कवि समाज के संमुख अपना झूठा रोदन रख कर उसे भी निर्वीर्य तथा रोतड़ा बना देते हैं। फलतः किसी भी रचना की साहित्यिकता को परखने के लिए हमें सब से पहले यह जानना उचित है कि उसके द्वारा उद्वेलित मनोवेगों की आधारशिला कितने गहरे तथा मार्मिक तत्त्वों पर रखी गई है।

मनोवेग: उनकी विशदता तथा सबलता

कहना न होगा कि साहित्य के द्वारा स्फुरित हुए **मनोवेगों का महत्त्व बहुत कुछ उनकी विशदता तथा शक्तिमत्ता** पर भी निर्भर है। यदि किसी साहित्यिक रचना को पढ़ कर आप का आत्मा प्रबल भावों में आंदोलित हो उठता है, यदि

उसको पढ़ कर आप समय और देश की सीमा से स्वतंत्र हो भावरूप जगत् में जा पहुँचते हैं, तो समझिए वह रचना उत्कृष्ट साहित्य है। इसके विपरीत यदि एक रचना जीवन और मरण की उदात्त समस्याओं को सुलझाते हुए भी, दशरथ-कैकेयी, और शकुंतला तथा दुष्यंत जैसे चरित्रों का चित्रण करते हुए भी, अपने अंतस् में होने वाले मनोवेगों की अस्पष्टता अथवा निर्बलता के कारण, अपनी प्रकाशनशक्ति के दोषयुक्त होने के कारण, आपके आत्मा में उत्कट भावनाएँ नहीं जागृत कर सकती तो समझिए वह रचना उत्कृष्ट कोटि का साहित्य नहीं है।

भावों की यह विशदता तथा सबलता जहाँ रागद्वेष जैसे सक्रिय भावों को रमणीय रूप से उत्कट तथा स्थायी बना देती है, वहाँ वह शांति तथा करुणा जैसे निष्क्रिय भावों में संपन्न हो उन्हें भी परिपक्व बना देती है। जहाँ महाकवि तुलसीदास ने वनगमनानंतर जंगल में भ्रातृचरणों में रत हुए लक्ष्मण के मन में, भरत को दलबल सहित आता देख कर, क्रोधरस की अत्यंत ही दारुण गरिमा दिखाई है, वहाँ उन्हों ने श्रीराम के द्वारा वन में प्रस्थापित हुई सगर्भा जानकी के मुँह से प्रवाहित हुए करुणरस को भी अत्यंत ही मार्मिक बनाकर उपस्थित किया है। और जब हम करुणा की सक्रिय तथा निष्क्रिय इन दो विधाओं पर ध्यान देते हुए, उसी महाकवि की रचना में वर्णित, राम द्वारा रावण का निधन होने पर अंतिम समय उस के मुँह से निकली जीवन की मार्मिकता का, भ्रातृवियोगाहत भरत के द्वारा स्थान स्थान पर

की गई जीवनचर्या के साथ सांमुख्य करते हैं, तब भी हम दोनों प्रकार के करुण रस में एक सी विशदता तथा शक्तिमत्ता का परिपाक हुआ पाते हैं।

मनोवेगों की सबलता कवि की सबलता पर निर्भर है

यह स्पष्ट है कि भावों की यह **विशदता तथा शक्तिमत्ता एकांततः रचनाकार के आत्मा में होने वाले मनोवेगों की घनता तथा साकारता पर निर्भर है; उसकी अपनी अनुभूति की मार्मिकता पर आश्रित है**। प्रकृति के जिन अनंत रूपों का और मनुष्य की जिन विविध मनोवृत्तियों का वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की रचनाओं में अत्यंत ही हृदयाकर्षी वर्णन हुआ है, उन्हीं का संस्कृत तथा हिंदी के अन्य कवियों में सामान्य वर्णन बन पड़ा है। इसी प्रकार यूरोप में मनुष्य के ईर्ष्या, द्वेष, मत्सरता आदि विविध भावों का जितना उत्कट और बहुमुखी वर्णन शेक्सपीअर की रचनाओं में संपन्न हुआ है, उतना संभवतः किसी ही साहित्यकार की रचनाओं में बन पड़ा हो। रचना में दीख पड़ने वाले मनोवेगों की घनता तथा निगूढता एकांततः उन रचनाओं को खड़ा करने वाले साहित्यिक के आत्मा की गंभीरता तथा वेदनशीलता पर निर्भर रहती है।

उत्कट मनोवेगों की स्थिरता

एक बात और; सच्चे **महाकवियों के मनोवेग, जहाँ समुद्र की भाँति पूर्ण, तीव्र, घन, उत्कट तथा गाढ होते हैं, वहाँ वे साथ ही पर्वत के समान स्थिर भी होते हैं**। प्रचंड और प्रखर से प्रखर भाव से

आविष्ट होने पर भी इन कवियों का आत्मा अपनी सहज स्थिरता से विचलित नहीं होता; जिसका परिणाम यह होता है कि हमें उनकी रचनाओं में, चाहे उनमें भावों की कैसी भी प्रचंड वात्या क्यों न बहती हो—एक प्रकार की संयत समता के दर्शन होते हैं। हमें तुलसीदास के मानस में सीतास्वयंवर के परम पुनीत अवसर पर परशुरामलक्ष्मणसंवाद की अत्यंत ही आवेशमयी आँधी चलती दीख पड़ती है; परशुराम और लक्ष्मण दोनों ही क्रोधांध हो मरु को राई की नाईं और भूमि को कंदुक की नाईं आकाश में फेंक देने पर तुले दीख पड़ते हैं; यह सब कुछ और इससे भी कहीं अधिक भयावह कांड होने ही को हैं कि तुलसीदास जी श्रीराम के मुख से समतामयी पीयूषवर्षा करा उस अंधड़ को एक क्षण में शांत कर देते हैं। क्रोध के उस प्रलयकारी आवेश में भी तुलसीदास जी श्रीराम की निसर्ग गंभीरता को, उनकी सहज गरिमा को नहीं भूलते और उस समय भी उनके मुँह से बराबर पुष्पवर्षा ही कराते रहते हैं; और इस प्रकार श्रीराम की गरिमा का गान करके अपनी महिमा का भी पाठक को आभास दिला देते हैं।

उत्कट मनोवेग तथा प्रकाशन-शक्तिः शेक्सपीअर ब्राउनिंग

मनोवेगों की इस विशदता तथा घनता को संपन्न करने के लिए प्रकाशनशक्ति पर भी पूरा पूरा अधिकार होना आवश्यक है। हम देखते हैं कि रहस्य के जिन भावों को, प्रकाशनशक्ति पर पूरा पूरा अधिकार होने के कारण रवींद्रनाथ ने अत्यंत ही रमणीय सरणि में व्यक्त किया है,

उन्हीं को सामान्य कवियों ने, प्रकाशन के साधनों पर उचित अधिकार न होने के कारण अधकहा छोड़ दिया है; और यही बात प्रेममार्गी सूफी कवि जायसी तथा उसी की शाखा के अन्य सामान्य कवियों के विषय में कही जा सकती है। अंग्रेजी में महाकवि ब्राउनिंग की पहुँच बहुत गहरी है; पते की बात कहने में वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए हैं; किंतु कभी कभी वे आत्मतत्त्व की इतनी गहराई पर पहुँच जाते हैं कि उसके वर्णन के लिए उनके पास शब्द नहीं रह जाते; जिसका परिणाम यह है कि उनकी रचनाएँ अनेक स्थलों पर अत्यंत ही क्लिष्ट हो गई हैं। यदि कहीं अनुपम प्रतिभा के साथ उनके पास वैसी ही पहुँची वर्णनशक्ति भी होती तो वे निःसंदेह अंग्रेजी साहित्य के शेक्सपीअर से उतर कर सब से बड़े कवि कहे जाते। कहना न होगा कि मनोवेगों की यह विशदता और घनता जितनी अधिक कविता के लिए आवश्यक है, उतनी ही गद्यसाहित्य के लिए भी। और हमें यह कहते खेद होता है कि हिंदी में गद्यसाहित्य के भलीभाँति परिपक्व न होने के कारण हमें इस विषय में संस्कृत के गद्यकाव्य कादंबरी का और अंग्रेजी में कार्लाइल के फ्रेंच रिवोल्युशन का उदाहरण देना पड़ता है। और यद्यपि संस्कृत की सर्वोत्कृष्ट गद्यरचना कादंबरी में उसके लेखक बाणभट्ट का प्रमुख लक्ष्य स्वभावविपुल संस्कृत भाषा को, वर्षा में परिपूर्ण जाह्नवी की भाँति इठलाती, इतराती, उछलती, चक्कर खाती, गरजती और लहराती हुई विविध गति वाली बनाकर दिखाना है,

तथापि उन्होंने अवसर मिलने पर उसके द्वारा पाठकों के मनोवेगों को भी प्रचुर मात्रा में तरंगित किया है। और यदि हम सौंदर्यानुभूति को भी भावों में एक मान लें. तो इस भावकी उत्थानिका जितनी कादंबरी के संध्यावर्णन को पढ़ कर होती है उतनी किसी भी रचना से नहीं। एक स्थान पर संध्यावर्णन में कवि कहते हैं "दिनांत में तपोवन की लाल लोचन वाली गाय जैसे गोष्ठ में लौट आती है उसी प्रकार तपोवन में कपिल संध्या अवतीर्ण हुई।" कपिला धेनु के साथ संध्याकालीन रक्तिमा की तुलना कर के कवि क्षण भर में हृदय के भीतर संध्या की समस्त शांति तथा धूसर छाया भर देते हैं। जैसे प्रभातवर्णन में केवल तुलना के छल से उन्मुक्तप्राय नूतन कमलपुट के सुकोमल विकाश का आभास देकर मायावी कवि ने अशेष प्रभात की सुकुमारता और सुस्निग्धता को पूर्णरूपेण व्यक्त कर दिया है वैसे ही वर्ण की उपमा के छल से तपोवन के गोष्ठ में फिरती हुई लाल लोचन वाली कपिल वर्ण गौ की बात कह कर संध्या का जो भी रहस्यमय भाव है, उसे उसने समस्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। भावना की यही विशदता तथा प्रगाढता हमें कार्लाइल के फ्रैंच रिवोल्युशन में प्राप्त होती है।

मनोवेग; उनकी स्थिरता तथा सातत्य

मनोवेगों की साहित्यिकता के लिए तीसरी बात आवश्यक है उनकी स्थिरता और उनका सातत्य। किसी साहित्यिक रचना को पढ़ते समय हम चाहते हैं कि हमारे मनोभाव समान प्रकार

से तरंगित होते रहें; यह न हो कि कभी तो हम मनोवेगों के तुंग पर पहुँच जाँय और कभी मनोवेगों की तलैटी में आ गिरें। इसका यह आशय कदापि नहीं कि एक नाट्यकार के लिए आवश्यक है कि वह किसी एक भाव को ही अपनी रचना में समान रूप से प्रोन्नत दिखाता जाय। ऐसा करना जहाँ नाट्यकार के लिए असंभव सा है वहाँ द्रष्टाओं के लिए भी या तो भयावह है अथवा उनके मन को उचाट कर देने वाला है। नाटकीय भावों में विविधता होना परमावश्यक है; किंतु नाट्यकार का यह सर्व-प्रथम कर्तव्य है कि वह द्रष्टा को उसके विविध मनोवेगों की लहरियों में से ले जाता हुआ अंत में उसी प्रधान मनोवेग में तरंगित होता छोड़ दे, जो कि उसकी रचना का प्रधान मनोवेग प्रारंभ से चलता आया है। उदाहरण के लिए, हम कालिदास के शकुंतला नाटक में एक क्षण के लिए भी अपने आपको नीरस हुआ नहीं पाते; प्रतिपंक्ति और प्रतिपर्व पर कालिदास के उदात्त नाटक की आश्चर्यमयी गरिमा खुलती चली जाती है; प्रतिपद पर हम अपने आपको जीवन की एक नवीन क्रोशशिला पर पहुँचा हुआ पाते हैं। नाट्यवस्तु के साथ हमारा अनुराग उत्तरोत्तर गाढ होता जाता है और हम एक क्षण के लिए भी अपनी आँख बंद करना नहीं गवारा कर सकते। इसके साथ ही हमें कालिदास के शकुंतला नाटक में इस बात के दर्शन भी होते हैं कि उन्होंने जिस मनोवेग को लेकर उस अति रमणीय नाटक की रचना आरंभ की थी, उसी को उसके मध्य में परिपुष्ट किया और उसी का उसके अंत में

परिपाक किया। इसी को हम भावों की एकता के नाम से पुकारते हैं। अंग्रेजी में महाकवि शेक्सपीअर के नाटकों में इस बात की अति रमणीय निष्पत्ति हुई है। रोमिओ एंड जूलिअट, जूलिअस-सीज़र, ओथेलो, हैमलैट तथा मैकवेथ इस बात के श्रेष्ठ निदर्शन हैं।

मनोवेगों की स्थिरता तथा उनका सातत्य उन्हीं महाकवियों की रचनाओं में पाया जाता है, जो निसर्गत: श्रेष्ठ कलाकार हैं, और जो प्रतिभा तथा कल्पना के अखंड भंडार हैं। जीवन की समष्टि इन महात्माओं को करतलामलकवत् होती है, अशेष भावना और मनोवेग इनके संमुख करबद्ध खड़े रहते हैं। इनकी रचना मनोवेगों का सजीव लेखा होता है; उसमें एक वाक्य भी अमूल अथवा अनपेक्षित नहीं होता। इसके विपरीत सामान्य अनुभव वाले कवि अथवा ठोक-पीट कर तैयार किए गए नाट्यकार भावनाओं के क्षेत्र में स्वयं अकिंचन होने के कारण अपने श्रोता तथा द्रष्टाओं को भी प्यासा ही रहने देते हैं। इनकी रचनाओं में मनोवेगों की स्थिरता, उनका सातत्य अथवा एकता नहीं पाए जाते।

मनोवेग और उनकी नाना-विधता

कहना न होगा कि किसी भी साहित्यिक रचना का महत्त्व बहुत कुछ उसके द्वारा तरंगित किए गए मनोवेगों की विविधता तथा बहुमुखता पर निर्भर है। विचारिए, हम में कितने ऐसे व्यक्ति हैं जिनके हृदय में विज्ञान तथा काव्य के प्रति एक सा अनुराग हो। विज्ञान तक न जाकर आप यही देखें कि हम में

से कितनों का दर्शन तथा साहित्य के साथ एक सा प्रेम है। इतनी दूर जाने की भी आवश्यकता नहीं; देखिए, हम में से कितने व्यक्तियों को महाकवि तुलसीदास और बिहारी की कविता समान रूप से भाती है। इन सब बातों का उत्तर होगा कि बहुत कम को, स्यात् किसी को। अब, यदि विज्ञान तथा साहित्य, और दर्शन तथा साहित्य की बात को एक ओर रख तुलसीदास तथा बिहारी जैसे दो कवियों के रस का समानरूप से आस्वादन करने की शक्ति भी हम में से बहुत कम व्यक्तियों में है, तो फिर उक्त प्रकार के विविध भावों तथा तथ्यों से विभूषित रचनाओं के निर्माण करने का तो कहना ही क्या!

आधुनिक युग के प्रख्यात जर्मन कवि रेनर मारिआ रिल्के के शब्दों में एक कविता को लिखने के लिए एक कवि के लिए आवश्यक है कि "उसने अनेक नगर देखे हों, अनेक व्यक्ति तथा तथ्य देखे हों, उसके लिए अनेक पशुओं का देखना आवश्यक है, उसने अनेक पक्षियों की उड़ानें देखी होनी चाहिएँ, उसने पुष्पों के वे संकेत देखे होने चाहिएँ, जो प्रातः खिलने वाली कलियों में हुआ करते हैं। उसमें अपनी विचारशक्ति के द्वारा अज्ञात प्रदेशों के राजपथों पर भूमने की शक्ति होनी चाहिए। वह अपनी स्मृति द्वारा लौट सकता हो संयोग तथा वियोगों की ओर, बचपन के अस्पष्ट काल की ओर, अपने उन माता पिताओं की ओर, जो कभी कभी हमें प्रेम में थपड़ा देते हैं, शैशव की

कविता के एक पद के लिए कितने विविध उपकरणों की आवश्यकता है

उन बहुत सी व्याधियों की ओर, जो सहसा प्रकट होकर हमारे जीवन में प्रतुल परिवर्तन उत्पन्न कर देती हैं; एकांत वंद कमरों में बिताए दिनों की ओर, समुद्र पर खिले प्रातःकाल की, समुद्र की, और महासमुद्रों की ओर, यात्रा की उन रात्रियों की ओर, जो व्यतीत हो चुकीं, और तारों के साथ बह गईं। एक कविता की रचना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं; इसके साथ ही उसके मन में स्मृतियाँ होनी चाहिएँ बहुत सी प्रेमरात्रियों की, जो एक दूसरी से न मिलती हों, प्रसवाक्रांत स्त्रियों की दर्दभरी कराहों की, प्रसवशय्या पर पड़ी उन माताओं की जो निचुड़ चुकने के कारण लघुकाय हो गई हैं, स्वप्नाक्रांत हैं, बंद कमरों में पड़ी हैं। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने जीवन में मरणासन्न व्यक्तियों के पास बैठा हो, मृत के पास बैठा हो, उस समय जब कि खिड़कियाँ खुली हों और रुक रुक कर आने वाले रहस्यमय, भयावह शब्द का ताँता बँधा हो। इन बातों की स्मृतियाँ होना ही एक कविता की रचना के लिए पर्याप्त नहीं है। कवि के लिए आवश्यक है कि जब वे स्मृतियाँ बहुत सी हो जाएँ, तो वह उन्हें भूल जाय; उसमें, उनके फिर लौट आने तक, चुपचाप उनकी प्रतीक्षा करने की धीरता होनी चाहिए; क्योंकि इन स्मृतियों में ही उसका सारा संसार निहित है; और यह तभी होता है, जब कि वे स्मृतियाँ हमारे भीतर हमारे रक्त में एक हो जाएँ, हमारी दृष्टि तथा हमारी चेष्टा में परिणत हो जाएँ, जब उनका कोई नाम और चिह्न शेष न रह वे हम में आत्मसात् हो जाएँ, तभी, केवल तभी, हमारे जीवन के किसी

सुनहरे क्षण में, कविता के प्रथम शब्द का उनमें उत्थान होता है, जो उनसे निकलकर बाह्य जगत् में विचरता पंछी बन जाता है"।

तुलसीदास
शेक्सपीअर

जब स्वयं एक महाकवि के वचनों में कविता की प्रथम पंक्ति लिखने के लिए इतने प्रचुर तथा नानाविध उपकरणों की अपेक्षा है तब एक महाकाव्य अथवा नाटक के लिखने के लिए कितने अधिक और विविध उपकरणों की आवश्यकता होगी इस बात का अनुमान करना भी कठिन है। **तथ्यों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले मनोवेगों की बहुविधता तथा अधिकता में ही साहित्यकार की इतिकर्तव्यता है।** और जब हम इस बात को लेकर हिंदी के महाकवि तुलसीदास पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें उनकी बहुमुखी गरिमा विश्वमुखी बनकर प्रत्यक्ष होती है। पौरस्त्य अथवा पाश्चात्य, विवेचना की किसी भी विधा से परखने पर उनका मानस एक श्रेष्ठ महाकाव्य तो ठहरता ही है, परशुराम-लक्ष्मण संवाद, वालि-रावण-संवाद, तथा अंगद-रावण-संवाद आदि प्रसंगों में निहित हुए नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से अनुशीलन करने पर वह उत्कृष्ट रूपककला से भी सुसज्जित हुआ दीख पड़ता है। जब हम मानस के वर्ण्य विषय की बहुविधता तथा उदात्तता पर, उसमें आने वाले चरित्रों की सजीवता और यथार्थता पर, उसमें मुखरित हुए जीवनतत्त्वों की उत्कृष्टता तथा लोकहितकारिता पर, संक्षेप में उसके सकल भाव-पक्ष तथा कलापक्ष पर, एक साथ ध्यान देते हैं, तब हम उसे सभी दृष्टियों से परिपूर्ण निष्पन्न हुआ उपलब्ध करते हैं। यही बात

अंग्रेजी में महाकवि शेक्सपीअर के विषय में कही जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि उनके द्वारा निदर्शित किए गए अनेक तथ्यों में से एक एक का निदर्शन कुछ नाट्यकारों ने उनसे अच्छा किया है; उनके द्वारा तरंगित हुए अनेक मनोवेगों में से एक एक का तरंगन कतिपय कवियों ने उनकी अपेक्षा अच्छा किया है; किंतु जीवनसमष्टि की भावसमष्टि का जितना प्रभावशाली निदर्शन इस महाकवि के द्वारा निष्पन्न हुआ है उतना अन्य किसी भी कवि के द्वारा नहीं हो पाया। उनकी रचना में हमें अपना सारा आपा—भला और बुरा, सक्रिय और निष्क्रिय, सारा, सभी प्रकार का, एक साथ मुखरित होता दीख पड़ता है; उनकी रचना में हमें सारा विश्व, हाथ उठाए, कुछ कहता सा, कुछ करता सा, फिर भी अवाक्, साथ में निश्चेष्ट, अपनी अशेष अतीतकथा को जीभ पर लिए, अपनी अनंत भविष्य कहानी को हृदय में धरे, धीर गति से अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। **यह बहुमुखता, यह विश्वजनीनता, न केवल भावपक्ष में अथवा कलापक्ष में, किंतु दोनों में एक-सी ही परिष्कृत और परिपक्व;** बस इसी में तुलसीदास और शेक्सपीअर की अनुपम महिमा छिपी हुई है। यह जितनी ही अधिक जिस साहित्यकार में होगी उतना ही अधिक उसकी रचना विश्वजनीन कहलाने की अधिकारिणी होगी।

मनोवेग और

साहित्यिक **मनोवेगों के विषय में पाँचवीं विचारणीय बात उनकी वृत्ति अथवा श्रेणी है।** इससे हमारा आशय यह कदापि नहीं कि हमारे मनो-

उनकी वृत्ति या गुणः बिहारी तथा कबीर

वेगों की दो या उससे अधिक कई श्रेणियाँ हैं; और उनमें से कतिपय श्रेणियों के मनोवेगों का साहित्य में स्वागत होना चाहिए और दूसरों का उसमें तिरस्कार किया जाना चाहिए। इस कथन से हमारा अभिप्राय यही है कि अन्य वस्तुओं के समान मनोवेगों में भी एक प्रकार का तारतम्य होता है। कुछ मनोवेग उदात्त होते हैं, तो दूसरे सामान्य वृत्ति के। कुछ का संबंध हास्य ही के साथ है; दूसरों का हमारी उन भावनाओं के साथ है, जो हमारे चारित्रिक जीवन के मार्मिक तंतु हैं। जिस प्रकार हमारी भावनाओं में उदात्तता तथा साधारणता के दो सोपान हैं उसी प्रकार उनकी आधारशिला पर खड़े होने वाले साहित्य की भी दो विधाएँ होना स्वाभाविक हैं। हम ने देखा था कि साहित्य के भावपक्ष और कलापक्ष ये दो पक्ष होते हैं। जिस प्रकार साहित्य के भावपक्ष का हमारे मनोवेगों पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार उसके कलापक्ष का भी। हो सकता है कि एक रचना में भावपक्ष का निदर्शन सुंदर संपन्न हुआ हो और उसके कलापक्ष में निर्बलता रह गई हो। इसके विपरीत कुछ रचनाओं में कलापक्ष का अधिक विकास होकर भावपक्ष में निर्बलता आ जाना भी स्वाभाविक है। साहित्य की कुछ अमर कृतियों में दोनों ही पक्षों का समान विकास होता है। अब, यहाँ इस बात के मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि कलापक्ष की पेशलता से व्याप्त होने वाले मनोवेगों की अपेक्षा भावपक्ष की प्रबलता द्वारा प्रेरित होने वाले मनोवेग उच्च श्रेणी के होते हैं। पहलों में केवल

सौंदर्य की सुषमामयी उत्थानिका है, तो दूसरों में इसके साथ साथ हमारे चरित्र पर—और यही हमारा सर्वस्व है—पड़ने वाला प्रबल हितकारी प्रभाव भी रहता है। यह तो हुई भावपक्ष और कलापक्ष से तरंगित होने वाले मनोवेगों के तारतम्य की बात। अब, इससे एक पग आगे बढ़ा भावपक्ष में आने पर भी हमें मनोवेगों का यही तारतम्य दिखाई पड़ता है। साहित्य के भावपक्ष को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं; पहला भौतिक और दूसरा आत्मिक। सब जानते हैं कि हमारे भौतिक शरीर पर हमारे आत्मा का अधिकार है, और वह जैसा चाहे इसको कर्मों में प्रवृत्त किया करता है। इसका कारण यह है कि हमारा आत्मा हमारे स्थूल शरीर की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित होने के कारण सूक्ष्म बन गया है, और सूक्ष्मता ही, ध्यान से देखने पर सारी शक्तियों का केंद्र ठहरती है। जिस प्रकार शरीर की अपेक्षा आत्मा श्रेयान् है उसी प्रकार शरीर के साथ संबंध रखने वाली भावनाओं की अपेक्षा आत्मा के साथ संबंध रखने वाली सूक्ष्म भावनाएँ अधिक बलवती हैं। इस दार्शनिक तत्त्व के हृद्गत हो जाने पर हम इस बात को सहज ही समझ जाते हैं कि ऐंद्रिय तत्त्वों को गुदगुदाने वाले साहित्य की अपेक्षा आत्मा की भावभंगियों को उद्वेलित करने वाले साहित्य का पद उन्नत क्यों है। हमारे हिंदी साहित्य में बिहारी की कविता कला-पक्ष की दृष्टि से सुतरां रमणीय संपन्न हुई हैं। चमत्कार के अशेष उपकरणों से सुसज्जित हुई उसकी मदमाती कविता-कामिनी

रीति के राजपथ पर झूमती हुई देखते ही बनती है। शारीरिक सौंदर्य के चमत्कृत वर्णन में भी बिहारी ने कमाल किया है। उनकी भ्रमरदृष्टि मधुमय स्त्रीजगत् के कोने-कोने में पहुँची है, और वह जहाँ भी पहुँची है, वहीं उसने अपनी प्रतिभा की विजय-वैजयंती गाड़ दी है। उन्होंने शारीरिक प्रेम की ओस से एक-एक बूँद ले अपनी सतसई को भरा है। उनकी एक-एक बूँद में शृंगार की कूक है, अनंग का राग है और ऐंद्रिय प्रेम की वारुणी है। इस विषय में बिहारी अंग्रेजी के कीट्स कवि को कहीं पीछे छोड़ गए हैं। किंतु जब हम उनकी शारीरिक कविता का कबीर, तुलसी अथवा सूरदास की आत्मिक स्नेह में आमूलचूल पगी कविता के साथ सांमुख्य करते हैं, तब इसे उनकी कविता से कहीं निम्न श्रेणी की पाते हैं। जहाँ बिहारी की कविता को पढ़ हमारे शरीर में गुदगुदी दौड़ जाती है, हमारा भूतजात स्त्रीरूप भूतजात की चमत्कृत अग्नि में ध्वस्त हुआ चाहता है, वहाँ कबीर और तुलसीदास की रचनाओं को पढ़ हम भौतिक जगत् के क्षेत्र से पार हो आत्मा के नंदनवन में सरक जाते हैं और हमारा आत्मा दैवीय प्रेम की पीयूषवर्षा से आप्लावित हो जाता है। शारीरिक मनोवेगों को तरंगित करने वाली रचनाओं में हमारी सत्ता बहिर्मुख हो शतधा विकीर्ण होती है तो चरित्र पर प्रभाव डालने वाली रचनाओं में वह उचित मात्रा में बहिर्मुख होती हुई प्रधानतः अंतर्मुख ही रहा करती है। पहली श्रेणी की रचनाओं के निर्माता साहित्यिक जन इस तथ्य को नहीं जानते

कि गुलाब का फूल हमारे लिए जिस कारण सुंदर है, समग्र संसार के अंतस् उस कारण ही की मुख्यता है । "संसार में जितनी अधिक अधिकता है उतना ही कठिन संयम भी है। उस केंद्र की बहिर्गामिनी शक्ति अनंत विचित्रताओं के द्वारा अपने को चारों ओर सहस्रधा करती है और उसकी केंद्रानुगामिनी शक्ति इस उद्दाम विचित्रता के उल्लास को पूर्ण सामंजस्य के साथ भीतर मिलाकर रखती है। यही जो एक ओर विकास और दूसरी ओर निरोध है, इसी के अंतस् सुंदरता है । संसार के अंदर इसी छोड़ देने और खींच लेने की नित्य लीलाओं में आदित्यवर्ण भगवान् अपने को सर्वत्र प्रकाशित कर रहे हैं। संसार की आनंदलीला को जब हम पूर्णरूप में देखते हैं, तब हमको ज्ञात होता है कि अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु सब ही उठ कर और गिरकर विश्वसंगीत के नीरवछंद की रचना कर रहे हैं । यदि हम समष्टिरूपेण देखें तो इस छंद का कहीं भी विच्छेद नहीं है; कहीं भी सौंदर्य की न्यूनता नहीं है । संसार के भीतर सौंदर्य को इस प्रकार समग्र रूप से देखना और सीखना ही सौंदर्य-बोध का अंतिम लक्ष्य है।" जहाँ भौतिक सौंदर्य के पुजारी बिहारी में इस सौंदर्यबोध का अभाव है, वहाँ कबीर और तुलसी की रचनाओं में यह बड़े ही भव्य रूप में निष्पन्न हो हमारे संमुख आया है।

कुछ विद्वान् "**कला की सत्ता कला के लिए**" मानते हुए साहित्य की संगीत के साथ तुलना करते हैं । उनका कथन

संगीत के समान कला की सत्ता कला के लिए है इसका खंडन

है कि जिस प्रकार संगीत का प्रभाव एकमात्र हमारे मनोवेगों पर पड़कर हमारे मन में आनंद को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार साहित्य का चरम लक्ष्य भी एकमात्र आनंद प्रसूति होता है। उसका चरित्र के साथ कोई संबंध नहीं है। इनकी दृष्टि में साहित्य का कर्तव्य है आंतरिक तथा वाह्य जगत् में पाए जाने वाले भले बुरे, ग्राह्य और अग्राह्य सभी का समानरूप से केवल रसनिष्पत्ति के उद्देश्य से चित्रण करना। वे अपने पक्ष की पुष्टि में चित्र-कला का भी ऐसा ही ध्येय बताते हैं। किंतु साहित्य के चरम लक्ष्य का यह सिद्धांत जहाँ समाज के लिये भयावह है, वहाँ यह तत्त्वदृष्टि से देखने पर एकदेशी भी ठहरता है। हम जानते हैं कि हमारे संपूर्ण क्रियाकलाप तथा हमारी अशेष चित्तवृत्तियों का प्रमुख लक्ष्य हमारे जीवन को सुखी तथा उन्नत बनाना है। हम यह भी मानते हैं कि विशुद्ध संगीत का लक्ष्य आनंदोत्पत्ति है; किंतु विशुद्ध संगीत में और कविता में थोड़ा भेद है। जहाँ संगीत में तान और लय का एकछत्र राज्य है, वहाँ कविता में विचारों को व्यक्त करने वाली भाषा भी विद्यमान रहती है। अब, यह सभी को प्रत्यक्ष होना चाहिए कि जहाँ विशुद्ध संगीत से एक-मात्र सुख की उत्पत्ति होती है, वहाँ कविता के रूप में संकलित भाषा और संगीत से—यदि उस भाषा में उदात्त विचार हुए तो—आत्मिक प्रसाद भी मिलता है और चरित्र की पुष्टि भी होती है; और ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होगा कि **जीवन और चरित्र**

दोनों एक वस्तु के दो नाम हैं। इतिहास में जब कभी कविता के रूप में संगीत और भाषा का यह समागम संपन्न हुआ है तभी तब उससे लोकहित की अत्यंत स्वच्छ धारा वही है। इस संबंध में कबीर, मीरा और सूरदास के नाम पर्याप्त होने चाहिएँ।

विचार के इस बिंदु से एक पग आगे बढ़ कर जब हम वास्तु-कला, चित्रकला और मूर्तिकला पर ध्यान देते हैं, तब इनके क्षेत्र में भी हमें कला की सत्ता कला के लिए वाला सिद्धांत सर्वांशेन सत्य नहीं उतरता दीख पड़ता। एक सुंदर चित्र तथा रमणीय मूर्ति को देख कर हमारे मन में सौंदर्यभावना तो उत्पन्न होती है; किंतु साथ ही, उसकी उत्पत्ति के अनंतर, हमारे भावुक हृदय पर उनका एक चारित्रिक प्रभाव भी अनिवार्यरूप से पड़ा करता है। और जब हम एक मनुष्य द्वारा रचित चित्र अथवा मूर्ति के रूप में मनुष्य की इतिकर्तव्यता को निभाल, विश्वात्मा के द्वारा रची अनंत विश्व की विपुल मूर्ति पर और उसी के द्वारा नीलाभ नैश अंबर पट पर खचित किए गए अगणित नक्षत्रों पर ध्यान देते हैं, तब हमारे हृदयपटल पर जो इस दिव्य चित्रकला तथा मूर्तिकला का चारित्रिक प्रभाव पड़ता है वह सचमुच वर्णनातीत है। इस प्रकार जब हम जीवन के उत्तुँग हिमाचल पर खड़े हो, उसके विभिन्न रूपों को व्यक्त करने वाली विविध कलाओं पर दृष्टिपात करते हैं, तब हमें इन सभी की सत्ता उसको परिपूर्ण तथा परिपक्व बनाने के लिए संपन्न हुई दृष्टिगत

होती है। इस विषय में सुप्रसिद्ध अंग्रेज समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड के निम्नलिखित वचन ध्यान देने योग्य हैं —

"याद रखो जीवन के चरम व्याख्यान का नाम ही यथार्थ कविता है। कवि का महत्त्व तथ्य विचारों को सुंदरता तथा प्रभावशालिता के साथ जीवन में, "किस प्रकार जिऊँ" इस प्रश्न में समन्वित करने में है। बहुधा आचार पर संकुचित तथा विसंवादी दृष्टि से विचार किया जाता है। उसे ऐसे मंतव्यों और विश्वास-सूत्रों के साथ टाँक दिया गया है, जिनके दिन बीत चुके हैं। आज आचार डींग मारने वाले धर्मध्वजियों के हाथ में पड़ गया है। वह हम में से बहुतों को खलने लगा है। हम कभी कभी ऐसी कविता की ओर भी खिंच जाते हैं जो आचार का विरोध करती है; जिसका आदर्श उमर खय्याम के इन शब्दों में है कि "आओ! जो समय मसजिद में गँवाया है उसकी कमी शराबखाने में पूरी कर लें।" कभी कभी हमें ऐसी कविता सुहाने लगती है, जो आचार की उपेक्षा करती हो, कविता जिसमें सार हो या न हो, परंतु जिसकी भाषा सुंदर हो और अलंकार खरे हों। दोनों दशाओं में हम अपने आपको भ्रांति में डालते हैं। भ्रमोच्छेद का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि हम "जीवन" के विपुल तथा अविनाशी शब्द पर अपने मन को एकाग्र करें। वह कविता जो आचार का विरोध करती है एक प्रकार से "जीवन" का प्रत्याख्यान करती है, और वह कविता जो आचार को उपेक्षादृष्टि से देखती है, स्वयं "जीवन" की उपेक्षा करती है।"

जीवन के दो पक्ष श्रेय और हेय

यहाँ कला की सत्ता कला के लिए बताने वाले यह कहेंगे कि जीवन के श्रेय और हेय ये दो पक्ष हैं; एक के बिना दूसरे की सत्ता असंभव है। इस लिए यदि साहित्य में श्रेय का चित्रण होना आवश्यक है तो उसमें हेय का चित्रण भी अवश्यंभावी है। जहाँ महाकवि वाल्मीकि ने श्रीराम-लक्ष्मण, भरत और सीता के मनोहारी चरित्रों का वर्णन किया है, वहाँ उन्होंने साथ ही रावण, और उसके बंधुबांधवों का भी वर्णन किया है। जहाँ हमें श्रीव्यास के महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर तथा विदुर जैसे परम पावन राजर्षियों के दर्शन होते हैं, वहाँ उसमें हमें दुर्योधन जैसे हठी, दूसरों के स्वत्व पर जोर जमाने वाले आततायियों के चरित्र भी मिलते हैं। जहाँ शेक्सपीअर ने अपने अमर नाटकों में जीवन की भव्य भावनाओं को सुसज्जित करके मानवसमाज के संमुख रखा है, वहाँ उन्होंने इयागो तथा लेडी मैकबेथ जैसे दारुण व्यक्तियों के भी चित्र खींचे हैं। फलतः कला की सत्ता केवल कला के लिए बताने वाले आचार्यों के मन में जहाँ रसोत्पत्ति के लिए रस की भुक्ति श्रेय पक्ष के निदर्शन से होती है वहाँ वह, उतनी ही हेय पक्ष के विवेचन से भी संपन्न होती है। फलतः एक कलाकार का लक्ष्य अपनी रचनाओं में केवल रसोद्बोधन होना चाहिए; चरित्र संबंधी बातों से उसका कोई संबंध नहीं।

इसके उत्तर में हम केवल इतना ही कहेंगे कि जीवन के श्रेय और हेय इन दोनों पक्षों में से केवल श्रेय ही की अपनी

स्वतंत्र सत्ता है; क्योंकि चरमावस्था में पहुँच कर हेय या तो विगलित हो जाता है, अथवा वह विकास की अनवरत प्रक्रिया में से गुजरता हुआ श्रेय ही में परिणत हो जाता है। विश्व के महाकवि अपनी रचनाओं में दोनों ही का चित्रण करते हैं; किंतु लक्ष्य उनका सदा हेय की इयत्ता तथा दुरवस्था दिखा कर श्रेय की अनंतता और उसी की चरम विजय दिखाना होता है। जहाँ भारत के मंगलमय आदर्श का अनुसरण करते हुए रामायण और महाभारत में रावण तथा दुर्योधन के हेय चरित्रों की दुरवस्था दिखाकर प्रत्यक्ष रूप से श्रीराम और युधिष्ठिर के सदामंगल चरित्रों की उपादेयता संप्रदर्शित की गई है, वहाँ यूरोप के संकुचित-रूपेण यथार्थवादी आदर्श को ध्यान में रख कर रचे गए शेक्सपीअर के नाटकों में कहीं तो स्पष्टरूप से हेय चरित्रों का विध्वंस दिखा कर श्रेय की गरिमा अभिव्यक्त की गई है, और कहीं केवल हेय चरित्रों का अंतिम पतन दिखाकर श्रेय चरित्रों की ओर अग्रसर होने का संकेत किया गया है। इयागो की लक्ष्यविहीन दुष्कर्म-कारिता को देख हमारे मन में त्रिकाल में भी उस जैसा बनने की इच्छा नहीं उत्पन्न होती; इसके विपरीत हमारे मन में उसके समुच्छ्रय में पतनांतता देख उससे दूर हटने की इच्छा उत्तरोत्तर बलवती होती जाती है और अंत में हमारा आत्मा उसके प्रति विद्रोह में उठ खड़ा होता है। और इस प्रकार महाकवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास तथा शेक्सपीअर की साहित्यिक

श्रेय नित्य है; हेय का ध्वंस हो जाता है

रचनाएँ, कला के लिए होने पर भी, अंत में जीवन को मंगलमय बनाने वाली सिद्ध होती हैं; और जो ध्येय तथा दृष्टिकोण साहित्य के विषय में इन महाकवियों का रहा है, वही अन्य सभी साहित्यिक निर्माताओं का होना अभीष्ट है।

भाव और रसनिरूपण

भाव और रस निरूपण

भावना अथवा मनोवेगों में साहित्यिकता संपन्न करने वाले तत्त्वों का निरूपण हो चुका; अब हमें भावों और उनकी विधाओं के निरूपण की ओर अग्रसर होना है। इस विषय में हमें दार्शनिकों द्वारा बताई गई भाव की इंद्रियजनित, प्रज्ञात्मक तथा रागात्मक आदि विधाओं में न पड़ कर उसकी उन विधाओं पर विचार करना है, जिनका साहित्याचार्यों ने रसनिरूपण के प्रसंग में वर्णन किया है।

नवरस : उनके स्थायी भाव

साहित्य पर विचार करते हुए हमने संकेत किया था कि भारतीय आचार्यों ने उसका लक्षण "रसवत् वाक्य" किया है। इस रस को—जो कि इनकी दृष्टि में काव्य अथवा साहित्य का आत्मा है—इन्होंने श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, और शांत इन भागों में विभक्त किया है। इन रसों की उत्पत्ति क्रमशः रति अथवा प्रेम, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा अथवा घृणा, विस्मय अथवा आश्चर्य तथा निर्वेद से होती है। क्योंकि श्रृंगार रस की उत्पत्ति में रति अथवा प्रेम की

भावना अनवरत बनी रहती है, इस लिए उसे शृंगार रस का स्थायी भाव कहा जाता है। इसी प्रकार हास्य रस में हास की, करुण रस में शोक की, रौद्र रस में क्रोध की, वीर रस में उत्साह की, भयानक रस में भय की, बीभत्स रस में जुगुप्सा अथवा घृणा की, अद्भुत रस में विस्मय अथवा आश्चर्य की और शांत रस में निर्वेद की भावना श्रोता अथवा द्रष्टा के मन में अनवरत बनी रहती है; इसलिये इन सब को क्रमशः उन उन रसों का स्थायी भाव माना जाता है।

इन स्थायी भावों में सजातीय अथवा विजातीय भावों के आने पर भी विच्छेद नहीं होता। विजातीय भावों के आगमन से उनका टूटना तो दूर रहा, उलटा ये उन्हें अपने में मिला लेते हैं। उनकी विजातीयता, प्रातीप्य की भावना को उपस्थित करके, उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक पुष्ट बना देती है। सजातीय भावों के आने पर स्थायी भाव के अविच्छिन्न बने रहने का उदाहरण बृहत्कथा में मदनमंजूषा के प्रति नरवाहनदत्त का प्रेम है। उसके अनंतर अन्य नायिकाओं के साथ भी नरवाहनदत्त का प्रेम हुआ, किंतु उससे उसके मदनमंजूषा पर होने वाले प्रेम में बाधा न हुई। विजातीय भाव के आने पर भी विच्छेद न होने का उदाहरण मालतीमाधव के पाँचवें अंक में मिलता है। वहाँ, माधव यद्यपि श्मशान का बीभत्स दृश्य देखता है, जिससे उसके मन में घृणा उत्पन्न होती है, तथापि इससे उसके हृदय में मालती के प्रति जो रतिभाव है, उसमें न्यूनता नहीं आती।

काव्य के आत्मा, नवविध रस की उत्पत्ति उसके नव-विध स्थायी भावों से होती है। किंतु रस की इस निष्पत्ति में कतिपय अन्य भावनाओं का हाथ भी है। इन भावनाओं को आचार्यों ने विभाव, अनुभाव तथा संचारी (व्यभिचारी) भावों में विभक्त किया है।

विभाव : आलंबन उद्दीपन

कहना न होगा कि श्रृंगार रस की निष्पत्ति कराने वाले रतिरूप स्थायी भाव के आधार दो हैं; पहला वह जिसके हृदय में रतिभाव उत्पन्न हुआ, और दूसरा वह जिसके प्रति रतिभाव उत्पन्न हुआ। पहले को **आश्रय** कहते हैं और दूसरे को **आलंबन**। इसके अनुसार शकुंतला नाटक में रतिरूप स्थायी भाव के **आश्रय** हैं दुष्यंत और **आलंबन** है शकुंतला। साथ ही दुष्यंत के हृदय में शकुंतला के प्रति रतिरूप भाव को जगाने में दो बातें साधन हैं; पहली शकुंतला की अपनी सुंदरता और उसकी अपनी वेषभूषा आदि; दूसरा आश्रम का कुसुमित तथा एकांत उद्यान और वहाँ का मादक प्रकृतिसौंदर्य। रतिभाव को अंकुरित करने वाले इन दोनों साधनों को **उद्दीपन** कहते हैं; और **आलंबन** तथा उभयविध **उद्दीपन** को **विभाव** नाम से पुकारते हैं। जिस प्रकार नवविध रसों में से प्रत्येक का एक स्थायी भाव है उसी प्रकार नवविध स्थायी भावों में से प्रत्येक का **विभाव** होता है। फलतः श्रृंगाररस के स्थायी भाव रति का आलंबन विभाव नायक अथवा नायिका; और उद्दीपन विभाव नायक अथवा नायिका

की वेशभूषा, और उस भाव को उद्दीप्त करने वाले बाह्य प्राकृतिक दृश्य हैं। इसी प्रकार क्रमशः हास्य रस के स्थायी भाव हास का आलंबन विभाव विकृत आकृतिवाला पुरुष और उद्दीपन विभाव आलंबन की अनोखी आकृति आदि; करुणरस के स्थायी भाव शोक का आलंबन विभाव विनष्ट प्रियतम और उद्दीपन उनका दाहकर्म तथा उनसे संबंध रखने वाले पदार्थ आदि; रौद्ररस के स्थायी भाव क्रोध का आलंबन विभाव शत्रु, विपक्षी आदि, तथा उद्दीपन विभाव उनके द्वारा किए गए अपराध आदि; वीर रस के स्थायी-भाव उत्साह का आलंबन विभाव शत्रु, और उद्दीपन विभाव उस की चेष्टाएँ; भयानक रस के स्थायी भाव भय का आलंबन विभाव कोई भयानक वस्तु, और उद्दीपन विभाव भयंकर दृश्य आदि; बीभत्स रस के स्थायी भाव घृणा का आलंबन विभाव घृणास्पद व्यक्ति, और उद्दीपन विभाव उनकी घृणास्पद चेष्टाएँ आदि; अद्-भुत रस के स्थायी भाव आश्चर्य का आलंबन विभाव अलौकिक वस्तु आदि, और उद्दीपन विभाव इनका देखना या वर्णन सुनना आदि; और अंतमें शांतरस के स्थायी भाव निर्वेद का आलंबन विभाव परमार्थ, और उद्दीपन विभाव तपोवन आदि ठहरते हैं।

अनुभाव

यह स्पष्ट है कि आंतरिक भावों का बाह्य आकृति आदि पर प्रभाव पड़ता है। रति भाव के उदय होने से चेहरे की कांति बढ़ जाती है और क्रोध के आवेश में ओठ काँपने लगते हैं, आँखें लाल और भृकुटि बाँकी हो जाती है। इसी प्रकार अन्य भावों में भी बाह्य लक्षण

प्रकट हो जाते हैं। भारतीय आचार्यों ने इन्हीं लक्षणों को अनुभाव अर्थात् भाव के पीछे होनेवाला कहा है। भाव कारण और अनुभाव कार्य हैं। यद्यपि भावों के विशुद्ध लक्षण पर ध्यान देते हुए हम उनसे उत्पन्न हुई चेष्टा आदि को भाव के नाम से नहीं पुकार सकते, तथापि, क्योंकि इन चेष्टाओं की उत्पत्ति नियमित रूप से भावों की अनुगामिनी होती है, इसलिए साहित्याचार्यों ने उन्हें भावों के विमर्श में संमिलित कर लिया है।

अनुभावों के भेद

भाव और विभावों के समान अनुभाव भी विविध प्रकार के हैं। जिस प्रकार शृंगाररस के स्थायी भाव रति का अनुभाव आश्रय की अनुरागपूर्ण दृष्टि, उसका भृकुटिभंग, कटाक्ष, अश्रु और वैवर्ण्य आदि हैं, उसी प्रकार क्रमशः स्थायी भाव हास के अनुभाव आश्रय की मुसकराहट और उसके नेत्रों का मिच जाना आदि; शोक के अनुभाव दैवनिंदा, भाग्यनिंदा, रोना, उच्छ्वास, प्रलाप आदि; क्रोध के अनुभाव नेत्रों की रक्तिमा, भृकुटिवंचन, दंतचर्वण, शस्त्रोत्थापन आदि; उत्साह के अनुभाव बाहुस्फुरण, शस्त्रोत्थापन, आत्मश्लाघा, आक्रमण आदि; भय के अनुभाव कंप, स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, स्वरभंग आदि; घृणा के अनुभाव नाक सिकोड़ना, थूकना, मुँह फेर लेना आदि; आश्चर्य के अनुभाव दांतों तले अंगुली दबाना, रोमहर्षण, स्वरभंग आदि; और निर्वेद के अनुभाव रोमांच, अश्रुविसर्जन आदि हैं।

हमारे आचार्यों ने भावों को, उनकी गहराई की न्यूनाधिक

मात्रा के अनुसार दो भागों में विभक्त किया है। पहले **स्थायी** भाव—जिन का ऊपर वर्णन हो चुका है—हमारे हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। दूसरे वे भाव भी हैं, जो भाव के समुद्र में छोटी तरंगों की भाँति उठकर थोड़े ही समय में विलीन हो जाते हैं। इन्हें **संचारी** अथवा **व्यभिचारी भाव** कहते हैं। इनका काम स्थायी भाव को पुष्ट करनामात्र है। किसी कविता को पढ़ते समय अथवा किसी नाटक को देखते समय एक स्थायी भाव की उत्पत्ति होकर जब तक वह हमारे मन में रहेगा, तब तक उसी की प्रधानता रहेगी; अन्य भाव—चाहे वे उसके सजातीय हों अथवा विजातीय—उसके पोषक होकर आते हैं; उसमें बाधा डालने के लिए नहीं। उनका अपने स्थायी भाव को परिपुष्ट कर उसमें लीन हो जाना ही इतिकर्तव्य है। जिस प्रकार खारे समुद्र में गिरकर मीठी नदियाँ खारी बन जाती हैं, इसी प्रकार स्थायी भाव में मिल कर छोटे छोटे संचारी भाव भी तदाकार बन जाते हैं। स्थायी भाव ही रस के लिए मूल आधार प्रस्तुत करते हैं; **संचारी भाव** तो स्थायी भाव को पुष्ट करने के उद्देश्य से किंचित् समय तक संचरण कर फिर उसी में मिल जाते हैं।

स्थायीभाव और व्यभिचारी भाव

उदाहरण के लिए; जब हम किसी व्यक्ति को अपने प्रति अपशब्द कहते अथवा अन्य किसी प्रकार से अपना अपघात करता देखते हैं, तब हमारे मन में क्रोधाग्नि भड़क उठती है। क्रोध का यह भाव स्थायी है, जो अनुकूल समय पाकर जागृत हो गया है। किंतु

यदि वह व्यक्ति इससे पहले भी हमारा निरादर कर चुका है तो उसका स्मरण आते ही हमारा क्रोध द्विगुणित हो जाता है। यह स्मरण ही **संचारी** या **व्यभिचारी** भाव है। यह हमारे क्रोध को बढ़ाकर स्वयं लीन हो जाता है।

ये **संचारी भाव** तैंतीस हैं जैसे निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिंता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, मति, अलसता, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता।

उपर्युक्त तैंतीस संचारी या व्यभिचारी भावों से यह नहीं समझना चाहिए कि संचारी भाव केवल तैंतीस ही हो सकते हैं। तैंतीस तो उपलक्षणमात्र है। इनके सहारे, इन्हीं से मिलती जुलती और भी मानसिक क्रियाएँ हो सकती हैं, और यदि वे भी स्थायी भाव का परिपोष करती हों, तो उन्हें भी संचारी भाव कहा जा सकता है।

भाव और रसनिष्पत्ति

स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का वर्णन हो चुका। काव्य के आत्मा **रस** की निष्पत्ति इन्हीं से होती है। इन सब में स्थायी भाव प्रधान है और शेष सब स्थायी भाव को **रस** की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। भावों की उक्त विवेचना साहित्यिक रसास्वादन की अपेक्षा मनोविज्ञान की विश्लेषण से अधिक संबंध रखती है; और हमें इस क्षेत्र में भी अपने आचार्यों की वही, हर

बात को अति तक पहुँचा देने वाली प्रवृत्ति काम करती दृष्टिगत होती है, जो सदा से स्थूल तत्त्वों की अपेक्षा अमूर्त वस्तुओं में अपना वैभव दिखाती आई है और जिसे बाल की खाल निकालने की कुछ आदत सी पड़ गई है। भावों के विवेचन में संचारी भावों का समावेश तो युक्तिसंगत हो सकता है, किंतु विभाव और अनु-भावों को भी—जिनमें बहुत से शारीरिक चेष्टामात्र हैं—भावों की श्रेणी में एक जगह बैठाना भावशब्द के अर्थ को आवश्यकता से अधिक व्यापक बना देना है। यहाँ तक हमने साहित्य के भावपक्ष पर विचार किया है। अब हमें साहित्य के उस पक्ष पर विचार करना है, जिस के द्वारा हम साहित्य के भावपक्ष को प्रकाशित करते हैं; इसी को साहित्यशास्त्री कलापक्ष के नाम से पुकारते हैं।

साहित्य का कलापक्ष

यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक साहित्यिक रचना को सौंदर्य-विभूषित करने के लिए उसके भावपक्ष का रमणीय तथा रागात्मक होना आवश्यक है, उसी प्रकार उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसके कलापक्ष का भी रुचिर तथा भावात्मक होना अनिवार्य है। किंतु कलापक्ष पर विस्तृत विवेचन करने से पहले उसके विषय में कतिपय सामान्य बातें जान लेना आवश्यक है।

कलापक्ष की उत्थानिका

मेरे मन में एक विचार आया है, मैं लाक्षणिक संकेत द्वारा ऐसा ही भाव आपके मन में उत्पन्न करता हूँ, अथवा यों कहिए कि मैं अपने विचार को आपके मन

तक पहुँचाता हूँ। भाषा का यही काम है; यह लिखी जा सकती है और केवल कथित रूप में भी रह सकती है। किंतु दोनों ही परिस्थितियों में यह केवल भाषामात्र है; इसे हम साहित्य नहीं कह सकते। अब मान लीजिए, मेरे मन में एक मनोवेग आया, जो या तो एक रागान्वित विचार है, अथवा एक ऐसी भावना है, जिस में एक विचारविशेष की अस्पष्ट पुट है; मैं इसे लिखित संकेतों द्वारा आपके मन तक पहुँचाता हूँ; इस भाषा का नाम साहित्य है। अब, यदि इसमें मेरा प्रमुख लक्ष्य विचार हैं, अर्थात अपनी रचना द्वारा मैं आप तक अपने विचार पहुँचाना चाहता हूँ, और मनोवेगों का काम केवल उन विचारों को रोचक अथवा रागमय बनानामात्र है, तो मेरी रचना साहित्य की वह कोटि होगी, जिसे हम इतिहास अथवा आलोचना कहते हैं। इसके विपरीत यदि उसमें मनोवेगों की प्रधानता हुई और उसको सुन या देखकर आपके मन में उठने वाले विचार, भावनाओं से उत्पन्न होने वाले हुए, तो वह रचना कविता अथवा आख्यान आदि कहाएगी।

अब, प्रश्न यह है कि मैं आपतक अपने विचार कैसे पहुँचाता हूँ। अपने प्रतिदिन के व्यवहार में हम अपने मनोवेगों को स्फुरित करने वाली वस्तुविशेष को दूसरे व्यक्ति के हाथ में सौंप कर उसके मन में अपने जैसी भावनाएँ उत्पन्न कर सकते हैं। मान लीजिए, एक कमलपुष्प के सौंदर्य को निहार हमारा मन सौंदर्य-भावनाओं से भर गया है; हम अपने मित्र के मन में भी उसी प्रकार के मनोवेग उत्पन्न करने के लिए उस पुष्प ही को उसके

हाथ में रख देते हैं। किंतु कलाओं में इस प्रकार भावाभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। यहाँ हमें अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए अप्रत्यक्ष उपायों को व्यवहार में लाना होता है। भाव-प्रकाशन के इन सभी उपायों का साहित्य के कलापक्ष में अंतर्भाव है।

हम देख चुके हैं कि मनोवेगों की उत्पत्ति उनके विषय में बातचीत करने, वादविवाद चलाने अथवा उनकी विश्लेषणा से नहीं होती। इसके लिए हमें उन उन मनोवेगों को गुदगुदाने वाले मूर्त द्रव्यों को उपस्थित करना होता है; और यह काम हमारी कल्पनाशक्ति पर आश्रित है। किंतु इस कल्पनातत्त्व के समान रूप से विद्यमान रहने पर भी मनोवेगों को स्फुरित करने के अन्य अगणित साधन हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए एक कवि आप के मन में कमल के सौंदर्य की भावना उत्पन्न करना चाहता है। वह इस काम को आपके संमुख कमल का ऐसा सजीव वर्णन करके कर सकता है, जिसमें उस पुष्प के ऐंद्रिय तत्त्व, अर्थात् रूप, विन्यास, आकार तथा सुगंध का चित्रण हो; वह इस के लिए आपके संमुख ऐसे विचार तथा मनोवेग भी प्रस्तुत कर सकता है, जो उस पुष्प को देख कर स्वभावतः एक युवक के मन में उठते हैं, जैसे यौवन का रंग, आशा की चमक, सौंदर्य का अभिमान; और वह चाहे तो आपके संमुख कमल को देख अपने मन में उत्पन्न हुए निर्वेद भाव को रख सकता है, जिसकी उत्पत्ति कमल की, अथवा दूसरे शब्दों में, सौंदर्यमात्र की अनित्यता से होती है। कमल के

विषय में आपके मन में रागात्मक भाव उत्पन्न करने के लिए इन तीनों उपायों में से वह कवि कौन सा उपाय काम में लाता है, यह बात नितरां उसकी अपनी मानसिक वृत्ति पर निर्भर है। और इसका दूसरे शब्दों में यह निष्कर्ष निकलता है कि **साहित्य का कलापक्ष ठीक वैसा ही होता है, जैसा कि साहित्य के रचयिता की अपनी मनोवृत्ति।**

मनोवेग और प्रतिरूपमयी भाषा

एक बात और; हमने अभी कहा था कि मनोवेगों की उत्पत्ति उनके विषय में बातचीत करने, वादविवाद चलाने अथवा उनकी विश्लेषणा करने से नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि मनोवेगों को स्फुरित करने वाली भाषा व्यवहार की सामान्य भाषा से भिन्न प्रकार की होती है। जिस प्रकार मनोवेगों के तरंगित होते ही हमारा आत्मा बाह्य संसार से पराङ्मुख हो आत्मप्रवण हो जाता है, उसी प्रकार मनोवेगों को व्यक्त करने वाली भाषा भी स्वयमेव बाह्य विस्तार से उपरत हो अपने घनरूप में संकुचित हो जाती है। जिस प्रकार हम अपनी केंद्रप्रतिगामिनी शक्ति के द्वारा इंद्रियों में से होकर कमलादि बाह्य पदार्थों तक जाते और अपनी केंद्रानुगामिनी शक्ति के द्वारा वहाँ से लौट फिर अपने अंतस् में आकर वहाँ कमलादि पदार्थों को रचते, देखते, उन पर रोते और हँसते हैं, उसी प्रकार अपने भावों को व्यक्त करने के साधनरूप भाषा के क्षेत्र में भी हम अपनी इन दोनों शक्तियों के द्वारा भाषा के दैनिक प्रयोगों के बाह्य क्षेत्र में जाते और फिर आत्मा के अंतर्मुख होने

पर भाषा के भावनिबद्ध संकुचित, किंतु पहले से कहीं अधिक उत्कट, आंतरिक क्षेत्र में लौट आते हैं। इस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि हमारे दैनिक व्यवहार की भाषा की अपेक्षा हमारी साहित्यिक भाषा कहीं अधिक संगीतमय और इसीलिए सुसंबद्ध तथा सुनियंत्रित होती है। इसमें व्यावहारिक भाषा की भाँति अनावश्यक शब्द नहीं पाए जाते; कलाकार की दृष्टि अनावश्यक, अथवा जिन शब्दों को तज कर काम चल सकता है, उन पर न पड़ केवल साहित्यिक अथवा मनोवेगों के आत्मभूत शब्दों पर ही पड़ती है, और वह उन्हीं शब्दों को अपनी रचना में स्थान देता है। शब्दजाल से बचने की उसकी यह प्रवृत्ति, जिसे हम साहित्यिक संक्षेप भी कह सकते हैं, इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह कभी कभी—और महाकवि तो सदा ही, बहुत अधिक—एक वर्ण्य विषय के साथ संबंध रखने वाले अनेक तत्त्वों तथा भावों को मुखरित करने के लिए कोई एक ऐसा शब्द छाँट निकालते हैं जो दीपक की भांति अकेला ही उन सब भावों को टिमटिमा देता है। उदाहरण के लिए, मृत्यु को और उसके साथ संबंध रखने वाले संज्ञा भाव तथा पुनर्जन्म आदि के अगणित भावों को एक कवि "मृत्यु" न कह उसे "निद्रा" इस नाम से पुकार कर अभिव्यक्त कर देता है। जिस कवि में थोड़े शब्दों से बहुत अधिक अर्थ को प्रकाशित करने की यह शक्ति जितनी ही अधिक है वह उतना ही चतुर कलाकार माना जाता है।

कवीय भाषा का आत्मिक रहस्य

जहाँ हमारे आत्मा की केंद्रानुगामिनी शक्ति हमारे आत्मा में और उसके साथ हमारे आत्मप्रकाशन, अर्थात् हमारी भाषा में संकोच अथवा नियंत्रण उत्पन्न करती है, वहाँ वह ज्ञानेंद्रियों द्वारा बाहर जा, वहाँ फैल कर पतले पड़े हुए आत्मतत्त्व को अंतर्मुख करके उसे घन तथा सांद्र भी बनाती है; और साथ ही उसकी प्रकाशनसामग्री भाषा को भी, जो दैनिक व्यवहार में आ, फैलकर पतली सी, निर्जीव सी हो जाती है—अंतर्मुख करके घन तथा मूर्त बना देती है। जो भाषा प्रति दिन के सामान्य व्यवहार में "नाम" अथवा "शब्द" के रूप में तरल थी, एक अस्पष्ट शब्दरूप थी, वही अब साहित्य के रागक्षेत्र में आ, आत्माभिमुख हो मूर्त बन जाती है; अर्थात् अब कमल के सौंदर्य का वर्णन प्रतिदिन की सामान्य भाषा में न हो उसकी अभिव्यक्ति ऐसे शब्दों द्वारा की जाती है, जो कमल तत्त्व के प्रतिरूप हैं, उसकी प्रतिकृति हैं; और जिस प्रकार कमल को देख भावुक द्रष्टा के मन में अगणित भावनाओं की लड़ी चल पड़ती है, उसी प्रकार कवि द्वारा प्रयुक्त उसके वाचक घनीभूत एक शब्द को पढ़कर पाठक के मन में वाच्यार्थ के साथ साथ लाक्षणिक तथा व्यंग्य अर्थों की शृंखला बँध जाती है; और इस प्रकार कवि का एक शब्द ही सामान्य पुरुषों द्वारा प्रयुक्त हुए सहस्रों शब्दों से अधिक अर्थों का द्योतक बन जाता है। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि जिस प्रकार एक कलाकार भाव के क्षेत्र में, अनवरत रूप से होने वाले अगणित परिवर्तनों के समष्टिरूप

इस संसार में से, परिवर्तन के किसी एक बिंदु को ले उसी में जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार वह कलापक्ष में आ, अगणित शब्दों की समष्टि में से ऐसे शब्द ढूँढ़ निकालता है, जो अपने आदर्श्य के साथ तदाकार होने के कारण उसे पाठक के संमुख मूर्तरूप में उपस्थित करते हैं; और वह भौतिक कमल के संमुख न होने पर भी उसका उसी रूप में दर्शन करने लगता है; और भौतिक कमल को अपनी आँखों से देखने पर जो भाव उसके मन में संचरित हो सकते थे, उनकी अपेक्षा इस वासनामय कमल को देख उसके मन में कहीं अधिक भाव उत्पन्न होते हैं और ये उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुखमय भी होते हैं।

शब्दों की शक्ति अभिधा, लक्षणा, व्यंजना

शब्दों की इस अनेकार्थबोधिनी शक्ति को हमारे साहित्य शास्त्रों ने **अभिधा, लक्षणा और व्यंजना** इन तीन भागों में विभक्त करके, लक्षणा के उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना आदि चौबीस भेद; व्यंजना के अभिधामूलक और लक्षणामूलक ये दो प्रमुख भेद; और आर्थी व्यंजना के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य इन तीन प्रकार के अर्थों के कारण, अनेक भेद किए हैं। अर्थ का उक्त विश्लेषण और वर्गीकरण शब्दशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वशाली होने पर भी साहित्य के रसास्वाद के लिए इतना अधिक उपयोगी नहीं है; इस लिए हम इस विश्लेषण में न पड़ इतना ही

कहेंगे कि इस सबका मूल साहित्यिक शब्दों की उस घनता, सांद्रता तथा आदर्शरूपता में है, जो आत्मा के रागान्वित होकर अंतर्मुखी होने पर अर्थ और शब्द में उत्पन्न होने वाली तदाकारता से उत्पन्न होती है।

भाषा की शुद्धता, नियतता, यथार्थता और अभिव्यंजकता

साहित्य के मूल तत्त्व आत्मानुराग का और उससे स्वाभाविक—रूपेण प्रवर्तित होने वाले शाब्दिक तत्त्वों का उक्त निदर्शन हृद्गत कर लेने पर यह बताना आवश्यक नहीं रह जाता कि **आत्मानुराग की सच्ची निष्पत्ति होने पर कवि के शब्दों में शुद्धता** (correctness) **नियतता,** (precision) **यथार्थता** (appropriateness) **और अभिव्यंजकता** (expressiveness) स्वयमेव आ जाती हैं। एक सच्चे साहित्यकार को, रागों के द्वारा उसके आत्मा के अनुरक्त हो उठने पर, अपने भावों को व्यक्त करने के लिए कोषों से शब्द नहीं ढूँढने पड़ते; उसे प्रयुक्ताप्रयुक्तत्व के झमेले में भी नहीं पड़ना पड़ता, उसे साहित्यशास्त्रियों के द्वारा उन्नीत किए गए अन्य सिद्धांतों से भी परिचित नहीं होना पड़ता; उस समय उसकी जिह्वा पर स्वयमेव उचित शब्द नाचने लगते हैं; या यों कहिए कि उसके द्वारा उद्भावित किए जीवन का आदर्श, अर्थात् उसकी रचना का भावपक्ष—स्वयमेव आत्मानुरूप शब्द-आदर्श को, अर्थात् कलापक्ष को ढूँढ लेता है। उस समय उसके शब्द स्वयमेव सांकेतिक, प्ररोचक और उद्दीपक बन जाते हैं।

हमने अभी कहा था कि एक यथार्थ कवि विश्व में अविरत-

मूर्त तत्त्व और शब्दपट

रूपेण घूमने वाली परिवर्तनों की शृंखला में से—और इसी परिवर्तनमाला का नाम सच्चा जीवन है—किसी एक कड़ी को पकड़ उसी में जीवन-समष्टि को प्रतिरूपित करके हमारे सामने ला खड़ा करता है—और उसकी इसी क्रिया को हम कविता आदि के नाम से पुकारते हैं। उसके द्वारा भौतिक जगत् में से, अर्थात् कमल आदि अगणित स्थूल वस्तुओं में से, उद्भावित किया हुआ जीवन का यह आदर्श अपने को प्रकाशित करने के लिए, सपदि, शब्द के सूक्ष्म पट पर प्रतिफलित हो जाता है, जो पट, जगत् अर्थात् अर्थ के साथ साथ उसी के समान सदा से अविच्छिन्न बना चला आता है। बस, एक चतुर कवि का सब से बड़ा काम है, **स्थूल तत्त्वों के आदर्श को—और इसी का पारिभाषिक नाम अर्थ है— और सूक्ष्म शब्दमय जगत् के ऊपर पड़ने वाले उसके प्रतिबिंब को अपनी वाणी अथवा लेखनी द्वारा जगत् के संमुख ला उपस्थित करना।**

उक्त तत्त्व के हृद्गत होते ही हमें इस बात की उपलब्धि हो

शब्द और अर्थ की अविभाज्यता

जाती है कि जिस प्रकार हमारा बाह्य अर्थमय जगत मूलरूप से एक तथा अविभाज्य है, अर्थात् व्यक्तिरूपेण पृथक् पृथक् होने पर भी समष्टि-रूपेण वह सारा अनवच्छिन्न एक है, उसी प्रकार उसका अनुरूपी शब्दजगत् भी एक एक शब्द की दृष्टि से पृथक् पृथक् होने पर भी

शब्दधारा की दृष्टि से अविभाज्य है, अर्थात जिस प्रकार कवि के द्वारा उद्भासित जीवन-आदर्श एक अखंड वस्तु है, उसी प्रकार उस जीवन का अनुयायी शब्दपट भी एक अखंड वस्तु है। इसी तत्त्व के आधार पर हमारे प्राचीन दर्शनकारों तथा वैयाकरणों ने जहाँ व्याख्येय बाह्य जगत् को अखंड माना है, वहाँ उसके अनुरूपी, उसकी व्याख्या करने वाले **शब्दरूप वेद भगवान्** को भी नियतानुपूर्वीसहित नित्य माना है। जिस प्रकार हम सृष्टि के आदि कवि भगवान् की रचना के भावपक्ष, अर्थात् बाह्य जगत् में किंचित् परिवर्तन करते ही उसके सौंदर्य को खंडित कर देते हैं, जिस प्रकार हम एक सुरूप रमणी के केशपाशों को सिर से उतार उन्हें उसकी जँघाओं पर चिपका देने पर उस रमणी को रमणी से रीछ में परिवर्तित कर देते हैं, इसी प्रकार इस भावपक्ष का व्याख्यान करने वाले शब्दरूप वेद की आनुपूर्वी में किंचित् भी भेद डालकर हम उसकी रसिकता को भंग कर देते हैं। ठीक यही बात हम एक महान् कवि की रचना के विषय में कह सकते हैं।

यथार्थ कविता का अनुवाद क्यों नहीं होता

जिस प्रकार कालिदास की रचना का भावपक्ष अखंड है, जिस प्रकार उसके द्वारा उद्भावित किया गया जीवन का आदर्श अटूट एक है, उसी प्रकार भाव का अनुरूपी उस महाकवि का शब्दपक्ष भी—अर्थात् वह शब्दमुकुर, जिस पर उसके द्वारा खींचा हुआ जीवन का आदर्श प्रतिबिंबित हुआ है—एक अखंड तथा अटूट पट है। जिस प्रकार कालिदास के शकुंतला नाटक में आप

उसके भावपक्ष में नाम के लिए भी भेद डालकर उसके स्वाभाविक सौंदर्य को नष्ट कर देंगे, उसी प्रकार उसके भावपक्ष को प्रतिफलित करने वाली उसकी शब्दानुपूर्वी में भी आप नाममात्र का परिवर्तन करके उसके सौंदर्य को खंडित कर देंगे। **अर्थ और शब्द की इस तदात्मता के कारण ही एक यथार्थ कवि की रचना का अन्य भाषा में अनुवाद नहीं किया जा सकता।** इसलिए जब हम महाकवि भट्टबाण की अनुपम गद्यरचना कादंबरी का किसी अन्य भाषा में अनुवाद पढ़ते हैं, तब हमारे संमुख उसके भावपक्ष का कंकाल बड़ी ही करुण दशा में आ उपस्थित होता है। प्रातः और सायं समय के वे वर्णन, जिन्हें पढ़ हमारे आत्मा में एक साथ विविध रंगों और अनुरागों की पिचकारियाँ छूटने लगती थीं, अब निर्जीव, नीरस और उखड़े-पुखड़े बन जाते हैं। इसी प्रकार जब हम अंग्रेजी के महाकवि शेक्सपीअर की अनुपम रचनाओं को हिंदी आदि के अनुवाद में पढ़ते हैं, तब हमें उनकी सहस्रों विशेषताओं में से एक का भी आभास नहीं होता और हम कह उठते हैं कि क्या इन्हीं थोथी रचनाओं के आधार पर इन्हें विश्व के दो या तीन कवियों में से एक बताया जाता है। आप अनुवाद करते समय रचना के भावपक्ष को तो हिलाते ही हैं, उसके कलापक्ष को तो आप समूल ही तोड़ फेंकते हैं।

जब हम शब्द और अर्थ की इस दार्शनिक अविभाज्यता को भलीभाँति हृद्गत कर लेते हैं, तब साहित्य-शास्त्रियों का यह सिद्धांत हमारी समझ में सहज ही आ जाता है कि शब्दों का

अपना स्वतंत्र अर्थ कोई नहीं है, और वे परस्परोद्दीपन (inter-inanimation or interpenetration) अथवा परस्परप्रवेश के द्वारा ही—अर्थात् वाक्य में आनुपूर्वीविशेष के साथ रखे जाने पर ही अर्थ को व्यक्त करते हैं, और आनुपूर्वीविशेषों में रखे हुए एक ही अर्थ को नहीं, अपितु अर्थों की अगणित विधाओं को व्यक्त कर सकते हैं। जिस प्रकार एक स्थूल अर्थ की, दूसरे अर्थों के नितांत अभाव में, स्वतंत्ररूपेण सत्ता नहीं कही जा सकती, इसी प्रकार एक शब्द की भी अन्य शब्दों के अभाव में स्वतंत्र अर्थात् अर्थमयी सत्ता नहीं सोची जा सकती। जिस प्रकार चित्रकार का एक बिंदु अन्य बिंदुओं के अभाव में निरर्थक होता है, उसी प्रकार साहित्यकार का एक शब्द भी अन्य शब्दों की अनुपस्थिति में सुतरां निरर्थक हो जाता है। और जिस प्रकार चित्रकार के विविध बिंदु, क्रमविशेष में विन्यस्त होकर ही आकारविशेष को अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार एक सुकवि का शब्दजगत् भी आनुपूर्वीविशेष में विन्यस्त होकर ही अर्थविशेष को अभिव्यक्त किया करता है। इस लिए एक सुकवि की रचना में पदों की संगति के साथ साथ वाक्यों की संगति भी अनिवार्य रूप से हुआ करती है।

शब्दों का परस्परोद्दीपन और परस्पर प्रवेश

कहना न होगा कि कलापक्ष को सुरूप बनाने में शब्दों की और शब्दविन्यास की प्राकृतिकता तथा स्वाभाविकता आवश्यक वस्तु हैं। ये दोनों बातें साहित्यिक पुरुष की आंतरिक स्वाभाविकता

कविता और शब्दविन्यास

पर निर्भर हैं। यदि वह कलाकार स्वयं प्रकृतिप्रिय है, यदि उसके भावों में और आंतर तथा बाह्य जगत् में अनुरूपता है तो वह अनुरूपता उसके शब्दों में स्वयमेव प्रतिफलित हो जाती है, और हमें उसकी रचना को पढ़ते समय कहीं भी नहीं रुकना पड़ता; उसमें हम अप्रतिहत हो बहे चले जाते हैं। इस तत्त्व को ध्यान में रख जब हम महाकवि कालिदास के रघुवंशांतर्गत अजविलाप को पढ़ते हैं, तब हमें उसमें स्वयं प्रकृति रोती दीख पड़ती है, रघुवंश का शब्द शब्द रोता सुनाई पड़ता है; कालिदास और अज दोनों एक हो रोते दिखाई पड़ते हैं। और जब हम इस दृष्टि से उनके शकुंतला नाटक में प्रवेश करते हैं, तब हमें वहाँ आश्रम का पत्ता पत्ता, वहाँ के पशुपक्षी, यहाँ तक कि उस खंड की संपूर्ण समष्टि शकुंतला और दुष्यंत के साथ एक हो प्रेमरूपक की ओर अग्रसर होती हुई दीख पड़ती है। विश्व प्रेम के उस कथानक को खड़ा करते समय महाकवि की जिह्वा पर वे ही शब्द उतरे हैं, जो स्वयं प्रेम के प्रतिरूप हैं और जो तपस्वियों के आश्रम में प्रेमदीक्षा लेने वाले दुष्यंत और शकुंतला की नाईं अपने आप भी प्रेम में पगे एक दूसरे के साथ संगत होकर विन्यस्त हुए पड़े हैं। कलापक्ष का यही रुचिर परिपाक हमें महाकवि तुलसीदास तथा शेक्सपीअर की रचनाओं में उपलब्ध होता है।

किसी रचना में प्राकृतिकता तथा स्वाभाविकता होने पर यथार्थता स्वयमेव आ जाया करती है। हम अपने आधुनिक हिंदी कवियों को अंग्रेजी तथा बंगला

कविता का विवेकशून्य अनुकरण करने की कुप्रवृत्ति के कारण एक असह्य दोष से ग्रस्त हुआ पाते हैं। इनमें से मैथिलीशरण, पंत तथा प्रसाद जैसे कतिपय सुकवियों को छोड़ शेष सभी की रचनाएँ अप्राकृतिकता, अस्वाभाविकता तथा अयथार्थता में फँसी पड़ी हैं। इनमें से बहुतों में प्रतिभा का लेश नहीं, सूक्ष्मदर्शिता का नाम नहीं, फिर दार्शनिक दृष्टि का तो कहना ही क्या। जहाँ हृदय में तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुई विशदता तथा गंभीरता नहीं, वहाँ सच्ची रागात्मक दृष्टि उत्पन्न ही कैसे हो सकती है। कविता को सृजन करने वाले इन सब तत्त्वों के अभाव में इनमें से बहुसंख्यक कविमन्य कहीं अंग्रेजी की नकल कर और कहीं बंगला अथवा मराठी की नकल कर जनता के संमुख वे बेसुरे राग अलाप रहे हैं, जिनका न कोई सिर है और न पैर। जिधर देखो उधर ही चालू प्रेम की चीख है और नुमायशी अग्निज्वाला की चौंध है। इस प्रकार के कवि हृदय की छोटी सी चिनगारी को शब्दाडंबर द्वारा जनता के संमुख ज्वाला बना कर रखते हैं। ये कृत्रिम प्रेम को कबीर, रवींद्र तथा शैले का प्रेम बना कर दर्शाते हैं। इनकी रचनाओं में जहाँ शब्दों का भारी आटोप और आडंबर है, वहाँ अंग्रेजी तथा बंगला से उधार ली हुई नई नई लाक्षणिकताओं का विडंबन भी है। हृदयगांभीर्य न होने के कारण ये लोग तुच्छ सी बात पर चीख उठते और अपने पाठकों तथा श्रोताओं को अपनी चीख के द्वारा प्रभावित करना चाहते हैं। हिंदी साहित्य की वर्तमान में सब

साहित्य की स्वाभाविकता और यथार्थता

से बड़ी आवश्यकता उसके रचयिताओं में यथार्थता को उत्पन्न करना है। यथार्थता के होने पर सामान्य शब्द भी सजीव बन जाते हैं, और उसके अभाव में शब्दों का ओजस्वी आटोप भी ढोल की पोल रह जाता है।

एकता में कलापक्ष के सब गुणों का अंतर्भाव
कालिदास
तुलसीदास
शेक्सपीअर

कलापक्ष के इन सब तत्त्वों के साथ साहित्यिक रचना में एकता अथवा सामंजस्य का होना आवश्यक है। इसके अभाव में कोई भी कलातत्त्व परिपूर्ण नहीं हुआ करता। साहित्य की सब विधाओं में इसकी समान आवश्यकता है। मान लीजिए, आप की रचना का प्रमुख ध्येय बुद्धितत्त्व अर्थात् विचारों को जागृत करना है; तो उसमें यह आवश्यक है कि पाठक को एक ही परिणाम की ओर अग्रसर किया जाय; यदि आपकी रचना एक महाकाव्य अथवा खंडकाव्य है तो उसमें गौण कथाओं तथा घटनाओं को मुख्य कथा का परिपोषक बनाते हुए उसी एक का परिपाक करना चाहिए; यदि आपकी रचना आत्माभिव्यंजिनी गीति है तो उसमें एक ही मनोवेग को प्रधानता देनी चाहिए; और यदि आप की रचना एक उपन्यास है—जिसमें अनेक पात्रों, घटनाओं, तथा कथानकों का समावेश है—उसमें भी आप को प्रधान नायक तथा नायिका की कथा को प्रधान बनाना चाहिए और गौण पात्रों तथा कथानकों के द्वारा उनकी पुष्टि करनी चाहिए। विचारों को उद्बुद्ध करने वाली ऐतिहासिक रचनाओं में एकता

अथवा सामंजस्य उत्पन्न करना सहज है, किंतु महाकाव्यों तथा उपन्यासों में इस का निभाना किंचित् कठिन हो जाता है; क्योंकि इस कोटि की रचना के द्वारा कलाकार विश्व के बहुविध तथ्यों और मानव जगत् की बहुरूप भावनाओं को व्यक्त किया करता है। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की यह एकता हमें महाकवि कालिदास, तुलसीदास तथा शेक्सपीअर की रचनाओं में अत्यंत ही रुचिर रूप में संपन्न हुई दृष्टिगत होती है। तुलसीदास ने अपने मानस में जगत् के जितने रूप और मनुष्य के जितने भावों का चित्रण किया है, उतना संभवतः किसी ही कवि ने किसी एक रचना में किया हो। हमें यहाँ प्रकृति के प्रायः सभी रूप और मानव-जगत् के प्रायः सभी भाव कंधे से कंधा भिड़ाकर खड़े दीखते हैं। किंतु यह सब कुछ होने पर भी उन्होंने अपनी रचना का प्रमुख ध्येय श्रीराम के प्रति श्रद्धा और प्रेम के भाव को बनाया है। रामायण के सभी कथानक और उसमें आने वाली सभी घटनाओं का प्रमुख लक्ष्य श्रीराम के प्रति प्रेम को चिरजीवी बनाना है। बाह्य जगत् का चित्रण करते हुए भी उसका आंतरिक जगत् के साथ सामंजस्य स्थापित करके ये महाकवि इन दोनों जगतों का रामरूप चरम चिति में ऐसा सुंदर समन्वय करते हैं कि कहते नहीं बनता। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के मुँह बड़े बड़े विविधविषयक उपाख्यान कहला उन्हें अंत में "हे उमा, यह सब श्रीराम की माया का प्रताप है" इस एक वाक्य द्वारा स्थूल घटनाजगत् से भावमय जगत् में ले जा गोस्वामी तुलसीदास जी ने भाव और कलापक्ष की

एकता का लोकोत्तर चमत्कार दिखाया है। एकता की ऐसी ही दिव्य विभूति हमें अंग्रेजी के महाकवि श्री शेक्सपीअर की रचनाओं में प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, उनके रोमिओ एंड जूलियट नामक नाटक को लीजिए। सारे नाटक में यौवन और अनुराग का सांद्र समीर बह रहा है। क्या भाषा, क्या परिस्थिति, क्या अंक और क्या दृश्यविधान,—ग्रीष्म की वह प्रेमनिर्भर अर्धरात्रि, जब कि स्वयं प्रकृति सर्वात्मना पुलकित हो, खड़ी, किसी ओर एक-टक निहार रही थी, वे आकाश में तैरने वाले बिजलीभरे बादल, सभी का अवसान इस नाटक में एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रवाहित होने वाले अनुराग को परिपक्व बनाने में है। उन्होंने अपने मिड समर नाइट्स ड्रीम, ऐज यू लाइक इट, टेम्पेस्ट, और किंग लियर नामक नाटकों में भी एकता का ऐसा ही सुंदर निदर्शन किया है।

एकता का मूल

किसी रचना के भावपक्ष और कलापक्ष दोनों में समानरूप से एकता तभी आ सकती है, जब कि उसके कर्ता में बुद्धितत्त्व, कल्पना-तत्त्व और समवेदना के भाव पूर्णरूप से विकसित हो चुके हों और वह अपनी व्यापिनी अंतर्दृष्टि से जीवन को समष्टि में देख एक साथ प्रतीप प्रवृत्ति वाले अनेक पात्रों की कल्पना कर सकता हो, उनके पारस्परिक संबंध को देख सकता हो, उनमें कौन मुख्य है और कौन उसके परिपोषक, इस बात को समझ सकता हो, संक्षेप में जीवन की संकुल (complex) परिस्थिति को एक निगाह में निहार सकता हो, और अंत में इन सब बातों को तदनुरूप संक्षिप्त

भाषा में व्यक्त कर सकता हो। किसी भी कला को पूर्णरूप से प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसमें उक्त बातों का होना आवश्यक है, फिर साहित्यकला का तो कहना ही क्या।

एकता, पूर्णता, व्यवस्था, संवादिता

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि **रचना के इस एकता नामक गुण में उसके अन्य सभी गुण आ जाते हैं;** क्योंकि पूर्णता, व्यवस्था तथा संवादिता आदि के बिना किसी भी रचना में एकता की उपपत्ति असंभव है। किसी रचना को पूर्ण कहने से हमारा यह तात्पर्य है कि उसमें सभी आवश्यक तत्त्वों का समावेश है, उसमें कोई बात बीच में नहीं छूटी है और नहीं किसी अनावश्यक तत्त्व का उसमें समावेश हो पाया है। नाटक के समान अनेक पात्रों तथा घटनाओं के वर्णन में भी पूर्णता का होना आवश्यक है और गीतिकाव्य के समान एक भाव को व्यक्त करने वाली रचना में भी इसका होना वांछनीय है। कवि की अंतर्दृष्टि में पूर्णता आते ही उसकी रचना में इयत्ता आ जाती है; आवश्यक बातें उससे छूटती नहीं और अनावश्यक बातों को उस में स्थान नहीं मिलता।

व्यवस्था

व्यवस्था से हमारा आशय रचना के विभिन्न भागों को सामंजस्य के साथ एक दूसरे के समीप संनिहित करने से है। कथानक अथवा घटना की पराकोटि (climax) अनिवार्य रूप से यह नहीं चाहती कि रचना के अंत तक पाठक अथवा द्रष्टा के मनोवेग उत्तरोत्तर उत्कट होते

चले जाएँ और अंत में उनका परिपाक हो। इसके विपरीत बहुत सी उत्कृष्ट रचनाओं में यह पराकोटि रचना के अवसान से कुछ पहले हो चुकी होती है और रचना के अंतिम प्रकरण में पाठक अथवा द्रष्टा का मनोवेग शनैः शनैः शांत होता जाता है। शेक्सपीअर के दुःखांत नाटकों में पराकोटि का यही विधान मिलता है।

संवादिता

संवादिता में हम प्रासंगिकता तथा प्रस्तावौचित्य के साथ साथ अन्य बहुत सी बातें संमिलित करते हैं। एक संवादी रचना में न केवल अप्रासंगिक बातों का निराकरण किया जाता है, अपितु ऐसी बहुत सी प्रासंगिक बातों को भी छोड़ दिया जाता है, जो घटना के अनुकूल होने पर भी या तो मनोभावों में विरोध उत्पन्न करती हों अथवा अपनी उपस्थिति से रचना के भावनासंबंधी प्रभाव को निर्बल बनाती हों। रचना में संवादिता उत्पन्न करने के लिए कभी कभी कलाकार ऐतिहासिक तथ्य की सीमा को लाँघ उसके विपरीत चला करता है। वह अपनी रचना की प्रमुख धारा को ध्यान में रख उससे संबंध रखने वाली बहुत सी ऐतिहासिक घटनाओं में, उनमें प्रमुख कथा के साथ अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए—बहुत से परिवर्तन भी कर डालता है। इस संवादिता की संपत्ति के लिए ही कवि लोग विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग करते हैं और अपनी रचना के साथ संबंध रखने वाली बहुत सी अन्य बातों में यथोचित काटछाँट किया करते हैं। यदि हम विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से शेक्सपीअर के ऐंटनी एंड क्लियोपेट्रा नामक नाटक

को पढ़ें, तो संभव है इसमें हमें बहुत से कालविरोध तथा अन्य प्रकार के दोष मिल जाएँ; किंतु महाकवि ने अपने उद्देश्य, अर्थात् पाठकों तथा प्रेक्षकों के आत्मा में रस की निष्पत्ति के लिए ऐतिहासिक उपकरणों की जिस मात्रा में आवश्यकता हुई है इतिहास से उतने ही लेकर बस कर दिया है और उन सब को, अपने लक्ष्यभूत रस का परिपाक करने के लिए इतिहास से भिन्न प्रकार के उपकरणों में ऐसा मिला दिया है, जैसे साग में मसाला मिला दिया जाता है। हमारे लिए सुप्रत्यक्ष नर और नारी की विष तथा अमृतभरी प्रणयलीला को उन्होंने एक विशाल ऐतिहासिक रंगभूमि के अंदर स्थापित करके उसे विराट् बना दिया है। हृदय के विप्लव के पश्चात् राष्ट्रविप्लव उठ खड़ा होता है; प्रेमद्वंद्व के साथ एक बंधन में बँधे रोम में पारस्परिक युद्ध की तैयारी होती है। एक ओर क्लियोपेट्रा के विलासभवन में वीणा बज रही है और दूसरी ओर सुदूर समुद्र तट से भैरव की संहारभेरी उसके साथ स्वर मिलाकर और भी जोर से बज उठती है। कवि ने अपने करुणरस के साथ ऐतिहासिक रस को मिला दिया है; और इस प्रकार हम में से बहुतों के साथ घटने वाली प्रतिदिन की घटना में इतिहास की दूरता तथा बृहत्ता निष्पन्न कर दी है। हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार जयशंकरप्रसाद की स्कंदगुप्त विक्रमादित्य आदि रचनाओं में भी हमें ऐतिहासिक घटनाओं से उसी सीमा तक सहारा लिया गया प्रतीत होता है, जितनी कि उनकी रचनाओं को "ऐतिहासिक रस" द्वारा सरसित करने के लिए आव-

श्यक थीं। फलतः उनकी रचनाओं में कालदोष आदि की उद्भावना करना और उसके आधार पर उनके नाटकों को दोषपूर्ण बताना अनुचित प्रतीत होता है।

यहाँ तक हमने साहित्य के कलापक्ष को निखारने वाले उपकरणों का विवेचन किया है। इन उपकरणों में, और विशेषतः **स्वाभाविकता तथा एकता** में रचना के कलापक्ष को समंजस बनाने वाले अन्य सभी तत्त्व संमिलित हो जाते हैं। किंतु फिर भी भारतीय शास्त्रियों ने अपनी विस्तारप्रियता तथा श्रेणीविभाग की कुशलता के कारण इस विषय में जो कुछ और बातें कही हैं, उनका दिग्दर्शन करा देना अभीष्ट प्रतीत होता है।

शब्दों की शक्ति, गुण, वृत्ति

हमारे यहाँ शब्दों में **शक्ति, गुण और वृत्ति** ये तीन बातें मानी गई हैं। शब्दों की त्रिविध शक्ति, अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का पहले निर्देश किया जा चुका है और इस पर भी संकेत किया जा चुका है कि ध्वनिकार जैसे आचार्यों ने **काव्य की आत्मा ध्वनि अर्थात् व्यंग्य ही माना** है। महामुनि भरत, अग्निपुराण, दंडी, ध्वनिकार (आनंदवर्धन) और मम्मट आदि ने गुणों का विस्तृत वर्णन किया है, जिसका संक्षेप ध्वनिकार के अनुयायियों ने आलंकारिक भाषा में यों किया है।

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शूरवीरता आदि के समान हैं, दोष काणत्व आदि के तुल्य हैं, और अलंकार आभूषणों के समान।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रसों के साथ गुणों का अंतरंग संबंध है और अलंकारों का बाह्य; गुण काव्य की आत्मा रस को निखारते हैं और अलंकार उसके शरीररूप शब्द और अर्थ को। साथ ही गुणों की वास्तविकता पर विवेचन करने के पश्चात् यह निर्धारित किया गया कि शास्त्रियों के बताए बीस गुण कोमल, कठोर और स्पष्टार्थक इन तीन प्रकार की रचनाओं में विभक्त किए जा सकते हैं। इस प्रकार बीस गुणों के तीन हुए और उनके नाम भामह के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद रखे गए। आगे चल कर मम्मट ने बताया कि शृंगार, करुण और शांत रसों में जो एक प्रकार की आह्लादकता रहती है, जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है, उसका नाम "माधुर्य" है; वीर, रौद्र और बीभत्स रसों में जो उद्दीपकता रहती है, जिसके कारण चित्त जल उठता है, उसे "ओज" कहते हैं, और जो सूखे ईंधन में अग्नि के समान, और स्वच्छ शर्करा तथा वस्त्रादि में जल के समान चित्त को रस से व्याप्त कर देता है, उस विकासतत्त्व का नाम "प्रसाद" है। फलतः गुण मुख्यतया रस के धर्म हैं और औपचारिक रूप से रचना के। इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने के लिए शब्दों की बनावटके भी तीन प्रकार माने गए हैं, जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणों के अनुरूप ही—मधुरा, परुषा और प्रौढा कहाती हैं। इन्हीं तीन गुणों के आधार पर वाक्यरचना की तीन रीतियाँ मानी गई हैं : वैदर्भी, गौडी और पांचाली। इस प्रकार माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति; ओज

गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौडी रीति; और प्रसाद गुण के लिए प्रौढा वृत्ति और पांचाली रीति निर्धारित की गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि शृंगार, करुण और शांत रसों में माधुर्य गुण का, और वीर, रौद्र तथा बीभत्स रसों में ओजगुण का उपयोग संगत है और प्रसाद गुण सभी रसों का समान रूप से परिपाक करता है। किंतु विशेष विशेष प्रसंगों पर इनमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। जैसे शृंगार रस का पोषक माधुर्य है; पर यदि नायक धीरोदात्त अथवा निशाचर हो, अथवा विशेष परिस्थिति में उद्दीप्त हो उठा हो, तो उसके भाषण में ओज गुण का होना आभूषण है। इसी प्रकार रौद्र और वीर रसों के परिपाक में गौडी रीति उपादेय बताई गई है, किंतु अभिनय में बड़े बड़े समासों वाली वाक्यावलि से दर्शकों के ऊब उठने की आशंका है। ऐसे प्रसंगों पर नियत सिद्धांत के प्रतिकूल रचना करना दोष नहीं गिना जाता, प्रत्युत रचनाकार की चातुरी का द्योतक बन जाता है।

अलंकारों का उत्थान

गुण और शैली के विवेचन के उपरांत अब अलंकारों के विषय में किंचित् दिग्दर्शन करा देना उचित प्रतीत होता है। आचार्यों ने अलंकारों को **काव्यशोभाकर, शोभातिशायी** आदि कहा है, जिससे स्पष्ट है कि अलंकारों की वृत्ति पहले से ही सुंदर अर्थ को और अधिक सुंदर बनाना है। जिस प्रकार आभूषण रमणी के शरीर को पहले से अधिक रमणीय बना देते हैं, उसी प्रकार

अलंकार भी भाषा और अर्थ के सौंदर्य की वृद्धि करते, उनका उत्कर्ष निखारते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। आचार्यों ने अलंकारों को शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म बताया है; इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार आभूषणों के बिना भी शरीर का नैसर्गिक सौंदर्य बना रहता है, उसी प्रकार अलंकारों के अभाव में भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता बनी रहती है। पहले विस्तार के साथ बताया जा चुका है कि काव्य की आत्मा तथा उसके शरीर में भेद है; फिर अलंकार तो इन दोनों को अलंकृत करने वाले ठहरे; फलतः इन्हीं को चंद्रालोककार के समान काव्य की आत्मा बना देना अनुचित है। हम कह चुके हैं कि साहित्य की आत्मा रागात्मक तत्त्व, कल्पनातत्त्व तथा बुद्धितत्त्व में संनिहित है; और वास्तव में साहित्य की महत्ता इन्हीं के द्वारा प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार साहित्य की इस महत्ता को पुष्ट कर सकते हैं; वे अपने उपजीवी साहित्यतत्त्वों के प्रतिनिधि नहीं बन सकते।

अलंकारों के विविध वर्गीकरण का आधार

ऊपर कहा जा चुका है कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी आधार पर अलंकारों के दो भेद किए गए हैं; एक **शब्दालंकार**, दूसरे **अर्थालंकार**; जो अलंकार शब्द और अर्थ दोनों में चमत्कार लाते हों उन्हें **उभयालंकार** कहा जाता है। शब्दालंकारों में मुख्य हैं अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति। श्लेष और यमक में बहुत थोड़ा अंतर है। जहाँ एक

शब्द अनेक अर्थ दे, वहाँ श्लेष और जहाँ एक शब्द अनेक बार आवे और साथ ही भिन्न भिन्न अर्थ भी दे, वहाँ यमक अलंकार होता है । अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का अनेक बार प्रयोग होता है। जहाँ एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा दिया जाता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इन सब के बड़े ही सूक्ष्म अनेक उपभेद किए गए हैं । अर्थालंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं, अतएव इनके दिग्दर्शन में बुद्धि के तत्त्वों का विचार आवश्यक है । "हमारी प्रज्ञात्मक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं; अर्थात् साम्य, विरोध और सांनिध्य से। जब समान पदार्थ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे मन पर अंकित हो जाता है । इसी प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या अपेक्षता हमारे मन पर जम जाती है । जब हम एक पदार्थ को दूसरे के अनंतर और दूसरे को तीसरे के अनंतर देखते हैं, अथवा दो का अभ्युदय एक साथ देखते हैं, तब हमारी मानसिक शक्ति बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे मस्तिष्क पर अपनी छाप जमाती जाती है और काम पड़ने पर स्मरणशक्ति की सहायता से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं। अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनंतर हमारे ध्यान में उपस्थित होते हैं, या जब उन में से एक ही पदार्थ कभी समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है, तब हम अपने मन में उस का

संबंध स्थापित करते हैं और एक का स्मरण होते ही दूसरा आप से आप हमारे ध्यान में आ जाता है। इसे ही सांनिध्य या तटस्थता कहते हैं। साम्य, विरोध और सांनिध्य या तटस्थता के विचार से हम अर्थालंकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और उनमें से उपभेदों को घटाकर अलंकारों की संख्या किसी सीमा तक नियत कर सकते हैं।

साम्यमूलक अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, संदेह, अतिशयोक्ति; विरोधमूलक अर्थालंकारों में विरोध और विरोधाभास; और अन्यसंसर्गमूलक अर्थालंकारों में अन्योन्य, यथासंख्य, पर्याय, परिसंख्या आदि ध्यान देने योग्य हैं।

अलंकारों का औचित्य

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा); चाहे वाक्यवक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुतप्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध); और चाहे वर्णविन्यास के रूप में हों (जैसे अनुप्रास), ध्येय सब का प्रस्तुत भावना को पहले से अधिक सुंदर बनाना है। मुख के वर्णन में जो कमल, चंद्र आदि संमुख रखे जाते हैं, वह केवल इसीलिए कि इनकी वर्णरुचिरता, मृदुलता तथा दीप्ति आदि के योग से प्रस्तुत सौंदर्य की भावना और बढ़े। सादृश्य या साधर्म्यप्रदर्शन उपमा और उत्प्रेक्षा आदि का प्रवृत्त लक्ष्य नहीं होता। इस बात से स्पष्ट है कि यदि किसी रचना में सुंदर तत्त्व का अभाव है, अथवा उसमें निगूढ़ भाव की अनुभूति नहीं है, तब उसे कितने

भी चमत्कार, उक्तिवैचित्र्य अथवा अलंकारों से क्यों न लादा जाय, उसमें यथार्थ साहित्यिकता नहीं आ सकती। केशव की रामचंद्रिका में पचीसों ऐसे पद्य हैं, जिन में उक्तिवैचित्र्य की भद्दी भरती के चमत्कार के अतिरिक्त हृदय को स्पर्श करनेवाली या पाठक को किसी तीव्र भावना में डुलाने वाली कोई बात न मिलेगी। इनका उक्तिवैचित्र्य ठीक उसी प्रकार का है, जैसा कि उस कवि का, जो किसी राजा के यश की धवलता को चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं उसकी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जाएँ अथवा प्रभात होने पर कौओं के काँव काँव का कारण इस भय को बताता है कि कहीं कालिमा को कीलने में प्रवृत्त हुआ सूर्य उन्हें भी काला देख उनका भी नाश न कर डाले। ऐसी सूक्तियों से अनेक सुभाषितसंग्रह भरे पड़े हैं, जिन्हें सुनकर थोड़ी देर के लिए श्रोता के मन में कुछ कुतूहल चाहे हो जाय, पर उनमें उसे काव्य का रागात्मक तत्त्व न मिलेगा। इसके विपरीत यदि किसी उक्ति की तली में उसके प्रवर्तक के रूप में कोई गहरी कूक पैठी हुई है, तो चाहे उस उक्ति में वैचित्र्य हो या न हो, उसमें काव्य की सरसता बराबर पाई जायगी। हम मानते हैं कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा होता है। पर उक्ति के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह सदा चमत्कृत हो, वह हमेशा अनूठी और लोकोत्तर हो। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी मार्मिक भावना में विलीन न हो अकस्मात् उक्ति के अनूठेपन में लटक जाता

है, काव्य नहीं एक सूक्तिमात्र है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझते हैं। किंतु दोनों के मौलिक अंतर को सदा स्मरण रखना चाहिए। जो उक्ति श्रोता के हृदय को रस से आप्लावित कर दे, उसकी आंतरिक वीणा को शतधा मुखरित कर दे, उसमें वैचित्र्य हो या न हो, सच्चा काव्य है। इसके विपरीत जो उक्ति आत्मा में रस को न संचरित करती हुई एकमात्र कथन के अनूठेपन से श्रोता की बुद्धि को चकाचौंध कर देती हो, उसे हम सूक्ति कहते हैं।

अलंकार और हिंदी के मर्मी कवि

अपने हिंदी साहित्य में हमें काव्य और सूक्ति दोनों ही अपने विशुद्ध रूप में प्राप्त होते हैं। जब हम हिंदी के मर्मी अथवा साधक कवियों की रचनाओं का पारायण करते हैं, तब हमारे संमुख श्रृंगार रस अपने अत्यंत ही सघन तथा रहस्यमय रूप में उपस्थित होता है। श्रृंगार के इस रहस्यमय विलास में हमारा पिंड किसी दूसरे पिंड से नहीं मिलता, हमारा मूर्त शरीर अपने प्रणयी के मूर्त तत्त्वों में नहीं समाता; यहाँ तो हमें उस अनिर्बचनीय एकता के दर्शन होते हैं, जो इस बहुरूपी, बहुविच्छिन्नतामय भौतिक जीवन का भीतरी ऐक्यसूत्र है और जो पिंडीभूत बहु को एक बना कर टिकाए हुए है; उसको एकता के सूत्र में पिरो कर थामे हुए है। इसी की गाढ अनुभूति से मर्मी कवियों की काव्यधारा वही थी। पुष्प के अंतस् में जिस ऐक्य को देखकर हम प्रफुल्लित होते हैं; वह उसके पिंड में नहीं है—वह उसकी गहराई में अंतर्हित ऐसे

सत्य में है, जो समस्त विश्व में एक के साथ दूसरे को निभृत सामंजस्य में धारण किए हुए हैं। मर्मी कवियों की रचनाओं में उसी एक की लय लहरा रही है, उसी एक का प्रकाश फूटा पड़ रहा है। मर्मी कवि कबीर, दादू आदि ने जीवन की बहुविधता से पराङ्मुख हो, धर्मध्वजियों की कपोलकल्पनाओं से पीडित हो, और आचार-विचारों की चारदीवारी से खिन्न हो इनकी निचली स्तर में प्रवाहित होने वाले एक सत्य, शिव और सुंदर को अपनी वरमाला पहनाई थी। स्वयंवर की उस वरमाला में पत्र हैं, पुष्प हैं, उदीर्ण भाव हैं, निगूढ अनुभूति है, ऐक्य को वहन करने वाली भारत की वाणी है। उसमें अलंकार नहीं, किसी प्रकार का प्रयत्न-जन्य चमत्कार नहीं; उक्तियों का अनूठापन नहीं। यह सब होता भी कैसे, ये मर्मी साधक प्रायः समाज की उस श्रेणी में जन्मे थे, जो शास्त्र के प्रकाश से सदा वंचित रही है; जिसके जीवननिशीथ में कभी ज्ञान का दीपक जला ही नहीं। इन्होंने जो कुछ भी सीखा था—और वही था जीवन का चरम सार—वह स्वयं सीखा था; ऊपर नीचे मूक भाव से फैले हुए, जीवनतंतुओं की समष्टि में से छान कर प्राप्त किया था। हम देखते हैं "कि सब वृक्ष अपनी लकड़ी के भीतर एक ही प्रकार की अग्नि संचित कर रखते हैं। यह अग्नि वे किसी चूल्हे से माँग कर नहीं लाते; चारों ओर से स्वयमेव संग्रह कर लेते हैं। वृक्ष के पत्तों को ज्यों ही सूर्य का प्रकाश छूता है, त्योंही वे एक जागृत शक्ति के बल से हवा में से कार्बन वायु खींच लेते हैं—ठीक इसी प्रकार मानव समाज में सभी जगह इन

मर्मी लोगों की एक सहज शक्ति दीख पड़ती है। ऊपर से उनके मन पर प्रकाश पड़ता है और वे चारों ओर की वायु में से सत्य के तेजोरूप को अपने आप ही भीतर ग्रहण करने लगते हैं। उनका संग्रह शास्त्रभंडार के शास्त्रीय वचनों के सनातन संचय में से चुन कर किया हुआ नहीं होता। इस लिए, उनकी वाणी ऐसी नवीन होती है कि उसका रस कभी सूखता ही नहीं।" हमने अभी कहा था कि हिंदी साहित्य के इन मर्मी कवियों की रचनाओं में चमत्कार तथा उक्तिवैचित्र्य का प्रयत्नजन्य विकास नहीं हुआ है, फिर भी इनकी रचनाएँ भारतीय साहित्य में अत्यंत उच्च कोटि की संपन्न हुई हैं।

अलंकार और हिंदी के रीतिमार्गी कवि

सभी जानते हैं कि जिस प्रकार संसार में, उसी प्रकार साहित्य में भी विषयी पुरुष होते हैं। विषयी पुरुषों का लक्षण ही यह है कि वे सत्य को नहीं प्राप्त कर पाते, इस लिए जड़ पदार्थों की प्राप्ति में ही अपनी इतिकर्तव्यता मानते हैं। "साहित्य में भी जब रस वस्तु के प्रति स्वाभाविक ममता नहीं होती, "दर्द" नहीं होती, तब कौशल के परिमाण को लेकर ही उसका मूल्य आँका जाता है।" रस साहित्य का आंतरिक प्रकाश है और कौशल बाहर का उपसर्ग; उसी को लेकर बाहर का वाहन भीतर के सत्य को ढक कर गर्व करता है। रसिक इससे पीडित होते हैं और विषयी पुरुष इस पर वाहवाह करते हैं। हिंदी के रीतिमार्गी कवियों में से बहुतों की रचनाओं में हमें यही बात दृष्टिगत होती है।

जहाँ हमने मर्मी कवियों में विरह की वेदना का अत्यंत मार्मिक निर्वचन पाया था, वहाँ रीतिमार्ग के नेता कवि बिहारी की रचनाओं में हमें उसका बड़ा ही मज़ाकिया रूप दीख पड़ता है। इस दृष्टि से उनकी उन उक्तियों को पढ़ जाइये, जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है, उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो चार हाथ आगे उड़ जाती है। अत्युक्ति के इस अनूठेपन को देख कर सभी स्तंभित रह जाते हैं। बिहारी के पश्चात् एकमात्र चमत्कार-वाद ही कविता का लक्ष्य रह गया; यहाँ तक कि उसके अनुयायी कवियों की रचना में अलंकारों के व्यापी आटोप में कविता को बिलकुल ही छिपा दिया, नष्ट कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक हमारे साहित्य की प्रायः यही दुर्दशा रही।

उपसंहार

कहने का तात्पर्य यही है कि अलंकारों का उचित प्रयोग ही साहित्य की श्रीवृद्धि करता है; जब साहित्य के यथार्थ तत्त्व, रागात्मक भावना को भुला साहित्यिक पुरुष एकमात्र उक्तिवैचित्र्य पर उतर आते हैं, तब साहित्य निर्जीव बन जाता है, और उस पर पड़ा हुआ अलंकारों का ढेर ठीक ऐसा ही होता है, जैसे उसे रमणी के शरीर से उतार कर मट्टी के ढेर पर डाल दिया जाय।

साहित्य और जातीयता

पिछले प्रकरण में की गई विवेचना के अनुसार साहित्य उस रचना को कहते हैं, जिसमें हमारे **मनोवेगों को तरंगित करने की स्थायी शक्ति विद्यमान हो।** मनोवेगों को तरंगित करने का प्रत्येक लेखक का ढंग अपना निराला होता है; इसे हम साहित्यिक परिभाषा में व्यक्तित्व-मुद्रण के नाम से पुकारा करते हैं। व्यक्तियों की समष्टि का नाम ही राष्ट्र अथवा जाति है। और जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी रचना में अपने आपे को संपुटित करता है, इसी प्रकार व्यक्तियों की समष्टि एक जाति भी अपनी साहित्य-समष्टि में अपने आपे को प्रतिफलित किया करती है।

साहित्य के भीतर दृष्टिगोचर होने वाले इस व्यक्तित्वसंनिधान

जगत् के प्रति भारतीयों का दृष्टिकोण

को ध्यान में रखकर जब हम अपने भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि जिस प्रकार आदि काल से ही भारतीय आर्यों का जीवन धर्म-प्राण रहा है उसी प्रकार उनका साहित्य भी—जो उनके जीवन का वागात्मक व्याख्यान है—धर्म से उच्छ्वसित होता आया है। हमारे यहाँ देववाणी में दुनिया को **संसार** अथवा **जगत्** के नाम से पुकारा जाता है, और इन दोनों ही शब्दों में हमारे सारे आध्यात्मिक जीवन का और उसका

वागात्मक व्याख्यान करने वाले साहित्य का सार आ जाता है। क्या अणुओं में और क्या उनकी समष्टि अखंड ब्रह्मांड में हमें दो तत्त्व दीख पड़ते हैं। एक क्रिया, दूसरा उससे उत्पन्न होने वाला परिवर्तन। हम देखते हैं कि यह अमित भूखंड, ये अगणित नक्षत्र, ये चंद्र और सूर्य किसी अप्रवर्तित गति में अनादि काल से घूमते आए हैं। हम प्रतिक्षण अपनी आँखों के संमुख प्रत्येक वस्तु को एक स्थूल अथवा सूक्ष्म प्रकार की गति में भ्रमित होता पाते हैं; और इस गति के साथ ही उसके जन्म, स्थिति और भंग के रहस्य-मय नाटक को अभिनीत होता देखते हैं। किंतु इस अनवरत गति के मूल में, परिवर्तनों की इस अविच्छिन्न संतति के प्रवाह के पीछे हमें यह भी भान होता है कि गति और परिवर्तनशील वस्तु के व्यक्तिरूपेण नष्ट होने पर भी उसका संतानवाही आत्मतत्त्व निर्विकार बना रहता है, परिवर्तनों की उद्दाम कल्लोलिनी में वह सदा निश्चल पड़ा रहता है।

यावज्जीवन कर्म में रत रहते हुए भी संसार से पृथक् रहना

हमारे भारतीय दर्शन ने इसी आधार पर हमें इस संसार में, संसार ही की भाँति यावज्जीवन क्रियाशील रहते हुए भी उसके मूल में निहित आत्मा की स्थायिता को अनुभव करने का आदेश दिया है; और जिस प्रकार कटक, कुंडल आदि व्यक्तिरूप में प्रवर्तित हो होकर विलीन होते रहते हैं, किंतु उनके मूल में प्रवाहित होने वाला सुवर्णतत्त्व उनमें रहकर भी उन से पृथक् रहता है और सदा

एकरस बना रहता है, इसी प्रकार आत्मा को, इस "संसार" अथवा "जगत्" में प्रवाहित होते रहने पर भी इससे स्वतंत्र रहने की, इससे मुक्त होने की, अपना निर्वाण पाने की इच्छा बनाए रखनी चाहिए। हमारे गृहधर्म, हमारे संन्यासधर्म, हमारे आहार-विहार के सारे यम नियम और हमारे वैरागी भिक्षुओं के ज्ञान से लेकर बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियों के शास्त्रचिंतन पर्यंत, सर्वत्र ही समान रूप से इस भाव का आधिपत्य स्थापित हुआ दीख पड़ता है। कृषक से लेकर पंडित तक सभी इस बात को कहते आए हैं कि हम लोगों ने दुर्लभ मानवजीवन इसीलिए पाया है कि समझ बूझकर हम मुक्ति का मार्ग पकड़ें, संसार के अनंत आवर्तों के आकर्षणों से अपने को पृथक् रखें।

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास

हमारी इस नैसर्गिक प्रवृत्ति को हमारे साहित्यकारों ने बड़े ही भव्य प्रकार से उपपादित किया है। स्थल स्थल पर जहाँ हमें वैदिक साहित्य कर्मण्यता तथा कर्मठता की ओर अग्रसर करता है वहाँ वह हमें अपने आदि स्रोत आत्मा का आभास दिलाकर मुक्ति का मार्ग भी दर्शाता है। इसी उद्देश्य से उसने अपने नासदीयसूक्त में भवबंधन अथवा भवबंधुओं के आदि मूल पर ऐसा विशद प्रकाश डाला है, जैसा हमें अन्यत्र किसी भी साहित्य में नहीं दृष्टिगोचर होता। वाल्मीकि की रामायण और व्यास के महाभारत में हमें यही तत्त्व और भी अधिक स्पष्ट तथा परिष्कृत रूप में उपलब्ध होता है। श्रीराम ने रावण के वध के

उपरांत सिंहासनारूढ हो सीता को वन में प्रस्थापित करके, और धर्मराज युधिष्ठिर ने कौरवों पर विजय प्राप्त करके, सिंहासन को भोग, बंधु-बांधव सहित स्वर्गारोहण करके इस तत्त्व की गरिमा को और भी गुरुतर बनाया है। बौद्धों के साहित्य धम्मपद आदि में तो कर्म करते हुए मुक्ति की यह लालसा और भी स्वच्छ रूप में उल्लसित हुई है। वहाँ तो बुद्ध भगवान् ने आत्म और अनात्म के विवेचन में न पड़ कर्म के द्वारा ही निर्वाण का पथदर्शन कराया है। हमारे राष्ट्रीय कवि भगवान् कालिदास ने तो अपनी अमर रचनाओं में, कर्म करते हुए मुक्त होने की इस अभिलाषा को अत्यंत ही ललित रूप में मुखरित किया है। उन्होंने अपनी रचना को सौंदर्य के सार में निर्मित करके भी उसे भोगपराङ्मुख बनाए रखा है। जिस प्रकार हम महाभारत को एक ही साथ कर्म और वैराग्य का काव्य कहते हैं, उसी प्रकार कालिदास भी एक साथ सौंदर्य के उपासक और भोग से पराङ्मुख कवि कहे जा सकते हैं। उनकी रचना सौंदर्ययोग में नहीं समाप्त होती। कवि उसको पार करके ही शांत हुए हैं; उन्होंने अपनी लेखनी को अंतिम समय वैराग्य सागर में ही विलीन किया है। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना शकुंतला में हम उनकी तापसनायिका शकुंतला पर एक गंभीर परिणति अवतीर्ण होती देखते हैं। वह परिणति फूल से फल में, मर्त्य से स्वर्ग में और स्वभाव से धर्म में होने वाली दिव्य परिणति है। मेघदूत में जैसे पूर्वमेघ और उत्तर मेघ हैं, अर्थात् पूर्वमेघ में पृथिवी के विचित्र सौंदर्य का पर्यटन करके उत्तरमेघ में अलकापुरी के नित्य सौंदर्य में

उत्तीर्ण होना होता है, वैसे ही शकुंतला में एक पूर्वमिलन और दूसरा उत्तरमिलन है। प्रथम अंक के उस मर्त्यलोकसंबंधी चंचल, सौंदर्यमय तथा अटपटे पूर्वमिलन से स्वर्ग के तपोवन में शाश्वत तथा आनंदमय उत्तरमिलन की यात्रा ही वास्तव में शकुंतला नाटक है। यहाँ केवल विशेषतया किसी भाव की अवतारणा नहीं है और न विशेषतः किसी चित्र का विकास ही है। यह तो सारे काव्य-लोक को इह लोक से अन्य लोक में ले जाना और प्रेम को स्वभावसौंदर्य के देश से मंगलसौंदर्य के अक्षय स्वर्गधाम में उत्तीर्ण करना है।" जो बात शकुंतला में वही बात कवि ने कुमारसंभव में भी संपन्न की है। दोनों काव्यों के विषय प्रच्छन्न-भाव से एक ही हैं। दोनों ही काव्यों में कामदेव ने जिस मिलन-व्यापार को परिपूर्ण करने की चेष्टा की है, उसमें दैवशाप ने विघ्न उपस्थित कर दिया है। वह मिलन असंपन्न और असंपूर्ण होकर अपने परम सुंदर मिलनमंदिर में ही दैवाहत होकर मर गया है। उसके अनंतर दारुण दुःख और दुःसह विरहव्रत द्वारा जो मिलन संपन्न हुआ है, उसकी प्रकृति कुछ और ही है। वह सौंदर्य के अशेष बाह्य आडंबरों को छोड़कर निर्मल वेश में कल्याण की कमनीय कांति से जगमगा उठा है।

हिंदी कवि

जीवन के इस तत्त्व को ध्यान में रखते हुए जब हम अपने हिंदी कवियों की ओर अग्रसर होते हैं, तब हमें उनकी रचनाओं में भी इसका सुंदर परिपाक हुआ दृष्टि-गत होता है। हिंदी साहित्य के सुवर्ण युग में महात्मा रामानंद की

शिष्यपरंपरा में एक ओर कबीर हुए, जिन्होंने निर्गुण परमात्मा के निरंजन रूप को ज्ञान के द्वारा प्राप्त करने का उपदेश दिया और दूसरी ओर भक्तवछल गोस्वामी तुलसीदास हुए, जिन्होंने जनसाधारण के लिए निरंजन ब्रह्म के दर्शन पाना असंभव समझ, श्रीराम के रूप में उसके सगुण रूप की गरिमा गाई। इसी काल में भारतीय अद्वैतवाद तथा सूफी मंतव्यों के संकलन से रहस्यवादी प्रेममार्ग का सूत्रपात हुआ, जो कुतबन तथा जायसी आदि प्रेमगाथाकारों की, प्रस्तुत में अप्रस्तुत का उद्भावन करने वाली भावोन्मुख कृतियों में परिनिष्ठित हुआ। इन्हीं दिनों वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की प्रेरणा से कृष्णभक्ति संप्रदाय का आविर्भाव हुआ, जिसकी परिनिष्ठा भक्तशिरोमणि सूरदास की दिव्यवाणी में हुई। इस प्रकार हमें तत्कालीन भक्ति की एक ही मंदाकिनी कबीर आदि संत कवियों की ज्ञानाश्रयी शाखा निर्गुणोपासना, तुलसीदास की सगुण रामभक्ति, जायसी की सगुणनिर्गुण ब्रह्मनिष्ठा और सूरदास की सगुण कृष्णोपासना इन तीन धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होती दृष्टिगत होती है।

तुलसीदास

भक्तिकाल की उक्त रचनाओं में सौंदर्य तथा त्याग का ऐसा वर्णनातीत सामंजस्य बन आया है कि उसकी प्रतिमा हमें किसी और साहित्य में कठिनता से ही मिल सकेगी। हमारे राष्ट्रीय कवि तुलसीदास ने रामसीता के प्रेम को, वन में बिताए उनके गार्हस्थ्य-

जीवन को और अंत में रावणवधोपरांत सीताराम के पुन-र्मिलन में विलसित हुए भोग तथा वैभव को, लक्ष्मण और भरत के तपोमय ब्रह्मचर्य और अंत में सीतारानी के वनगमन और वहाँ झेले हुए उनके तपःपूर्ण विरह के मंडप में ढक कर हमारे संमुख जीवन समष्टि की एक अभूतपूर्व तपोमयी उत्थानिका संपादित की है। वे अपनी अनुपम रचना मानस में भौतिक जगत् का सर्वतोमुखी व्याख्यान करते करते क्षण भर में उसे अपनी भक्तिरूप अंजनशलाका से रंजित करके आत्मजगत् में परिवर्तित कर देते हैं और पाठक मानवीय जगत् में बैठ मनुष्य के ऊपर बीतने वाली घटनाओं पर हँसते रोते क्षण भर में उस लोकोत्तर क्षेत्र में पहुँच जाता है, जहाँ उसके सब ईहितों तथा चेष्टितों का अवसान है, जहाँ उसके पार्थिव जीवन की सदा के लिए इतिश्री है। तुलसीदास की रचना में यह जो धर्म की मंगलमयी निर्मल मंदाकिनी निर्झरित होती है इसमें कैसी श्री, कैसी शांति, और कैसी संपूर्णता है इसे सहृदय पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं।

रवींद्र तथा गांधी

भारतीय जीवन के आधारभूत इस धर्मतत्त्व को ध्यान में रखते हुए यदि हम बंगला, मराठी अथवा गुजराती साहित्य का अध्ययन करें तो वहाँ भी हमें साहित्य का परिपाक धर्म में ही होता दीख पड़ेगा और इस विषय में हम महाप्रभु चैतन्य, तुकाराम, रामदास, मीरा और नरसिंह मेहता की भक्तिधर्मभरित रचनाओं पर कुछ न लिखते हुए पाठकों का ध्यान बंगला और गुज-

ताती के श्रेष्ठ लेखक श्रीरवींद्र तथा महात्मा गांधी की रचनाओं की ओर आकृष्ट करेंगे, जिन्होंने राजनीति, समाज, अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा इन सब से उत्पन्न हुई अभूतपूर्व उथलपुथल के क्रांतिकारी, आदर्शविहीन इस आधुनिक युग में भी वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा तुलसीदास की भाँति हमारे जीवन और हमारे साहित्य का धर्म के साथ अभूतपूर्व सामंजस्य उपस्थित किया है। दोनों ही में पौरस्त्य तथा पाश्चात्य सभ्यताओं का अद्भुत संकलन हुआ है। दोनों ही पाश्चात्य सभ्यता की वैभवमयी गोद में पले हैं, दोनों ही विज्ञान, व्यवसाय तथा जनतंत्रवाद से उपजी नवयुग की अभिनव सामग्री में जीते हैं, किंतु दोनों ही ने अपनी धार्मिक अंतर्दृष्टि के द्वारा इन सब बातों पर आधिपत्य प्राप्त किया है। भारतीय जीवन का आदर्श इन दोनों की रचनाओं में पराकोटि को पहुँचा है, भारतीय साहित्य का इन दोनों की रचनाओं में सबसे अधिक रमणीय प्रदर्शन हुआ है।

आर्य जाति की दो धाराएँ

प्राचीन आर्यसभ्यता की एक धारा जहाँ भारत में प्रवाहित हुई, वहाँ उसकी दूसरी धारा ने यूरोप को सरसाया है। जिस प्रकार भारत में बहनेवाली धारा रामायण और महाभारत इन दो महाकाव्यों में इस देश के वृत्तांतों और संगीतों को संचित किए चली आ रही है, उसी प्रकार यूरोप की धारा इलियड और ओडेसी इन दो महाकाव्यों में यूरोप के वृत्तांतों और संगीतों को मुखरित करती प्रवाहित हो रही है।

ग्रीक साहित्य

और यद्यपि ग्रीस में ईसा से ४५० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए महाकवि होमर द्वारा एकत्र किए गए इलियड और ओडेसी इन दो महाकाव्यों में सत्य, सौंदर्य तथा स्वातंत्र्य का अत्यंत ही अनूठा संमिश्रण संपन्न हुआ है, तथापि उनमें भारत के समान घटनावलियों का आधार धर्म न होकर राजनीति तथा जातीयता में उद्भावित किया गया है। हम मानते हैं कि सत्य और सौंदर्य ही मनुष्य को स्वतंत्र करते हैं, सत्य और स्वातंत्र्य ही जीवन को सुंदर बनाते हैं और सौंदर्य तथा स्वातंत्र्य ही से सत्य की रक्षा संभव है। किंतु साथ ही हमारी दृष्टि में इन तत्त्वों के अंतस्तल में एक ऐसा समष्टिभूत तत्त्व निहित रहता है, जिसे हम "धर्म" इस नाम से पुकारा करते हैं। इस तत्त्व की होमर की रचनाओं में वैसी परिपक्व अभिव्यक्ति नहीं हुई जैसी वह रामायण तथा महाभारत में संपन्न हुई है। और इसमें एक कारण भी है। हम जानते हैं कि ईसा के जन्म से ८०० वर्ष पहले के ग्रीस देश की दशा में एक परिवर्तन हुआ था, जिसने उस देश के महाकाव्यों को निर्बल बना दिया था। होमर की प्रतिभा अंधकार-युगीय ग्रीस देश में चमकी थी, जब कि कवियों के विचार रसविहीन वर्तमान से उपरत हो रसाप्लावित भूत की ओर झुक रहे थे। किंतु आठवीं बी. सी. तथा उसके पश्चात् आनेवाली सदियों में उत्पन्न हुए ग्रीक नागरिक राज्य, तथा उस देश में विकसित होने वाले औपनिवेशिक आंदोलनों ने ग्रीक विचारधारा को

नवी। क्षेत्रों में प्रवाहित कर दिया। अब ग्रीक कवियों तथा विचारकों का ध्यान उस काल की अशांत परिस्थिति के विश्लेषण में लग गया और उन्होंने अपने साहित्य में उसी प्रकार के अशांत भावों को मुखरित किया, जिनमें वे जी रहे थे। फलतः ७००वीं बी. सी. के पश्चात् ग्रीस में महाकाव्य का स्थान शोकप्रधान अथवा आत्माभिव्यंजनी कविताओं ने ले लिया, जिनकी विशेषता इस बात में थी कि वे महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक संक्षिप्त होती थीं और उनमें उस विविधता तथा वैचित्र्य का उद्गम न हो पाता था जिन में होमर की रचनाएँ आमूलचूल डूबी हुई हैं। इस काल के पश्चात् होने वाली सभी रचनाओं में राजनीति और जातीयता का आधिपत्य है, जिनकी सरिता ने ग्रीस देश से निकल कर शनैः शनैः आज सारे यूरोप और अमेरिका को आप्लावित कर दिया है। इस प्रकार जहाँ हमें भारतीय साहित्य में धार्मिक रागों की वीणा ध्वनित होती सुनाई पड़ती है, वहाँ यूरोप के साहित्य में राष्ट्रनिर्माण तथा उसके साथ संबंध रखनेवाली भौतिक तत्त्वों की अशांत उठ-बैठ दीख पड़ती है। यदि भारत के निर्माताओं ने अनेक चेष्टाओं और परिवर्तनों के भीतर से समाज में धर्म को अनेक रूप देने की भव्य चेष्टा की है, तो यूरोप के राष्ट्रनिर्माताओं ने अनेक चेष्टाओं और अनेक परिवर्तनों के भीतर से राष्ट्रसंघटन की कर्मण्य चेष्टा की है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि भारत में धार्मिक चेष्टा ने अन्य सभी प्रकार की चेष्टाओं पर स्वामित्व

प्राप्त किया है, तो यूरोप में राष्ट्रीय चेष्टा ने अन्य सभी ईहितों पर आधिपत्य स्थापित किया है। धर्म का आंशिक उदय तो वहाँ भी हुआ था, किंतु शनैः शनैः वह भी राष्ट्र का ही एक अंग बन गया है।

पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्य के दृष्टिकोण में भेद

यूरोप की इस भौतिक प्रवृत्ति ने, उसकी इस राष्ट्रनिर्माणेच्छा ने, उसको जीवन की किन किन दारुण घाटियों में उतारा है, उसको नरपात तथा मनस्ताप की कैसी दुःसह घड़ियाँ दिखाई हैं इस बात पर प्रकाश डालने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। उनकी इस प्रवृत्ति ने, उनकी इस अंध भूतपूजा ने, उनके साहित्य में दीख पड़ने वाली अन्य बहुत सी भव्य प्रवृत्तियों को किस प्रकार दबा रखा है, यह बात फ्रैंच, इंग्लिश तथा जर्मन साहित्यों के अनुशीलन से भलीभाँति प्रकट हो जाती है।

कविता क्या है

साहित्य पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि साहित्य उन रचनाओं का नाम है, जिनमें श्रोता अथवा पाठक के मनोवेगों को प्रस्फुरित करने की स्थायी शक्ति विद्यमान हो, और जिनमें रागात्मक, बुद्धयात्मक तथा रचनात्मक तत्त्वों का संकलन हो। साहित्य की इस शक्ति को हमारे आचार्यों ने रसवत्ता के नाम से पुकारा है, और यह रसवत्ता, रचना की जिस किसी भी विधा में संपन्न होती हो, उसे उन्होंने काव्य की संज्ञा देते हुए उसमें कविता, नाटक, चंपू, उपन्यास तथा आख्यायिका आदि सभी का समावेश किया है। प्रस्तुत प्रकरण में काव्य के प्रमुख अंग कविता पर विचार किया जायगा।

कविता के प्रति दो दृष्टिकोण

कविता का सर्वांशपूर्ण लक्षण ढूँढना अत्यंत कठिन है। जिस प्रकार कवित्वरचनाओं की अगणित विधाएँ हैं, उसी प्रकार उसके लक्षणों की भी भारी संख्या है। कविता का लक्षण देने वालों में हमें दो प्रकार के विद्वान् दीख पड़ते हैं; प्रथम वे जो कविता को हृदय की एक उच्छृंखल स्फुरणा समझते हुए उसकी अवज्ञा नहीं तो उपेक्षा अवश्य करते हैं। दूसरे वे—और इनमें कविता के पुजारी

कवियों की संख्या अधिक है—जो कविता को मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट भावों का सर्वोत्तम भाषा में प्रकाशन समझते हुए उसे संसार की सब कलाओं और विभूतियों का अधिराज बताते हैं। कविता के ये पुजारी उसे इतना अधिक उत्कृष्ट तथा पावन मानते हैं कि उनकी दृष्टि में उसका कोई लक्षण हो ही नहीं सकता। इनकी मति में कविता जनसामान्य की दृष्टिपरिधि से बाहर रहने वाली देवी और उनकी दिनचर्या से दूर रहने वाली एक अप्सरा है। सामान्य पुरुषों के साथ उसका संबंध नहीं, और उसके दरबार में जनसामान्य की पहुँच नहीं।

प्रथम कोटि के पुरुष—और इन की संख्या कविता की पूजा करने वाले कवियों से कहीं अधिक है—कविता को केवल चित्त-रंजन का एक साधन समझते हैं। इनकी दृष्टि में कविता ऐसे पुरुषों के मस्तिष्क की उपज है, जिनका संसार में कोई लक्ष्यविशेष नहीं है। ये लोग कविता को किसी सीमा तक हेय वस्तु समझते हैं। इनके विचार में कविता मनुष्य को आचार से च्युत करती है, वह उसकी मानसिक शक्ति को निर्बल बनाती है, उसकी अध्यवसाय तथा निर्धारिणी वृत्ति को शिथिल करती है, वह मनुष्य की बुद्धि में जडता उपजा उसे उमंगों तथा भावनाओं की भँवरी में डालती है, और इस प्रकार उसे सत्य के मार्ग से विमुख नहीं तो उसका उपेक्षी अवश्य बना देती है। इनकी दृष्टि में कविता एक विषैली सुरा है; वह एक अविश्वसनीय सेवक तथा घातक स्वामी है। दानवों की यह सुरा श्रोता और पाठक की मति पर असत्यता का आवरण

डाल देती है। धर्म के नेता कविता को आदि काल से इसी संदेह की दृष्टि से देखते आए हैं। इस बात में उनका व्यावसायिक तथा वैज्ञानिक पुरुषों के साथ ऐकमत्य रहता आया है।

जहाँ कविता पर उक्त प्रकार के आक्षेप करने वालों की कमी नहीं, वहाँ दूसरी ओर ऐसे विद्वानों की भी न्यूनता नहीं जो कविता का लक्षण करते हुए उसे ऐसी आश्चर्यमयी कला के रूप में उत्थापित करते और उसके महत्त्व को ऐसे चाँद लगाकर दिखाते हैं कि संसार में उस के समान दूसरी कोई भी निधि नहीं ठहरती। शेले के अनुसार कविता "स्फीत तथा पूततम आत्माओं के रमणीय क्षणों को लेखा है" तो मैथ्यू आर्नल्ड की दृष्टि में वह न केवल "मनुष्य की परिष्कृततम वाणी ही है, अपितु वह उसकी ऐसी वाणी है, जिसमें और जिसके द्वारा वह सत्य के निकटतम पहुँच जाता है।" जब कवि लोग अपने दाय की इस प्रकार प्रशंसा करते हैं, तब जनसामान्य के मन में एक प्रकार का संदेह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है और वह इस दाय को यथार्थ रूप में देखने के लिए प्रयत्नशील होता है।

ऊपर निदर्शित किए गए दोनों ही दृष्टिकोण किसी अंश में सच्चे हैं तो दूसरे अंशों में असत्य हैं। दोनों में सामंजस्य उपस्थित करने के लिए जहाँ हमें कवियों के लक्षणों में से चमत्कार तथा भावना के नीहार को दलित करना होगा वहाँ दूसरी कोटि के दृष्टिकोण की उस वृत्ति को भी पराभूत करना होगा जिस से आविष्ट रहने के कारण ये व्यावसायिक अपने प्रतिदिन के उद्योग-

धंधों की उधेड़बुन से बाहर नहीं निकल पाते और इस प्रकार जीवन की उन मंगलमयी विभूतियों से वंचित रह जाते हैं, जिनके अभाव में मनुष्य का जीवन मरुभूमि बन जाता है। और इस उद्देश्य से हमें कविता के लक्षणों पर किंचित् विस्तार के साथ विचार करना होगा।

कविता का लक्षण

साहित्य की व्याख्या करते हुए हमने उसे दो भागों में विभक्त किया था; प्रथम उसका आत्मा अर्थात् भावपक्ष और दूसरा उसका शरीर, अर्थात् कलापक्ष। कविता भी साहित्य ही का एक चमत्कृत रूप है; फलतः इसे भी हम इसके आत्मा और शरीर इन दो भागों में बाँट सकते हैं। कविता का लक्षण करने वाले आलोचकों में से कतिपय ने उसके आत्मा अर्थात् भावपक्ष पर अधिक बल दिया है और दूसरों ने उसके शरीर अर्थात् कलापक्ष पर; और यही कारण है कि दोनों ही कोटि के लक्षण संतोषजनक नहीं निष्पन्न हो पाए।

आलंकारिकों के कलापक्ष में भी कविता का लक्षण नहीं मिलता

इसमें संदेह नहीं कि "कविता" इस शब्द के कान में पड़ते ही जनसामान्य की बुद्धि में उस छंदोमयी भाषा का उत्थान होता है, जिसमें विशेष प्रकार का लय अथवा ताल निहित हो। इनकी दृष्टि में जो गद्य नहीं वही कविता है; और अपने मत की पुष्टि में वे आलंकारिकों द्वारा किए गए कविता के उन लक्षणों को प्रस्तुत करते हैं जिनके अनुसार कविता विविध विचारों को व्यक्त करने वाली छंदोमयी ललित तथा चम-

त्कारपूर्ण भाषा ठहरती है। कहना न होगा कि कविता का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, क्यों कि हमारे यहाँ गणित, ज्योतिष तथा व्याकरण आदि नीरस विषयों की भी छंदोमयी भाषा में आयोजना की गई है; किंतु कोई भी रसिक पाठक गणित की पुस्तक लीलावती को, उसके छंदोबद्ध होने पर भी कविता नाम से न पुकारेगा।

भावपक्ष की दृष्टि से कविता का लक्षण ढूँढने में कठिनता

कविता के कलापक्ष को छोड़ जब हम उसके भावपक्ष पर ध्यान देते हुए उसका लक्षण ढूँढते हैं, तब भी हमें उसका कोई संतोषजनक लक्षण नहीं प्राप्त होता। इस दृष्टि से किए गए लक्षणों में से कुछ में अव्याप्ति और दूसरों में अतिव्याप्ति दोष तो है ही, ध्यान से देखने पर हम उन्हें सच्चा लक्षण भी नहीं कह सकते; क्यों कि इनमें से किसी में भी कविता का लक्षण नहीं, अपितु कुछ में उसकी मनोहारिणी शक्ति की प्रशंसा, कुछ में उसके रमणीय गुणों का निदर्शन और अन्यों में कवि की चित्तवृत्ति का, उसके उन विचारों और भावों का वर्णन किया गया है, जिन से कविता की उपपत्ति होती है।

कवि शब्द की ग्रीकोभारतीय व्युत्पत्ति के अनुसार कविता के विविध लक्षण

जिस प्रकार भारतीय आर्यों ने गानवाची √कू धातु से कवि शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके संगीत पक्ष पर अधिक बल दिया है उसी प्रकार प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने निर्माणवाची √poies धातु से poet शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके कल्पना और आविष्कार-

पक्ष पर अधिक बल दिया है। फलतः हम बेन जॉन्सन तथा चैपमैन को, अरस्तू का आश्रय लेकर, कविता के आविष्कार तथा छंदोविचयनपक्ष पर बल देता हुआ पाते हैं। मिल्टन की इस उक्ति में कि "कविता सरल, ऐंद्रिय तथा भावपूर्ण होनी चाहिए" कविता के सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है, किंतु यह भी कविता का वर्णनमात्र है, उसका लक्षण नहीं। गोइटे तथा लैंडर की दृष्टि में कविता प्रत्यक्षत: एक कला है; उन्होंने इसकी रचनाशैली तथा चमत्कारिणी प्रकाशनशक्ति पर बल दिया है। दूसरी ओर कतिपय कवियों ने कविता के भाव तथा कल्पनापक्ष पर बल देते हुए उसके आत्मा को परिपुष्ट किया है। इस वर्ग के नेता संभवत: महाकवि वर्ड्सवर्थ हैं। उनके अनुसार कविता "राग के द्वारा सत्य का हृदय में सजीव पहुँचना है।" दूसरे वाक्य में वे कविता को "ज्ञान का आदिम तथा चरम रूप" बताते हैं। एक दूसरे प्रकरण में कविता उनके अनुसार "ज्ञानसमष्टि का उच्छ्वास और उसका सूक्ष्म आत्मा" बन कर हमारे संमुख आती है। किंतु अंत में अपने परिपक्व विचारों को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं कि "कविता सबल भावों का स्वत:-प्रवर्तित प्रवाह है; इसकी उत्पत्ति प्रसाद में एकत्र हुए मनोवेगों से होती है।" रस्किन ने भी वर्ड्सवर्थ का अनुसरण करते हुए कविता को "कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करने वाली" बताया है।

कतिपय अन्य विद्वानों ने कविता का लक्षण करते हुए उसके

रहस्यमय पक्ष पर अधिक बल दिया है। इस कोटि के लेखकों में शैले ने कविता को "श्रेष्ठ तथा रुचिरतम हृदयों के श्रेष्ठ तथा भव्यतम क्षणों का लेखा" बताकर उसे "कल्पना का प्रकाशन" निर्धारित करते हुए उसकी प्रकाशनी तथा उद्दीपनी शक्ति पर बल दिया है। कविता की निर्माणमयी वृत्ति पर अधिक ध्यान न दे उसकी उद्दीपन शक्ति को मन में रख कर ही एमर्सन ने उसे "वस्तुजात के आत्मा को प्रकाशित करने का सतत उद्योग" निर्धारित किया है। इसी दिशा की ओर एक पग और आगे बढ़ा ब्राउनिंग ने कविता को "विश्व की देव के साथ, भूत की आत्मा के साथ, और सामान्य की आदर्श के साथ होने वाली संगति का उत्थापन" निदर्शित किया है। मैथ्यू आर्नल्ड का वह लक्षण, जिस के अनुसार कविता "कवीय सत्य और कवीय सौंदर्य के नियमों द्वारा निर्धारित की गई परिस्थितियों में किया गया जीवन का व्याख्यान है" रमणीय होने पर भी अस्पष्टता दोष से दूषित है। क्योंकि हम क्या जानें कि जीवन का व्याख्यान कसे कहते हैं, और जब तक हम "कविता क्या वस्तु है" इस बात को न जान जाएँ, तब तक हमारे लिए कवीय सत्य और कवीय सौंदर्य का पहचान लेना असंभव है। हर्बर्ट रीड के अनुसार कविता "मनोवेगों को अनिरुद्ध छोड़ देना नहीं, अपितु उन से मुक्ति पाना है; यह व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं, अपितु व्यक्तित्व से मुक्ति पा जाना है।" सुप्रसिद्ध इटालियन विद्वान् विको कविता को

उक्त व्युत्पत्ति से स्वतंत्र कविता के लक्षण

"असंभव को विश्वसनीय बनाने वाली" बताता है। कतिपय विद्वानों के संमुख कविता का रहस्यमय पक्ष इतना अधिक अभिचारी बन कर आया है कि उन्होंने उसको निदर्शित करने का प्रयत्न ही करना छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए, डाक्टर जॉहन्सन, जिन्हें मूर्त निदर्शनों का बड़ा ही शौक था—कविता के विषय में कुछ न कह कर उसकी सारवत्ता को इस प्रकार के पंगु शब्दों में व्यक्त करते हैं, "हम सब जानते हैं कि प्रकाश क्या वस्तु है, किंतु हम में से कोई भी यह नहीं बता सकता कि वह क्या है और कैसा है।" इसी तरंग में बहते हुए महाशय कोलरिज लिखते हैं "कविता का पूरा पूरा आस्वादन तभी मिलता है, जब वह भली-भाँति समझ में न आ सके।" प्रोफेसर हाउसमान भी अपनी इस उक्ति में कि "कविता वह वस्तु है, जो उनकी आँखों में आँसू भर देती है" इसी निराश्रयता का अंचल पकड़ते हैं।

दूसरी ओर कतिपय विद्वानों ने कविता के आवश्यकता से अधिक लंबे लक्षण किए हैं। इन विद्वानों में ले हंट भी एक हैं, जिन्हों ने अपने कविता क्या है नामक प्रबंध में लिखा है कि "कविता सत्य, सौंदर्य तथा शक्ति के लिए होने वाली वृत्ति का मुखरण है; यह अपने आपको प्रत्यय, कल्पना तथा भावना के द्वारा खड़ा करती और निदर्शित करती है; यह भाषा को विविधता तथा एकता के सिद्धांत पर स्वरलयसंपन्न करती है।" इसी प्रकार अध्यापक स्टेडमान कविता को "मानवहृदय के आविष्कार,

रुचि, विचार, वृत्ति तथा अंतर्दृष्टि को प्रकाशित करने वाली लय-युक्त, कल्पनामयी भाषा" बताते हैं।

उक्त लक्षणों में दोष : कविता का सरल लक्षण

ऊपर निर्दिष्ट किए गए कविता के सभी लक्षण सच्चे हैं, किंतु इनमें से एक का भी साहित्य के उस लक्षण के साथ प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, जिस पर हम प्रस्तुत पुस्तक के पहले प्रकरण में विचार कर आए हैं, और जिसका, क्योंकि कविता भी साहित्य ही का एक अंग है, इस लिए इसके साथ प्रत्यक्ष संबंध होना सुतरां आवश्यक है। प्रसिद्ध समालोचक कोलरिज—जिन का अनुशीलन इस प्रकार के विषयों में अत्यंत विशद तथा गहन होता है—लिखते हैं "कविता का प्रतीप गद्य नहीं, अपितु विज्ञान है;" और यह बात है भी सच। किंतु यदि प्रस्तुत पुस्तक के आरंभ में दिया गया साहित्य का लक्षण दोषरहित है तो न केवल कविता का, अपितु सारे साहित्य ही का विज्ञान के साथ प्रातीप्य ठहरता है। हमने कहा था कि किसी रचना को हम साहित्य उसकी मनोवेगों को स्फुरित करने वाली शक्ति के आधार पर कहते हैं। साहित्य की कुछ विधाओं का—जैसे कि इतिहास का—प्रमुख ध्येय मनोवेगों को तरंगित करना न होकर कुछ और ही हुआ करता है; उसकी कुछ और विधाओं में—जैसे कि वक्तृता में—मनोवेगों को तरंगित करना स्वयमेव ध्येय न होकर उद्देश्य-विशेष को प्राप्त करने का साधनमात्र होता है। किंतु साहित्य की एक विधा वह भी है, जिसका प्रमुख लक्ष्य मनोवेगों को तरंगित

करना और उसके द्वारा श्रोता अथवा पाठक के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना है। साहित्य की इस विधा में वे सभी (कविता आदि) रचनाएँ संमिलित हैं, जो यदि पाठक को किसी प्रकार का उपदेश देती हैं तो वह भी अप्रत्यक्ष रूप से; यदि वे उसकी इच्छा अथवा आचार को नियमित करती हैं तो वह भी अनजाने में; और जिनका प्रमुख लक्ष्य उसके हृदयमें निहित हुई आनंद-दायिनी भावनाओं को स्वयं उन्हीं के लिए उद्दीप्त करना होता है। साहित्य की इस विधा के लिए हमारे पास कोई संज्ञाविशेष नहीं है; हम चाहें तो इसे **भावनाओं का साहित्य** अथवा **विशुद्ध साहित्य** इस नाम से पुकार सकते हैं। साहित्य की इस विधा को हम चाहे जो भी नाम दें, हम इसे इसकी रचनाशैली के अनुसार इसकी उपविधाओं में विभक्त कर सकते हैं; **और साहित्य की इन उपविधाओं में एक विधा वह भी है, जिसकी रचना पद्यमयी होती है**। साहित्य की इसी उपविधा को हम **कविता** कहते हैं। अब, यदि उस साहित्य के लिए—जिस का प्रमुख लक्ष्य मनोवेगों को तरंगित करना है—हमारे पास कोई विशेष संज्ञा हो तो हमारे लिए कविता का लक्षण करना सहज हो जाता है। और यदि हम उस साहित्य को **मनोवेगों का साहित्य** इस नाम से पुकारें तो हमारा कविता का लक्षण यह होगा कि **कविता मनोवेगों के साहित्य की वह विधा है, जिसकी रचना छंदों में होती है**। और यदि हम लक्षण के झमेले से निकल कविता को समझाने का यत्न करें तो हमारा कहना यह होगा कि **कविता साहित्य**

की वह विधा है, जिस का लक्ष्य मनोवेगों को तरंगित करना है, और जो छंदों में लिखी जाती है। कविता में अनिवार्य-रूप से रह कर उसको लक्षित करने वाले दो तत्त्व ये हैं; प्रथम, मनोवेगों को तरंगित करना, द्वितीय छंदों में खड़ी होना। जिस किसी भी रचना में इन दो तत्त्वों की उपलब्धि हो उसी को हम कविता कहते हैं, और केवल उसी को और किसी को नहीं। यदि किसी रचना में पहला तत्त्व विद्यमान है पर दूसरे का अभाव है तो उसे हम गद्यसाहित्य कहेंगे। उदाहरण के लिए, जैसे भट्टबाण की कादंबरी: इसमें मनोवेगों का तरंगन चरम कोटि का है, किंतु कविता के द्वितीय अंग अर्थात् छंदोमयता का अभाव है। अंग्रेजी में डिकेंसी और रस्किन के निबंध इसी श्रेणी के हैं। दूसरी ओर यदि कोई रचना छंदोमय होने पर भी हमारे मनोवेगों को नहीं तरंगित करती तो वह लीलावती के समान पद्य की सर्वोत्कृष्ट वेषभूषा से भूषित होने पर भी कविता कहाने की अधिकारिणी नहीं है। और इस प्रकार उक्त लक्षण के अनुसार कविता वाच्य और वाचक दोनों ही की दृष्टि से साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना ठहरती है। साहित्य का मार्मिक लक्षण, अर्थात् मनोवेगों को तरंगित करना, कविता के क्षेत्र में आ उसका प्रमुख लक्ष्य बन जाता है; और रचना की शैली, जो साहित्य की अन्य विधाओं में सामान्य रूप से परिष्कृत होती है, यहाँ आकर सौंदर्य तथा चमत्कार की पराकोटि पर पहुँच जाती है।

कविता के इस लक्षण पर आपत्ति और उसका परिहार

कविता के उक्त लक्षण पर यह आपत्ति की जा सकती है कि यह आवश्यकता से अधिक संकुचित है और इसकी उन पद्यबंध रचनाओं में अव्याप्ति है, जिन का प्रमुख ध्येय पाठक के हृदय में आनंदप्रसूति न होकर उन्हें उपदेश देना है, जैसे संस्कृत में भर्तृहरि के तीन शतक और अंग्रेजी में पोप का एस्से ऑन मैन; किंतु इन दोनों रचनाओं को सभी देशी और विदेशी पाठक चलती कविता मानते आए हैं। किंतु ध्यान से देखने पर उक्त आक्षेप निराधार ठहरता है; क्योंकि सब प्रकार की यथार्थ कविताओं का प्रमुख लक्ष्य, चाहे वे कितनी भी उपदेशपर क्यों न हों, प्रत्यक्षतः मनोवेगों को तरंगित करना होता है, न कि उपदेश देना। उपदेश देना तो उनकी गौण वृत्ति होती है। और यदि सचमुच इनका प्रमुख लक्ष्य उपदेश देना ही होता तो इनकी रचना पद्य में न होकर गद्य में होनी अधिक उपयुक्त होती; क्योंकि निःसंदेह उपदेश देना पद्य की अपेक्षा गद्य में कहीं अच्छी तरह किया जा सकता है। हम मानते हैं कि सभी प्रकार के साहित्य का चरम लक्ष्य जीवन को सत्यान्वेषी बनाना है, किंतु जहाँ गद्य-रचनाएँ जीवन को सत्याभिमुख बनाने के लिए सत्य का प्रवेश हमारे मस्तिष्क में करती हैं, वहाँ कविता उसका प्रवेश हमारे हृदय में करके उसे वहाँ चिरस्थायी बना देती है; किंतु सत्य का यह प्रवेश भी कविता की मुख्य वृत्ति न हो उसकी गौण वृत्ति हुआ करती है।

हम मानते हैं कि उपदेशपर कविता भी यथार्थ कविता हो सकती है, किंतु यथार्थ कविता होने पर भी वह कविता के उस उन्नत आदर्श पर नहीं पहुँच पाती जहाँ हमारा जीवन एकांततः भावनाओं का भवन बन जाता है, जहाँ धर्माधर्म, सुखदुःख, तथा कर्त्तव्याकर्तव्य के द्वंद्व दलित होकर आत्मा की सत्ता चिदानंद-मात्र रह जाती है।

एक बात और; सब जानते हैं कि हमारे मनोवेगों में उत्कट तरंगें तभी उठती हैं, जब हम कलाकार के द्वारा उत्थापित किए गए व्यक्तियों और उन पर बीती घटनावलियों को मूर्त रूप में अपने संमुख स्पंदित होता देखते हैं। अमूर्त तथा भावरूप सत्य को अग्रसर करने वाली उपदेशपर कविता में यह बात उतनी भव्यता से नहीं संपन्न हो पाती। इस प्रकार की कविता से उत्पन्न होने वाले मनोवेगों में वह उत्कटता और घनता नहीं आ पाती, जो मूर्त व्यक्तियों और उन पर बीतने वाली घटनाओं को निदर्शित करने वाली कविता में परिपक्व हुआ करती है।

कविता और अन्य प्रकार के साहित्य में भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि कविता और उससे भिन्न प्रकार के साहित्य में यह भेद है कि जहाँ कविता का प्रकाशन छंदों में होता है, वहाँ साहित्य की दूसरी विधाओं का प्रवाह गद्य में बहा करता है। किंतु कविता के इस कलापक्ष की उत्पत्ति किन्हीं बाह्य आवश्यकताओं तथा तत्त्वों से नहीं होती; इसका उत्थान तो कविता की अपनी आंतरिक आवश्यकता तथा शक्ति से संपन्न

होता है। क्योंकि जहाँ गद्य में प्रवाहित होने वाले साहित्यसामान्य का लक्ष्य विशेष विशेष बिंदुओं पर मनोवेगों को कीलित करना होता है, वहाँ कविता प्रतिपंक्ति और प्रतिपद मनोवेगों की भाषा बन कर खड़ी होती है। और यह एक सामान्य तथ्य है कि जब हमारे मनोवेगों में उत्कटता आती है, तब हमारी भाषा में भी तदनुसारिणी नियमितता स्वयमेव उपस्थित हो जाती है और भाषा की इसी नियमबद्धता को हम उसके परिष्कृत रूप में छंद इस नाम से पुकारते हैं। इसी लिए हम देखते हैं कि जब कभी भी उत्कट मनोवेगों को मुखरित करने वाली छंदोमयी रचना को गद्य में परिवर्तित किया जाता है, तभी उसके विन्यास और सौष्ठव में वक्रता आ जाती है और उसकी छंदोबद्धता में संपुटित हुआ आनंद फीका पड़ जाता है।

कविता और संगीत

और इस तथ्य के समर्थन में कि उत्कट भावनाओं की अभिव्यक्ति गद्य की अपेक्षा पद्य में भव्य बन पड़ती है हम कहेंगे कि जब हमारे भावनातंतुओं के साथ किसी भी अन्य साहित्यिक तत्त्व (विचार आदि) का संकलन नहीं होता, तब वे संगीतपट पर ग्रथित हो घन बन जाते हैं और हमारी भाषा मूकता में परिणत हो जाती है। तब केवल संगीत तथा भावना शेष रह जाते हैं और साहित्य की निष्पत्ति नहीं होती। इस के विपरीत ज्यों ही भावनाओं के इस आवेश में साहित्य के बौद्धिक तत्त्व विचार आदि की अर्चना आ जाती है, त्यों ही वह आवेश कविता के रूप में

प्रवाहित हो पड़ता है और हमारी भाषा संयमित तथा सुघटित हो छंदोमयी बन जाती है। फलतः यदि हम कविता को उत्कट भावनाओं की संतति स्वीकार करते हैं तो छंदोमयता उस का नैसर्गिक गुण अथवा अवयव बन जाता है और कविता के भाव और कला दोनों पक्ष एक दूसरे से अविभाज्य बन जाते हैं।

कविता और उपन्यास

और जब हम अपने मस्तिष्क में इस तथ्य को आरूढ कर लेते हैं कि **कविता मनोवेगों की भाषा है,** तब कविता और उपन्यास में दीख पड़ने वाला आंगिक भेद हमारे सामने और भी अधिक विशद हो जाता है। और इस विषय में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि **कविता उपन्यास की अपेक्षा संक्षिप्त होती है;** यह इसलिए नहीं कि मनुष्य के मनोवेग अल्पजीवी होते हैं; भावों की अल्पजीविता तो आत्माभिव्यंजिनी कविता को संक्षिप्त करने में कारण बनती है, क्योंकि यहाँ कवि जीवन की किसी एक उत्कट भावना को लेकर उसके आधार पर अपनी तूलिका चलाता है, और उस भावना के मंद पड़ जाने पर अपनी तूलिका थाम देता है। किंतु आत्माभिव्यंजिनी रचना को जन्म देने वाले मनोवेगों से भिन्न प्रकार के प्रलंब मनोवेग भी होते हैं, जिनकी संतति को यदि कवि चाहे तो पर्याप्त समय तक उत्कट बनाए रख सकता है; और उसकी इस जीवनप्रलंबिनी प्रक्रिया में ही महाकाव्यों का उदय होता है। किंतु इन प्रलंबित मनोवेगों की भित्ति पर अंकित किए गए महाकाव्य की अपेक्षा उन्हीं के आधार पर खड़ा होने वाला उपन्यास कहीं अधिक

बृहत् तथा विपुलकाय होता है; क्योंकि जहाँ कविता को—क्योंकि यह निसर्गतः मनोवेगों को वहन करने वाली भाषा है—कथा के भीतर आने वाली उन सब बातों को तज देना होता है, जिनका मनोवेगों के साथ प्रत्यक्ष संबंध न हो, वहाँ उपन्यास के भीतर ऐसी सब प्रासंगिक बातों का समावेश हो जाना अपेक्षित होता है, जो किसी न किसी प्रकार से चरित्रचित्रण में सहयोग देती हों। अब, यदि हमारी प्रस्तुत कविता एक महाकाव्य हुआ तो यह कथा के उन्हीं तुंगों पर ठहरेगी, जिनके भीतर कथा का आत्मा घनीभूत होकर अनुप्राणित हुआ है। कविता में अंतर्भूत हुई घटनाएँ भी उपन्यास की अपेक्षा न्यून होंगी; किंतु जो होंगी वे होंगी सबल और शक्तिसंपन्न। एक कवि को अपने कथावस्तु में अनावश्यक वक्रता और संकुलता लाने की स्वतंत्रता नहीं होती, क्योंकि ऐसा करने पर कविता में बहुत से ऐसे वर्णनों का लाना अनिवार्य हो जाता है, जिनका कवित्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं होता और जिनके प्रविष्ट हो जाने पर कविता की घनता पिघल जाती है। इसी कारण कविता के भीतर वर्णित हुई घटनाओं को व्यंजनागर्भ होने पर भी विश्लेषण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि आवश्यकता से अधिक मात्रा में होने वाला विश्लेषण भी कविता के प्रभाव को सांद्र तथा सजीव नहीं रहने देता। कविता में मनोवेगों का निदर्शन कराया जाता है, उनका वर्णन नहीं; फलतः किसी भी प्रकार का मनोभावों का वर्णन अथवा उनका विश्लेषण कवि के लिए हेय नहीं तो अनावश्यक अवश्य है; और

इसीलिए कविता में होने वाला गिरि नदी आदि का वर्णन भावमय होना चाहिए; उसमें स्थाननिदर्शन आदि परित्याज्य हैं। और यह बात स्पष्ट है कि भावमय वर्णन विस्तृत न होकर सदा नियमित हुआ करते हैं, वे पोले न होकर सदा ठोस और सजीव हुआ करते हैं।

कविता और उसका संस्थान

कहना न होगा कि जिस क्षण हम कविता को मनोवेगों की भाषा स्वीकार करते हैं उसी क्षण हम उसकी सरणि तथा संस्थान (diction and structure) को भी उसका आवश्यक अंग मान लेते हैं। जहाँ कविता की भाषा अपनी छंदोमयता के कारण गद्य की भाषा से भिन्न प्रकार की होती है, वहाँ अपनी संगीतमयता के कारण भी वह उससे पृथक् रहा करती है। और यद्यपि वर्ड् सवर्थ जैसे महाकवियों ने भी गद्य और पद्य की भाषा में होने वाले अंतर का प्रत्याख्यान किया है, तथापि जनसामान्य के अनुभव में जो एक प्रकार का विशेष संगीत पद्य में पाया जाता है वह गद्य की ललित से ललित भाषा में भी उपलब्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए बाणभट्ट की सर्वगुणविभूषित कादंबरी के अत्यंत चमत्कृत गद्य में भी हमें उस संगीत की श्रुति नहीं होती जो हमें कालिदास के मेघदूत में आद्योपांत लहराता दीख पड़ता है। इसी प्रकार अंग्रेजी की रुचिरतम रचनाओं में से एक पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस नामक रचना के विविधगुणविभूषित गद्य में हमें उस संगीत की लय नहीं सुनाई देती जो हमें शेक्सपीअर अथवा शैले की पद्यमयी रचनाओं

में उपलब्ध होती है। इस बात का कारण यह है कि जहाँ गद्य के निर्वाचित अंशों में मनोवेगों को तरंगित करने की क्षमता होती है, वहाँ आदर्श पद्य की प्रतिपंक्ति में और प्रतिपद में यह योग्यता संनिहित रहती है। **कविता समष्टिरूप से मनोवेगों की भाषा है, तो गद्य आंगिक रूप से भावनाओं को स्फुरित करता है।**

कवि दैवज्ञ होता है

और क्योंकि कविता प्रत्यक्ष रूप से मनोवेगों की भाषा है, इसलिए उसके निर्माता में एक प्रकार की दैवज्ञता का आ जाना स्वाभाविक है। जगत् को उस की समष्टि में देखने के कारण कवि किसी अंश तक भूत, भविष्यत् और वर्तमान का निर्माता बन जाता है। उसकी इस निर्माणमयी अंतर्दृष्टि के कारण ही ग्रीक आचार्यों ने उसे निर्माता इस नाम से पुकारा है, और हीब्र्यू भाषा में तो कवि और भविष्यवक्ता दोनों के लिए शब्द ही एक है। और जब हम कवि की इस निर्माणमयी दिव्य शक्ति पर ध्यान देते हैं तब कविता के ये लक्षण कि **वह ज्ञान का उच्छ्वास और उसका सर्वतोरुचिर आत्मा है—वह जीवन की आलोचना है** बड़े ही अनूठे और रहस्यमय दीख पड़ते हैं। जब हम किसी विश्वकवि की रचना को पढ़ते हैं तब हमें उसके रचयिता में दिव्यद्रष्टृत्व का भान होता है। प्रतीत होता है मानो वह कवि अपने हाथों अपना जगत् बना कर उसकी व्याख्या करता है, वह अपने रचे काल्पनिक जगत् में हमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी की झलक दिखा रहा है। यदि ऐसा न हो तो रामायण पढ़ते समय हम सहस्रों वर्ष पूर्व

हुए राम को आज भी अपनी आँखों के संमुख खड़ा हुआ कैसे देखें; और कैसे देखें यह कि भविष्य में भी इसी प्रकार की सृष्टि चलेगी जैसी रामायण के युग में चल रही थी। वाल्मीकि की रचना को पढ़ते समय प्राप्त हुआ यह त्रिकालदर्शन विचारों के साथ संबंध नहीं रखता; यह तो हमारे मनोवेगों की उत्कटता द्वारा घनीभूत होकर हमारी आँखों का विषय बन जाता है। हम कालिदास की शकुंतला को पढ़ते समय दुष्यंत और शकुंतला की कथा नहीं पढ़ते; उस समय तो वे अपने भौतिक शरीर में परिणद्ध हो हमारे संमुख आ विराजते हैं और उन सब घटनाओं की फिर से आवृत्ति करते हैं, जो उन्होंने आज से सहस्रों वर्ष पहले कभी की थीं। कवि की दृष्टि में इस निर्माणमयी त्रिकालदर्शिता की उपपत्ति इस बात से होती है कि वह जीवन को उसके भिन्न भिन्न व्यक्तिरूपों में नहीं देखता; वह तो भूत, वर्तमान और भविष्यत् के अगणित जीवनों की समष्टि को देख उनकी तली में से जीवन का ऐसा प्रतिरूप उत्थापित करता है, जो प्रतिक्षण परिवर्तित होने पर भी तिल भर नहीं बदलता, जो तीनों कालों और सब देश तथा परिस्थितियों में सूर्य के समान अविच्छिन्नरूप से प्रकाशित होता रहता है। हम देखते हैं कि हमारा जीवन प्रतिक्षण बदलता रहता है; हमारे चहुँओर परिस्थित द्रव्यजात भी प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। इस परिवर्तन का नाम ही तो संसार, जगत् तथा जीवन है; कवि इस परिवर्तनशील अनंत जगत् के किसी एक परमाणु को ले, उसे अपनी अंतर्दृष्टि के बृहत्प्रदर्शक ताल

(magnifying glass) द्वारा शतधा, सहस्रधा विशाल बना कर, उसके वर्तमान क्षण में, उसके अमित अतीत तथा प्रतुल भविष्य को प्रतिबिंबित करके दिखा देता है। बस इसी में उसकी निर्मायकता और भविष्यवक्तृता का रहस्य है।

कविता आदर्श-मयी भाषा है।

और जब हम कविता में उद्भूत होने वाले उक्त तत्त्वों को भलीभाँति हृद्गत कर चुकते हैं तब हम कविता के उस उच्चतम लक्षण की ओर अग्रसर होते हैं, जो कविता और जीवन के मध्य विराजमान संबंध को बहुत ही भव्य रूप में उपस्थित करता है। इस लक्षण के अनुसार कविता आदर्शित भाषा (patterned language) ठहरती है। इस लक्षण के अनुसार कविता की प्रमुख विशेषता और गद्य से होने वाला उसका भेद इस बात में है कि यह भाषा को आदर्श में परिणत करती हुई उसे न केवल भावाभिव्यक्ति के सामान्य उद्देश्य के लिए, न केवल अपने उस चमत्कारपूर्ण ध्येय के लिए जिसमें अर्थ का प्रकाशन चमत्कारपूर्ण होता हुआ श्रोता तथा पाठक की कलात्मक रुचि को चेतन करता है, व्यवहृत करती है, अपितु उसे इस प्रकार उपयोग में लाती है कि वह परिष्कारक विधान के (designing)—जिसे हम आदर्श अथवा नमूने के नाम से पुकारते हैं—नियमों में ढल जाती है।

कविता के उक्त लक्षण को विवृत करने के लिए हम कहेंगे कि जब हम कविता की परिभाषा करते हुए उस में तथा भाषा की उच्चारण और लेखात्मक विधाओं में भेद दर्शाना चाहते हैं

तब हमारे लिए केवल यही कहना पर्याप्त न होगा कि कविता एक ऐसी भाषा है जिसमें विधान (design) हो और जो चमत्कारिणी गरिमा से अन्वित हो, क्योंकि परिष्कार के ये उपकरण तो सभी सुंदर, उदात्त तथा उन्नत भाषा में पाए जाते हैं। कविता का अपना निजू गुण तो कुछ और ही है; इसे हम चमत्कार अथवा निर्माणसंबंधी गुण के नाम से पुकार सकते हैं। क्योंकि सभी वास्तविक कलाओं के मूल में एक बात पाई जाती है और वह है यह कि वास्तविक कला की परिधि में निर्मेय तथा चमत्करण में भेद नहीं रहता; एक की सत्ता दूसरे की सत्ता को अनिवार्यरूप से सिद्ध करती है; और कलाविषयक इसी तथ्य को कविता पर घटाते हुए हम कहेंगे कि कविता में निर्मेय और चमत्कार दोनों अभेदात्मक संबंध द्वारा भाषा में निहित रहते हैं। आदर्श, उस चमत्कृत निर्माण के अभाव में, जिसके द्वारा कि वह अपने आप को इंद्रियों का विषय बनाता और इस प्रकार हमारे मनोवेगों को तरंगित करता है, विज्ञान का विषय है न कि कला का। दूसरी ओर, अकेला चमत्करण, उस आदर्श अथवा ढाँचे के अभाव में, जिस पर मुद्रित हो वह अपने आपको मूर्त बनाता है—नहीं के तुल्य है। आदर्श और चमत्कार के इस सामंजस्य में ही सौंदर्य का उद्भव है और दोनों के मार्मिक संकलन में ही कला की अर्थवत्ता है। कविता का उक्त लक्षण तो साहित्य की सभी

कविता में चमत्कार तथा चमत्कार्य दोनों का अभेद

विधाओं पर घटाया जा सकता है किंतु कविता का वह अपना निजू गुण, जो उसे साहित्य की अन्य श्रेणियों से परिच्छिन्न करता है, यह है कि कविता अपने विधान (constiuction) तथा चमत्करण में आदर्श के नियमों पर खड़ी होती है और एक आदर्श का रहस्य इस बात में है कि उसमें आवृत्ति (Repeat) नामक तत्त्व निहित रहा करता है। आदर्श का उद्भव होता है एक आवृत्त अवयव (unit) से; और आदर्श को उत्थापित करने वाले की कलावत्ता केवल इतने ही से व्यक्त नहीं होती कि उसने आवृत्त (Repeat) को यंत्रनिर्माण (mechanism) की दृष्टि से संपन्न करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है, प्रत्युत आवृत्त (Repeat) को इस प्रकार उपयुक्त करने में होती है कि उसके सारे क्षेत्र में, जिसमें कि आवृत्त का प्रसार है, अपना एक निजू सौंदर्य तथा अपनी एक अनोखी एकता, जो आवृत्त (unit) अवयव के गुणों से निष्पन्न होने पर भी उन से भिन्न प्रकार की है, उत्थित हो जाय। सब जानते हैं कि समानाकार बिंदुओं की एक पंक्ति आदर्श का एक अनुद्भूत रूप है। इन बिंदुओं को वर्ग के रूप में लाकर उस वर्ग की आवृत्ति की जा सकती है। इन आवृत्त वर्गों अथवा संघों का फिर से एक विशालतर विधान (design) के रूप में वर्गीकरण किया जा सकता है; और फिर उसकी भी आवृत्ति की जा सकती है; और इस प्रकार यह शृंखला चलाई जा सकती है। इतना ही नहीं, जब इस आदर्श की क्लृप्ति यंत्र से न कर हाथ द्वारा की जाती है तब उसमें एक प्रकार की

नति (flaxibility) का आ जाना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में आवृत्त की तत्ता में किंचित् अंतर आ जाने पर भी उसके आदर्शपन में तब तक भेद नहीं पड़ता जब तक कि हमें तदंतर्वर्ती आवृत्ति का, उसके मार्मिक अंशों में, अनुभव होता रहे। सच पूछो तो कला से उत्पन्न हुए सभी सच्चे आदर्शों (Pattern) में इस प्रकार की नति का होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य सा है। यह नति इतनी अधिक हो सकती है कि हमें आवृत्ति को पाने के लिए उसे ढूँढना पड़े, और वह एकमात्र सूक्ष्मदर्शियों के देखने की वस्तु बन जाय।

पद्य तथा गद्य के ताल में भेद है

चित्रकला और संगीत कला के विषय में तो यह बात अनायास समझ में आ जाती है किंतु कवित्वकला के विषय में इसका समझना किंचित् कठिन है। किंतु इसमें संशय नहीं कि जिस प्रकार उन दोनों कलाओं पर यह बात लागू है उसी प्रकार यह कविता पर भी घटती है। मिल्टन के शब्दों में कविता "वह भाषा है, जिसका आत्मा पद्य में व्याप्त रहने वाला लय है।" यह लय गद्य में भी रहता है और संभव है कादंबरी तथा पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस जैसी रमणीय रचनाओं के गद्य में यह अत्यंत सुंदर तथा संकुल (intricate) भी संपन्न हुआ हो। किंतु गद्य का ताल पद्य के ताल से भिन्न प्रकार का है। जहाँ पद्य के ताल में आवृत्ति (Repeat) का रहना अनिवार्य है वहाँ गद्य में उसका अभाव होता है। यहाँ तक कि जब गद्य आवृत्ति की ओर झुकता है तब उसमें एक प्रकार की

वक्रता आजाती है और वह पाठकों को अखरने लगता है। वस्तुतः गद्य शब्द का अर्थ ही वह भाषा है, जो अपने ताल में (व्यावहारिक भाषा के समान) बिना आवृत्ति के सीधी चलती हो, जब कि पद्य शब्द का वाच्य वह भाषा है, जिसमें आवृत्ति हो।

सब पद्यमयी रचनाएँ भी कविता नहीं हैं

गद्य और पद्य इन शब्दों की व्युत्पत्ति के अनुसार दोनों के वाच्य में मौलिक भेद का होना अनिवार्य है। किंतु इन दोनों के बीच रहने वाला भेद उस भेद जैसा नहीं है जो गद्य तथा कविता में दीख पड़ता है। क्योंकि जहाँ हम किसी भी गद्यमयी रचना को कविता नहीं कह सकते वहाँ सब पद्य भी कविता नहीं कहा सकते। माना कि सभी आदर्शित भाषा (patterned language) पद्य है, किंतु उसे कविता का रूप देने के लिए आदर्श का विधान दक्षता के साथ होना अभीष्ट है और उसमें सौंदर्य की पुट देनी आवश्यक है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि पद्य और कविता एक ही वस्तु हैं तो हमें कविता में सुरूप तथा कुरूप दोनों ही प्रकार की रचनाओं का समावेश करना होगा; किंतु इसकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा हो कि हम कुरूप कविता को कविता के नाम से ही न पुकारें।

आदर्श और कला

आदर्श का यह क्षेत्र, भाषा तथा उस अन्य सामग्री की दृष्टि से जिसके द्वारा कि मानवीय कलाकारिता अपने आप को व्यक्त करती है, बहुत विस्तृत है। इसका विकास एक देश से दूसरे देश में, एक

युग से दूसरे युग में और एक संप्रदाय से दूसरे संप्रदाय में भिन्न भिन्न होता है; यहाँ तक कि एक ही कलाकार के हाथ में भिन्न भिन्न समयों पर, भिन्न भिन्न उद्देश्यों के लिए किए गए इसके व्यवहार में भेद पड़ जाता है। इसमें वृद्धि और ह्रास होते रहते हैं; वृद्धि के पश्चात् निश्चेष्टता तथा संहार का युग आता है, और इसमें से नवीन युग की झाँकी दीखा करती है। किसी भी राष्ट्र की किसी भी समय सभ्यता का निदर्शन हमें उसकी ललित कलाओं के मानदंड (standard) से हो जाता है, क्योंकि ललित कला राष्ट्रीय जीवन की प्रगति की एक वृत्ति है; यह उसका एक मौलिक अंश है।

कला और जीवन

सामान्य दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि कला की सत्ता कला के लिए है, **किंतु जीवन के उदात्त लक्ष्य पर ध्यान देते हुए कला की सत्ता भी जीवन के लिए ठहरती है**, जिसका कि कला भी एक प्रकार का ललित अवयव है। जिस प्रकार प्रगति की विस्तृत विभिन्नताओं तथा उत्ताल तरंगों में भी हम जातीय आत्मा की स्थूल रूपरेखा को देख सकते हैं उसी प्रकार जाति की प्रगतिशील ललित कलाओं के बहुमुखी विकास में भी हम जातीय जीवन का अध्ययन कर सकते हैं। आदर्शों में कुछ आदर्श तो सब के लिए समान होते हुए भी प्रबल होते हैं; इन पर प्रत्येक कलाकार अपनी कल्पना और कुशलता के अनुरूप अपनी तूलिका चलाता है। इन प्रबल आदर्शों के अरुण में से चहुँ ओर भिन्न दिशाओं

में अन्यान्य आदर्शों की रश्मियाँ फूटा करती हैं, जो अविच्छिन्न रूप से आविष्कार, परिष्कार तथा परिवर्तन की प्रक्रिया में गुजरती रहती हैं। इनमें से कुछ आदर्श तो कवियों के प्रयत्नमात्र होते हैं जिनका परिणाम कुछ नहीं निकलता; दूसरे आदर्श राष्ट्रीय जीवन में जड़ पकड़ जाते और बल पाकर सामान्य आदर्श को बदल तक डालते हैं। इस प्रकार कवित्वकला वैयक्तिक प्रतिभाओं के प्रभाव से नव-नव रूपों में अभिरूपित होती हुई प्रतिक्षण नवीनता धारण करती रहती है।

उक्त विवेचन के परिणामस्वरूप **कविता की सामान्य परिभाषा आदर्शित भाषा** (Patterned language) **अर्थात् कला के द्वारा आदर्श में परिणत हुई शब्दसामग्री** ठहरती है। इस कविता से हमें ऐंद्रिय तथा बौद्धिक रस की उपलब्धि होती है। यदि हम उक्त लक्षण के पारिभाषिक पक्ष को छोड़ उसके सार पर ध्यान दें तो कह सकते हैं कि **कविता वह कला अथवा प्रक्रिया है, जो भाषा की अर्थसामग्री में से आदर्श घड़कर हमारे संमुख प्रस्तुत करती है और वह अर्थसामग्री है एक शब्द में जीवन**। हर सच्ची कविता जीवन के किसी अंश या पक्ष को आदर्श के रूप में हमारे संमुख उपस्थित करती है, और विश्वजनीन कविता तो जीवनसमष्टि के आदर्शघन का निर्माण करके हमें एक क्षण में सर्वद्रष्टा बना देती है।

जिस क्षण हम कवित्वविषयक उक्त सत्य को भली भाँति हृद्गत कर लेते हैं उसी क्षण हमें उन सब बातों का भान हो जाता

है जो कवियों ने अपनी रचना कविता के विषय में कही हैं।

कविता की इतिकर्तव्यता

जीवन का—जैसा उखड़ापुखड़ा यह हमारे संमुख आता है—कोई आदर्श नहीं, कम से कम ऐसा आदर्श नहीं जो निश्चित हो, निर्धारित हो, जिसे हम समझ सकते हों। यह एकांततः बहुमुखी तथा बहुरूपी है; इसके नियम, यदि हम उन्हें नियम शब्द से पुकार सकते हैं तो अनियमित तथा औंधे हैं; यह हमारी आशाओं तथा आकांक्षाओं को नहीं सरसाता; कभी कभी यह हमें ध्येयविहीन दीख पड़ता है। बहुधा यह, हैमलेट के शब्दों में, उखड़ापुखड़ा निरी उठबैठ ही दीख पड़ता है। यह किसी भी आदर्श को नहीं जन्माता, फिर सुंदर आदर्श का तो कहना ही क्या। कविता का सर्वोच्च ध्येय, उसका सब से अनोखा कर्म, नियमों के इस अभाव को, प्रकाश की इस चौंध को, आदर्श में परिणत करना है; उसका कर्तव्य है जीवन के उस अंश अथवा पक्षविशेष को, जिस पर कि उसने अपने कल्पनारूप बृहत्तालयंत्र को केंद्रित किया है, जीवन के समतल से उभार देना, उसे हमारी आँखों के संमुख खड़ा कर देना; उसे अंधकार में दीपशिखा की नाईं अचल बनाकर जगमगा देना और यही काम विश्व के महान् कवि जीवनसमष्टि के विषय में किया करते हैं। उनकी कल्पना का बृहत्तालयंत्र जीवन के किसी अंशविशेष पर न पड़ उसकी समष्टि पर पड़ता है; उनकी दिव्य रचनाओं में हमें जीवन के किसी परिमित पक्षविशेष के दर्शन नहीं होते; वहाँ तो हमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के

जीवन की समष्टि उत्थापित होती दृष्टिगत होती है। शैले ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि कविता परिचित वस्तुओं को हमारे संमुख ऐसे रूप में रखती है मानों वे हमारे लिए अपरिचित हों। कविता हमारे संमुख अनुभूति के व्यस्त पट को एक अनोखे ऐक्योत्पादक प्रकाश में लाकर खड़ा करती है; इसके द्वारा हमें उसके क्रमहीन संकुल तंतुसमवाय में भी विधाता के नियमित विधान का दर्शन होता है। कविता हमें जीवन को, सौंदर्य की अगणित प्रणालियों में प्रवाहित होने पर भी एक करके दिखाती है; यह हमें व्यतिक्रम और व्यत्यास भरे संसार में आशा के साथ जीना सिखाती है।

और इस उच्च दृष्टि से विचार करने पर हमें इस कथन में कि कविता जीवन का उच्चतम विकास है कोई अत्युक्ति नहीं दीख पड़ती। कविता जीवन के उस घनीभूत, विशदतम प्रयत्न अथवा नैसर्गिक बुद्धि की पराकोटि है, जो समानरूप से अशेष विद्या, सकल अध्ययन, और सब प्रकार की प्रगति के मूल में संनिहित है; और इसका लक्ष्य है जीवन की स्वाभाविक महत्ता तथा शक्तियों को हृद्गत कराना, उसके द्वारा जगत् पर आधिपत्य प्राप्त कराना और अपने प्रयत्न से प्राप्त की गई संपत्ति पर आत्मविश्वास के साथ पाठक को डटाना; और इन्हीं सब बातों का नाम दूसरे शब्दों में जीवन है।

कविता के भेद

साधारणत: काव्य के दो भाग किए जा सकते हैं; एक वह जिसमें एकमात्र कवि की अपनी बात होती है और दूसरा वह जिसमें किसी देश अथवा समाज की बात होती है।

विषयप्रधान कविता

केवल कवि की बात से यह आशय नहीं कि वह बात ऐसी है जो श्रोताओं की बुद्धि से बाहर हो। ऐसा होने पर तो उसे अनर्गल प्रलाप ही कहा जायगा। इस बात का आशय यही है कि कवि में ऐसा सामर्थ्य है जिसके द्वारा वह अपने सुखदु:ख, अपनी कल्पना और अपनी अभिज्ञता के अंतस् से संसार के अशेष मनुष्यों के सनातन हृदयावेगों को और उनके जीवन की मार्मिक बातों को अनायास प्रकट कर देता है और पाठक उसकी रचना को पढ़ते समय उसमें अपने ही अंतरात्मा का इतिहास पढ़ने लगते हैं। यह तब होता है जब कवि संसारमंच पर खेल-कूद कर, रो-हँस कर, उसकी अशाश्वतता तथा अंधधुंधी को समझ कह उठता है "अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल" और अपने आत्मा के मंदिर में लौट ऐसा गाना गाता है, जिसमें संसार के मनुष्यमात्र का स्वर मिला रहता है। इस प्रकार की कविता में कवि का भाव प्रधान रहता है, इसलिए इसे हम भावात्मक, व्यक्तित्वप्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता कहते हैं।

किंतु हम जानते हैं कि संसार के आदि पुरुषों में पराजय की यह वृत्ति न थी। वे अपने भौतिक जीवन को सुखसंपन्न बनाने के लिए बाह्य जगत् पर सर्वात्मना टूट पड़े थे और अपने मार्ग में आने वाली कठिन से कठिन बाधाओं से भी विचलित न हो जीवन के संग्राम में अड़े रहते थे। उनके जीवन का लक्ष्य था कर्म और कर्म के द्वारा आधिभौतिक तथा आधिदैविक जगत् पर विजय प्राप्त करना। अभी उनके आत्मा की केंद्रप्रतिगामिनी शक्ति ही बलवती थी; उसे संसार में टक्करें खाकर केंद्रानुगामिनी बनने का अवसर न मिला था। इस अपेक्षाकृत कम सभ्य वीर पुरुष के कर्मण्य जीवन का निदर्शन पहले-पहल चारणों द्वारा गाए जाने वाले गानों में हुआ, जो शनैः शनैः परिष्कृत तथा परिवर्धित होते होते उस काव्य के रूप में आए, जिसे हम विषयप्रधान, वर्णनप्रधान अथवा बाह्यविषयात्मक कविता कहते हैं। और क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से विषयप्रधान कविता का उदय पहले हुआ है, अतः पहले हम इसी पर विचार करेंगे।

विषयप्रधान कविता

विषयप्रधान कविता की विशेषता

विषयप्रधान कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका प्रत्यक्ष संबंध बाह्य जगत् के साथ होता है और उस जगत् का वर्णन करने के कारण यह वर्णनात्मक होती है। इसमें कवि अपने अंतरात्मा की अनुभूतियों का निर्देश न कर बाह्य

जगत् में जाता और उसकी अंतस्तली में पैठ उसके साथ अपना रागात्मक संबंध स्थापित करता है। संक्षेप में हम इसे कवि के व्यक्तित्व से बाहर घटने वाली घटनाओं का रागमय लेखा कह सकते हैं। इस पर कवि के व्यक्तित्व की प्रकट छाप नहीं होती; दूसरे शब्दों में यह किसी एक कवि की रचना न होकर देश अथवा जाति की रचना होती है। इसके निर्माण में बढ़ती हुई पौराणिक कथाओं का बड़ा हाथ होता है; और यद्यपि इस में, इसको अंतिम रूप देने वाले महाकवि की कला का कुछ कुछ आभास अवश्य होता है, तथापि आत्माभिव्यंजिनी कविता के समान इसे वैयक्तिक रचना नहीं कहा जा सकता। इसमें किसी एक कवि का दृष्टिकोण काम नहीं करता; इसमें तो एक जाति अथवा एक युग का प्रतिफलन हुआ करता है। इस श्रेणी की रचनाओं के अंतस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उन्हें सदा के लिए समादरणीय बना देता है।

विषयप्रधान कविताओं में सारा देश अथवा जाति प्रतिबिंबित होते हैं

इसी श्रेणी की रचनाओं को उनका वर्तमान रूप देने वाले कवियों को महाकवि कहा जाता है। "सारे देशों और सारी जातियों की सरस्वती इनका आश्रय ले सकती है। ये जो रचना करते हैं, वह किसी व्यक्तिविशेष की रचना नहीं मालूम होती। कहने का अभिप्राय यह है कि उनकी उक्तियाँ देशमात्र और जातिमात्र को मान्य होती हैं। उनकी रचना उस बड़े वृक्ष की सी होती है जो देश के भूतलरूपी जठर से उत्पन्न

होकर उस देश को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा रहता है। कालिदास की शकुंतला और कुमारसंभव में कालिदास की लेखनी का कौशल दिखाई पड़ता है। किंतु रामायण और महाभारत ऐसे प्रतीत होते हैं मानों हिमालय और गंगा की भाँति ये भारत के ही हैं—व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष मात्र हैं। भावार्थ यह है कि इनके पढ़ने से भारत झलकने लगता है, व्यास और वाल्मीकि उन में दृष्टिगोचर नहीं होते।"

रामायण और महाभारत अपने रचयिताओं के नाम लुप्त कर बैठे हैं

हमने अभी संकेत किया था कि किसी देश अथवा जाति के वीर कृत्यों की प्रख्याति करने वाले तत्तद्देशीय चारणों के परंपरागत गीत ही आगे चल कर किसी विशिष्ट प्रतिभावाले महाकवि द्वारा संपादित हो महाकाव्य का रूप धारण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उन परंपराप्राप्त गीतों के समान उन से उत्पन्न हुए महाकाव्य में भी अतीत युगों का प्रतिफलन होता है, समग्र सभ्यताओं का चित्रण होता है, मनुष्य के विचारमय जीवन के नानाविध स्थायी पटलों का निदर्शन होता है। महाकाव्य में उसको रचने वाली जाति का स्वभाव और कल्पना निहित होती हैं, इसमें इस जाति के अतीत, वर्तमान, और भविष्यविषयक स्वप्नों का संक्षेप होता है। इस कोटि की रचनाओं में, इनका एक रचियता न होने के कारण किसी एक के व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं होता। ये सारे समाज की समान दाय हैं; ये विपुल मानवजीवन की—जिस में कि सदियों का सार समाया

हुआ है—घनीभूत बोलती मूर्तियाँ हैं; परिवर्तनों के बीच में विकास को प्राप्त हुई जातीय उन्नति के प्रस्फुट पदचिह्न हैं। यदि इस कोटि की रचनाएँ किसी एक कलाकार की कृतियाँ हों, तो भी उनमें अतीत युगों की बहुविध रूढियों का एकत्रीकरण होता है। हमने देखा था कि समस्त भारत में व्याप्त हमारे रामायण और महाभारत महाकाव्य अपने रचयिताओं के नाम लुप्त कर बैठे हैं। जन-साधारण आज रामायण और महाभारत के नाम लेने के अतिरिक्त उनके रचयिता वाल्मीकि और व्यास के नाम नहीं लेते। इन दोनों में उस उस समय का भारत प्रतिफलित है। भारतवर्ष की जो साधना, जो आराधना और जो संकल्प हैं उन्हीं का इतिहास इन दोनों विशालकाय काव्यप्रासादों के सनातन सिंहासन पर विराजमान है।

ग्रीस के महाकाव्य

हमारे देश में जैसे रामायण और महाभारत हैं वैसे ही ग्रीस में इलियड और ओडीसी हैं। वे सारे ग्रीस के हृदय-कमल से उत्पन्न हुए थे और आज भी सारे ग्रीस के हृदयकमल में विराजमान हैं। होमर कवि ने अपने देशकाल के कंठ में भाषा दी थी—उसने अपने देशकाल की अवस्था को भाषा-बद्ध किया था। उनके वाक्य निर्भर के समान अपने देश के अंत-स्तल से निकलकर चिरकाल से उसे आप्लावित करते आए हैं।

रोमन महाकवि वर्जिल

जिस प्रकार ग्रीस का प्रतिफलन होमररचित इलियड और ओडीसी में हुआ है उसी प्रकार इटालियन महा-कवि वर्जिल की प्रख्यात रचना एनाइड (Aen-eid) में रोम की, लैटिन जाति की, लैटिन

साम्राज्य की, और लैटिन सभ्यता की आंतरिक वाणी प्रवाहित हुई है। अपने अभ्युदय के पश्चात् से, वर्जिल समस्त लैटिन जगत् का, उसके जीवन के सभी पटलों में सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता माना गया है। यदि हम लैटिन जगत् में से वर्जिल को पृथक् कर दें तो हमारे लिए उसकी इस अभाव से उत्पन्न हुई दुरवस्था का अनुमान करना कठिन होगा। हम कह सकते हैं कि वर्जिल से पहले लैटिन जगत् में जो कुछ भी हुआ था, उस सब का लक्ष्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से वर्जिल था; उसके पश्चात् वहाँ जो कुछ भी हुआ उस पर वर्जिल का उत्कट प्रभाव पड़ा; उसके भावों पर, उसकी कथनशैली पर, यहाँ तक कि उसकी भाषा पर भी वर्जिल की मुद्रा छपी हुई है। वर्जिल ने अपनी रचना में रोम ही नहीं, अपितु समस्त इटालियन जगत् को मुखरित किया था।

अंग्रेज महाकवि

जिस प्रकार रोमन जाति की संयत तथा उदात्त वाणी वर्जिल में बही है, उसी प्रकार अंग्रेज जाति को बिओवुल्फ, स्पेंसररचित फेयरी क्वीन, मिल्टनरचित पैरेडाइज लॉस्ट, और टेनीसन रचित इडिल्स ऑफ दि किंग नामक रचनाओं में मुखरित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पहली रचना में बिओवुल्फ नामक किसी वीर के दर्पकृत्यों का वर्णन है; दूसरी तथा तीसरी रचना में नवोद्बोधकाल (Renaissance) के प्रतिबिंब के साथ साथ क्रमशः वीरता तथा मध्ययुग की रूढियों की पुष्टि, और ईसाइयत की कथा तथा प्राचीनता का निदर्शन है, जब कि टैनीसन ने अपनी रचना में आर्थरियन कथानकों का प्रबंध

बाँधा है। जिस प्रकार भारत, ग्रीस, रोम तथा इंगलैंड का सामूहिक जीवन क्रमश: उनके रामायण—महाभारत, इलियड—ओडीसी, एनाइड, तथा डिवाइन कमेटी, और बियोवुल्फ आदि विषयप्रधान रचनाओं में प्रतिफलित हुआ है, उसी प्रकार अन्य देशों का सामूहिक जीवन भी उनके अपने अपने विषयप्रधान काव्यों में मुखरित होता आया है।

महाकाव्यकारों की दैव में आस्था

मनोविज्ञान बताता है कि प्राचीनकाल के पुरुष को जहाँ कहीं भी क्रिया दृष्टिगत होती थी, वह वहीं, जिस प्रकार अपने भीतर वैसी ही बाहर भी, एक अधिष्ठात्री देवता की कल्पना कर लेता था। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, यहाँ तक कि नभ में, जल में, और थल में सभी जगह उसे किसी देवविशेष के दर्शन होते थे। इन सब देवताओं के साथ, इन सबके ऊपर एक और देवता का आधिपत्य था, जिसे वह भाग्य अथवा नियति के नाम से पुकारता था। इस देवता के संमुख उसका सारा शौर्य तथा पराक्रम क्षीण हो जाता था और जिस प्रकार वायु के प्रबल झोंके पर्वत से टकराकर लौटते और अपने भीतर की क्रिया में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार भाग्य के साथ टकराकर पराजित हो वह अपने ही भीतर, अपनी ही निसर्गजात कर्मशीलता से उत्पन्न हुई, काम में अड़े रहने की हठ में घुल घुलकर रह जाता था। उसके जीवन का आधा भाग उसके सहचर मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के साथ संबद्ध रहता था तो दूसरा अर्ध भाग इन देवीदेवताओं की सेवा तथा इनके भय में बीता करता था।

रामायण और महाभारत में दैव का हाथ

फलतः जहाँ हम अपनी रामायण और महाभारत में चराचर भारत का सर्वांशी निदर्शन पाते हैं, वहाँ साथ ही उनमें हमें अपना सारा जगत् देवीदेवताओं के हाथ में कठपुतली की भाँति नाचता दीख पड़ता है। जहाँ महर्षि वाल्मीकि कैकेयी के द्वारा श्रीराम को वन में प्रस्थापित करा, उससे संपन्न हुए दशरथ के निधन पर अपनी रचना की भित्ति खड़ी करते हैं, वहाँ साथ ही वे उस भित्ति की आड़ में, मंथरा को लोकहित की दृष्टि से दुर्बुद्धि देने वाले देवताओं का उद्भावन करते हैं। और जब हम रामायण में आने वाले लोकोत्तर भूतों पर ध्यान देते हुए उसका पारायण करते हैं तब हमें उस महाकाव्य में एक भी चुटीली घटना ऐसी नहीं दीख पड़ती, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से किसी देवता के साथ संबंध न हो। यही नहीं; रामायण में भाग लेने वाले सभी पात्र हमारे संमुख छोटे आकार में नहीं, अपितु एक अमानुष दिव्य आकार में आते हैं; उनमें से प्रधान पात्र तो स्वयं एक प्रकार के देवता बन गए हैं और उनके अनुचरों में से आधे रीछ, तथा बंदर आदि बनकर रहते हैं। श्रीराम का विरोधी हमारे जैसा मनुष्य नहीं, अपितु एक दशशीशधारी दानवराज है, जो सोने की लंका में बसता है। हमारे नायक वहाँ पहुँचने के निमित्त समुद्र को लाँघने के लिए नौका आदि का उपयोग नहीं करते; वे उस पर सेतु बाँधते हैं; और नल तथा नील के हाथ में जो कुछ भी आ जाता है, वही पानी पर तैरने लगता है। लौटते समय

श्रीराम उस पुल पर से नहीं लौटते, वे सीतासमेत पुष्पकविमान में आते हैं और खेत में काम आए उनके सब साथी श्रीराम के हाथों अमृत पा फिर जी उठते हैं। घूम फिर कर ऐसी ही बातें हमारे संमुख महाभारत में आती हैं। यहाँ भी सुदर्शनचक्र की महिमा अपार है और यहाँ भी देवता दिनरात मनुष्यों की ईहा में पूरा पूरा भाग लेते दिखाई देते हैं।

किंतु रामायण और महाभारत के ये तत्त्व मनुष्य के जीवन को अकिंचन नहीं बनाते; उलटा ये उसे देवताओं के समान भद्रता की ओर प्रवृत्त करते हैं, उसे मंगलमय भारतीय आदर्श की ओर आकृष्ट करते हैं।

ग्रीक और रोमन महाकाव्यों में दैव का हाथ

जिस प्रकार भारत में उसी प्रकार ग्रीस में भी हमें इलियड और ओडीसी के वीर पात्र देवताओं के साथ कंधे से कंधा लगा कर कैम्पों और युद्धक्षेत्रों में आपस में भिड़ते और राजदरबारों तथा प्रासादों में सामंतजनोचित आमोद और प्रमोद करते दिखाई पड़ते हैं। इतिहास और पौराणिक उपाख्यानों का यही संमिश्रण हमें वर्जिल आदि महाकवियों की रचनाओं में दीख पड़ता है।

हम ने प्रारंभ में कहा था कि सृष्टि के आदिम पुरुष का जीवन कर्मप्रधान था और उसके उस जीवन का वागात्मक व्याख्यान उसकी सर्वप्रथम रचना अर्थात् विषयप्रधान महाकाव्यों में हुआ था। मानसिक जगत् की दृष्टि से उसका जीवन कितना भी परिसीमित तथा

संकुचित क्यों न रहा हो, उसके जीवन का भी कुछ उद्देश्य था और ध्येय था; उसकी अपनी आदिम रचना में हमें उस ध्येय का प्रतिफलन स्पष्ट दीख पड़ता है।

भारतीय तथा यूरोपीय महाकाव्यों के दृष्टिकोण में भेद

हमारे ऋषियों ने जीवन को समष्टि के रूप में देख कर उस में मंगलमयी भावनाओं का प्राधान्य दर्शाते हुए उसका अंत सत्य, शिव तथा सुंदर में किया था। रामायण और महाभारत में हमारे ऋषियों का यह तत्त्व बड़े ही रमणीय रूप में उद्भासित हो उठा है। दोनों ही के मनोज्ञ पात्र क्लेशबहुल कर्ममय जीवन में से गुजर कर अंत में प्रेमपरिपूर्ण ज्ञान के द्वारा निर्वाण प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य विचारकों ने अपने दृष्टिकोण को इहलोक की विभूति और पराभूति तक ही परिसीमित रख उस में अनिवार्यरूप से सामने आने वाले दैवजन्य क्लेश में ही जीवन का अंतिम पटाक्षेप किया है। ग्रीस की सर्वोत्तम निधि इलियड और ओडीसी में हमें यही बात उपलब्ध होती है। मानव जाति के भाग्यचित्र को घबड़ाहट के साथ देखने वाले महाकवि होमर का सार अशिल्लेस के इस वाक्य में आ जाता है कि "निर्बल मनुष्य के लिए देवताओं ने भाग्य का यही पट बुना है; उनकी इच्छा है कि मनुष्य सदा क्लेश में जियें और वे स्वयं (देवता) आनंद में रहें।" होमर के सभी पात्र समानरूप से दैव के हाथ की कठपुतली हैं; वह उन्हें जैसा चाहता है नचाता है, और अंत में कांदिशीक बना धूलिसात् कर देता है; उन्हें उद्यमजन्य क्लेश में छोड़

देता है। यूरोप के इस दुःखांत जीवन में क्लेश पर क्लेश आने पर भी लड़ाई में अड़े रहने की प्रवृत्ति को वर्जिल ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में यों व्यक्त किया है "सभी मनुष्यों के लिए जीवन का काल छोटा है; जीवन फिर नहीं लौटा करता; इस छोटे जीवन में यशःप्राप्ति करना, बस वीरता के हाथ में इतना ही है।" अपने समय में दीख पड़ने वाली जीवनपरिस्थिति को होमर स्वीकार करता है; किंतु अतीत सभ्यता को चित्रण करने वाली उसकी रचना में हमें उस उत्कट महत्त्व वाले सत्य की प्राप्ति होती है, जिसे होमर अशेष मानव जीवन में अनुभव कर रहा था। इलियड का वर्ण्य विषय युद्ध है और वह सब कुछ जो युद्धों में होता है, उसके कारण और उसके परिणाम समेत। ओडीसी का वर्ण्य विषय है वैयक्तिक साहसिक कृत्यों से भरा हुआ जीवन और उसका प्रातीप्य, अर्थात् घर के लिए उत्कंठा और अपनी रक्षा की चिंता। इन दोनों वर्ण्य विषयों में जीवन के भले बुरे सभी अनुभव आ जाते हैं; कवि इनका वर्णन करता है और साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण भी दर्शाता है, जिसका चरम निष्कर्ष है जीना और बहादुरी से जीना, चाहे सिर पर मंडराता दैव कितने ही क्लेश क्यों न दे, और चाहे मृत्यु कल की होती आज ही क्यों न हो जाय।

विषयप्रधान महाकाव्य के तत्त्वों का दिग्दर्शन हो चुका, अब पाश्चात्य दृष्टि से उसके दो उपभेदों पर कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा। विषयप्रधान महाकाव्य दो भागों में बाँटे जा सकते हैं : एक

प्राकृतिक और दूसरा **आनुकारिक** (Imitative); उदाहरण के लिए, जैसे अंग्रेजी के महाकाव्य बिओवुल्फ और मिल्टनरचित पैरेडाइज लॉस्ट। व्यापार और प्रकाशन की आदिम प्रवृत्ति के मुखरित होने में ही साहित्य का बीज निहित है।

विषयप्रधान कविता के प्राकृतिक तथा आनुकारिक नाम के दो उपभेद

आदिम विचारों तथा मनोवेगों के स्रोत से ही वीरगाथाओं तथा विषयप्रधान महाकाव्यों की धारा बही है; दोनों ही समानरूप से स्वाभाविक विकास हैं; उन उन विचारों तथा भावनाओं के चित्रफल हैं जो तत्तत्कालीन मानव जाति की सामान्य दाय थे; और इस दृष्टि से देखने पर हमें भारतीय रामायण तथा महाभारत में और ग्रीस में संपन्न हुए इलियड में उन बातों का वर्णन मिलता है, जो उस समय के भारत तथा ग्रीस में जीवन का निष्कर्ष मानी जाती थीं। दोनों देशों के तात्कालिक समाज की इन महाकाव्यों में वर्णन की गई बातों में पूरी पूरी आस्था थी। अब, एक ऐसी रचना, जो इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर रची गई हो, जो अपने आकार, शैली और दृष्टिकोण में इन्हीं के समान हो, किंतु जिसकी रचना ऐसे समाज तथा युग में संपन्न हुई हो, जिसकी रामायण और इलियड में वर्णित की गई प्रथाओं और विश्वासों में आस्था न हो, अवश्यमेव अपने संस्थान और रंगरूप में उक्त मौलिक महाकाव्यों से भिन्न प्रकार की होगी। यह रचना अपने समसामयिक व्यक्तियों के जीवन का लेखा भी नहीं, और नहीं है इसमें उनके मानसिक जीवन का प्रतिबिंब ही। संक्षेप में यह

भौतिक महाकाव्य से भिन्न प्रकार की है; यह प्राकृतिक होने की अपेक्षा काल्पनिक अधिक है।

यथार्थ महाकाव्य का उद्भव किस युग में होता है

किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के इतिहास में एक अवस्थान ऐसा होता है, जो महाकाव्यनिर्माण के लिए सुतरां अनुकूल होता है; इस अवस्थान के बीतते ही महाकाव्य की रचना में अप्राकृतिकता आ जाती है; क्योंकि महाकाव्य को उत्पन्न करने वाले अवस्थान में जीवन अपनी आदिम अवस्था में होता है, और उस युग में प्राकृतिक कठिनाइयों के साथ जूझना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य होता है। साथ ही इस प्रकार के समाज में साधारण नियम, प्रथा और संस्कृति का अभाव सा होता है। इस युग के व्यक्तियों में प्राकृतिक गुणों की अधिकता होती है, जैसे निर्भयता, सहनशीलता और साहसप्रियता; कलाएँ भी घर बनाना, नौका घड़ना आदि अत्यावश्यक पदार्थों तक ही सीमित होती हैं; इस युग का हर व्यक्ति केवल अपने किए का उत्तरदायी होता है; क्योंकि वह संघटित समूहशक्ति से उत्पन्न होने वाले नियमों के अभाव में, हर बात में अपने पैरों खड़ा होता है। संक्षेप में हर व्यक्ति अपना जीवन अपने आप बनाता है। ऐसे युग में मनुष्यों के लिए लोकोत्तर बातों में विश्वास करना और देवीदेवताओं के साथ अपने जीवनतंतु को बँधा देखना स्वाभाविक होता है; क्योंकि उनकी विचारशक्ति अविकसित होती है और उनके लिए "जो नहीं दीखता वही दैव बन जाता है"। समाज की इस परिस्थिति में महाकाव्य खूब फलता

फूलता है; किंतु इस परिस्थिति के नष्ट होते ही जीवन समाज तथा राष्ट्र के द्वारा निर्धारित किए गए नियमों में बँध जाता है, और उसके साथ ही **यथार्थ महाकाव्य** का युग एक प्रकार से चल बसता है।

रामायण और महाभारत के युग में और आज के युग में भेद

आज हमारा जगत् वाल्मीकि तथा होमर के जगत् से कहीं अधिक विपुल तथा कहीं अधिक विशाल बन गया है। आज कोई भी कवि अपने महाकाव्य के लिए इस प्रकार का विषय नहीं ढूँढ सकता जिसके द्वारा उसकी रचना में रामायण और इलियड जैसी विश्वप्रियता आ जाय। युद्ध को भी आज सब व्यक्ति समान रूप से साहसकृत्य नहीं समझते; और ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो अपनी बहादुरी से पोल पर जाकर अपनी विजयपताका न गाड़ दे, सब की दृष्टि में समान रूप से 'वीर नायक' नहीं माना जा सकता। हमारे अगणित मतिभेदों, धार्मिक भेदों, आचार-भेदों, व्यवसायभेदों तथा जीवन के प्रति होने वाले दृष्टिकोणों के भेदों से परिच्छिन्न हुए जीवनपट में से कोई भी साहित्यिक ऐसा स्थल नहीं निकाल सकता, जो सब व्यक्तियों को समान रूप से रुच सके; और स्मरण रहे इस सर्वप्रियता में ही विषयप्रधान महाकाव्य का सर्वस्व निहित रहा करता है। कहना न होगा कि इस परिवर्तित परिस्थिति में रचे गए महाकाव्य मौलिक महाकाव्यों से भिन्न प्रकार के होंगे; उनकी यह भिन्नता रचनाशैली में ही परिसीमित न रह उनके प्रसर, उनके आशय और उनकी अपील में भी उद्भूत होगी।

रामायण—महाभारत तथा शिशुपालवध आदि महाकाव्यों में भेद

मिल्टनरचित पैरेडाइज लॉस्ट की कथा हमारे लिए उतनी ही अविश्वसनीय है जितनी कि इलियड की; किंतु अपनी गरिमा तथा अपील में मिल्टन की रचना एक सच्चा महाकाव्य है। ऊपर कहा जा चुका है कि महाकाव्य का वर्ण्य विषय ऐसे कथानक तथा आख्यान होते हैं जिनमें तात्कालिक समाज का पूरा पूरा विश्वास होता है; किंतु पैरेडाइज लॉस्ट में यह बात नहीं है। इसकी कथा में इसके रचनाकालीन व्यक्तियों का भरोसा न था; यह तो केवल शुद्धिवादी संप्रदाय के व्यक्तियों ही को मान्य थी। यही बात रामायण और महाभारत की कथाओं को दुहराने वाले आधुनिक संस्कृत और हिंदी महाकाव्यों के विषय में कही जा सकती है। और जहाँ कि प्राकृतिक महाकाव्यों में उनके रचयिताओं का व्यक्तित्व नहीं दीख पड़ता था, वहाँ मिल्टन के पैरेडाइज लॉस्ट में हम स्वयं मिल्टन को विराजमान हुआ पाते हैं। निष्कर्ष इस बात का यह है कि जिस प्रकार अंग्रेजी का पैरेडाइज लॉस्ट आकार प्रकार में तो आदि महाकाव्यों के समान है, किंतु वस्तुतत्त्व में उन से सुतरां भिन्न, उसी प्रकार हमारे शिशुपालवध आदि संस्कृत महाकाव्य और प्रिय-प्रवास तथा साकेत आदि हिंदी महाकाव्य आकार प्रकार में तो रामायण और महाभारत के समान हैं, किंतु वस्तुतत्त्व में उन से सुतरां भिन्न।

महाकाव्य के प्राकृतिक तथा आनुकारिक नामक दोनों उपविभागों का दिग्दर्शन हो चुका; अब उनकी रचनाशैली के

महाकाव्यों की रचना शैली : उन में तथा नाटक और उपन्यास में भेद

विषय में कुछ जान लेना उचित होगा। महाकाव्य का वचनप्रबंध वर्णनशैली में प्रवाहित होता है। जिस प्रकार वर्णनात्मक कविता अपने से प्रथम उदित हुए साहित्य से आगे उन्नति का एक पग है, उसी प्रकार वर्णनात्मक कविता में इससे आगे आने वाले और इससे भी कहीं अधिक विकसित नाटकीय साहित्य के बीज निहित हैं। नाटक के समान महाकाव्य में भी क्रिया की अग्रसरता का विकास होता है और दोनों ही समान रूप से अपने पात्रों के विकास में दत्तचित्त रहते हैं। किंतु क्रिया और पात्रों को संप्रदर्शित करने का दोनों का अपना अपना ढंग पृथक् पृथक् है। नाटक में प्रमुख क्रिया को पराकोटि पर नियत समय में पहुँचना होता है; और समय की इस संयतता के कारण ही नाटककार को अपने संकुचित पथ से इधर उधर जाने का अवसर नहीं मिलता। उसकी चतुरता इस बात में है कि वह कहाँ तक अपने प्रधान पात्रों को निर्धारित परिधि में संकुचित करता हुआ उन्हें मुखरित कर सका है, और कहाँ तक अपनी रचना को प्रमुख पात्रों की पुष्टि में अग्रेसर कर सका है। महाकाव्य में समय और देश का ऐसा कोई बंधन नहीं है। इसमें कवि को अपने प्रधान वक्तव्य से इधर उधर जाने का अधिकार है; वह अपनी रचना को प्रसंगागत ऐतिहासिक तथा नृवंशसंबंधी सूचनाओं से चारु बना सकता है। वह उसमें वन, पर्वत, नदी, समुद्र, ऋतु आदि सभी बाह्य जगत का वर्णन कर सकता है।

उसमें मानवजाति के युद्ध, उनके शस्त्रास्त्र, उनके घरबार, उनके यातायातसाधन आदि सभी बातों का निर्देश कर सकता है। साथ ही महाकाव्य की गति में नियंत्रण भी है। इसे शीघ्र ही समाप्त नहीं होना चाहिए; चमत्कार, तुलना तथा निदर्शन आदि के द्वारा इसका सुसज्जित होना आवश्यक है। कहना न होगा कि जहाँ वर्णन की इस स्वतंत्रता में अनेक लाभ हैं, वहाँ साथ ही इसमें अनेक कठिनाइयाँ भी हैं। इस स्वतंत्रता के आकर्षण में मस्त हो कवि अपने विषय के साथ संबंध न रखने वाली बातों में लग अपनी प्रमुख घटना को भुला सकता है; और यह अकेला दोष ही किसी रचना को भद्दी बनाने के लिए पर्याप्त है। कवि के द्वारा उद्भावित किए गए परिष्कार के इन उपकरणों द्वारा कथा को अग्रसर होने में सहायता मिलनी चाहिए, नकि उन से उसका गतिअवरोध होना चाहिए। इसमें संशय नहीं कि किंचित् काल के लिए कथा में व्याक्षेप अथवा निरोध डाल देने से उसका प्रभाव बढ़ जाता है; क्योंकि इसके द्वारा कथा के विषय में हमारी पूर्वभुक्ति (anticipation) तीव्र हो जाती है; किंतु कथा को आवश्यकता से अधिक देर तक निरुद्ध कर देना तो उसके प्रति होने वाले पाठक के प्रेम को तोड़ देना है। महाकाव्य का लक्ष्य होना चाहिए कवि के द्वारा इतिहास, उपाख्यान अथवा काल्पनिक जगत् में से एकत्र किए हुए पात्रों और घटनाओं के प्रति पाठक के मन में शनैः शनैः किंतु प्राभाविकता के साथ प्रेम उत्पन्न करना। किंतु यद्यपि परिष्कार के उक्त उपकरणों द्वारा महाकवि की अर्थसामग्री में बहुविधता आ जाती

है, तथापि वह उस सामग्री पर "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा" के अनुसार अव्यवस्थित प्रबंध नहीं खड़ा करता; वह तो अपनी इस बहुरूपिणी अपक्व सामग्री को अपनी रचना के महापात्र में डालकर उसे ऐसे एकतामय पाक में परिवर्तित करता है कि सहृदय पाठक उसको चख चख कर नहीं अघाते। विषयप्रधान महाकाव्य सृजने वाले महाकवि की विशेषता इसी बात में है।

भावप्रधान कविता

विषयिप्रधान कविता का स्रोत : उसका लक्षण

विषयप्रधान कविता का स्रोत हम ने आदिम पुरुष की उस कर्ममय प्रवृत्ति में देखा था, जिससे प्रेरित हो वह गिरिगह्वर में से खिलखिला कर सामने पड़ी चट्टान पर फूटने वाले निर्झर के समान दैव के द्वारा सजाए गए जीवनसंग्राम में बराबर रत रहता था और बार बार इस संग्राम में मुँह की खाने पर भी उस में अड़ा रहता था। अभी उस कर्मवीर ने पराजय का पाठ नहीं पढ़ा था।

शनैः शनैः सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ साथ उसकी कर्मण्यता मंद पड़ती गई और उसकी विचारवृत्ति, अथवा केंद्रानुगामिनी शक्ति विकसित होती गई। अब वह बाह्य जगत् को पीडा और टीस से अनुविद्ध हुआ देख कर अपने भीतर प्रविष्ट हुआ। उसके अंतर्मुख होने पर उसके मुँह से जो कविता निकली, उसी के विविध रूपों को भावप्रधान कविता कहते हैं।

भावप्रधान कविता का स्रोत गायक के उत्कट मनोवेगों में है।

विषयिप्रधान कविता और मनोवेग

प्रारंभ में मनुष्य ने अपने इन मनोवेगों को अव्यक्त ध्वनि द्वारा प्रकाशित किया था; हमारा वर्तमान विशुद्ध संगीत उसी ध्वनि का संयत हुआ विकसित रूप है। प्रारंभ में इस ध्वनि के साथ नृत्य का संमिश्रण था; साहित्य का **पहले-पहल प्रवेश इसमें बार बार आवृत्त होने वाले एकस्वर शब्दों के रूप में हुआ।** सभ्यता के आनुक्रमिक विकास के साथ साथ आदिम पुरुष के इन्हीं तत्त्वों से भिन्न भिन्न कलाओं का उद्भव हुआ; इन्हीं कलाओं में **भावप्रधान कविता** भी एक है, जिसका सरल लक्षण है **शब्दों के द्वारा उत्कट मनोवेगों का संगीतमय प्रदर्शन।** कहना न होगा कि भावप्रधान कविता का निष्कर्ष कवि के उत्कट मनोवेगों में है; उसके द्वारा उच्चरित हुए शब्दों में बाँधे गए वस्तु-प्रतिरूप तो उसके मनोवेगों को व्यक्त करने अथवा उन्हें बाहर बहाने के साधनमात्र हैं। शब्दों में संपुटित हुए प्रतिरूपों में कवि का मनोवेग इस प्रकार उच्छ्वसित होता है, जैसे अपने आपे को शब्द द्वारा बहाने वाले चातक का आत्मा उसके गले में उच्छ्वसित हुआ करता है। शब्दायमान चातक का जो कुछ आप को दीखता है वह उसका बाह्य रंग और उसकी क्रिया है; जो आप सुनते हैं वह उसका गीत है; उसका मनोवेग, जिसकी कोई प्रतिमा नहीं, एकमात्र अनुभूति का विषय है, इंद्रियों का नहीं। भाव-प्रधान कविता के अर्थ का सार कवि के मनोवेगों में है, जो शब्दों में

बँधे हुए प्रतिरूपों द्वारा प्रस्फुटित होते हैं। और चाहे भावप्रधान कविता कैसी भी व्यक्तित्वप्रधान क्यों न हो—और स्मरण रहे इस कोटि की सभी रचनाएँ व्यक्तित्वप्रधान हुआ करती हैं—यह उस मनोवेग के द्वारा, जो मनुष्यमात्र में समानरूप से एक है—विश्वजन का दाय बन जाती है; और इसका परिणाम यह होता है कि कवि की तान में पाठक की तान मिल कर एक हो जाती है।

जीवन मनोवेगों की एक श्रृंखला है। मनोवेग में चंचलता है; यह उठता है, बढ़ता है, और फिर कहीं विलीन हो जाता है; बार बार नष्ट होकर यह बार बार आता है। जीवन की नदी इन लहरियों की एक समष्टि है। जीवन के ये मनोवेग जब घनीभूत हो शब्दआदर्श में परिणत होते हैं, तब गीतिकाव्य का जन्म होता है। गीतिकाव्य इन अव्यक्त मनोवेगों को व्यक्ति प्रदान करता है; वह रसाप्लावित हुए कवि के आत्मा को कंठ दे देता है। यही उसकी वृत्ति है, इसी में उसका कलापन है, और यही उसकी उपयोगिता है।

विषयिप्रधान रचना के मनोवेग की एकता

गीतिकाव्य में एक ही मनोवेग अथवा विचार की प्रधानता होती है। जब कविकुलगुरु कालिदास ने वर्षा के आरंभ में स्निग्ध गंभीर घोष करने वाले जलधर का पीन कलेवर देखा था, तब उनके मन में न जाने क्यों, जन्मजन्मांतरव्यापी विरह का एक अपूर्व भाव संचरित हो गया था और उनका आत्मा मेघदूत नामक कविता के रूप में बह निकला था। उस विरह से आविष्ट

होने पर उन्हें चराचर जगत् उसी में पीडित हुआ दीख पड़ा था। क्या जंबूकुंज की श्यामल समृद्धि, क्या सजल नयन की पुलक, क्या हरित कपिश वर्ण वाले कदंब वृक्ष, क्या उनको एक टक निहारने वाले हरिण, सभी समान रूप से उसमें बिंधे दीख पड़े थे। मेघदूत में आदि से अंत तक मानव हृदय का वही युगयुगांतव्यापी विरह भाव मुखरित हुआ है।

हम प्रतिदिन हंसों को आकाश में उड़ता देखते हैं; हमने अगणित बार बादलों से भरे आकाश में बकपंक्तियाँ उड़ती देखी हैं। किंतु जब एक भावुक कवि कलनादिनी नदी के निर्जन तट के ऊपर से हंस श्रेणी को उड़ता देखता है तब उसका हृदय एक अपूर्व सौंदर्य की तरंगों से आप्लावित हो जाता है और वह अनायास कविता के रूप में बह निकलता है। तब वह हंसश्रेणी पक्षियों की एक श्रेणी नहीं रह जाती, तब वह परलोक का दिव्य दूत बनकर उसके संमुख आती और उसे वहाँ का रहस्यमय संदेश दे उधर पहुँचने का मार्ग दिखाती है।

भावप्रधान रचना का परिपाक करुण रस में होता है

भावप्रधान कविताओं का परिपाक उस शोकमय वेदना में है, जिसे महाकवि भवभूति **ने करुण रस के नाम से पुकार सभी रसों का आसार बताया है।** कभी कभी इस कोटि की रचना में मनोवेग को विजयी भी दिखाया गया है: किंतु बहुधा मनोवेग निरर्थक रहता है, क्योंकि यह प्रकृत्या क्षणजीवी है; और हम में सभी ने मनोवेगों की अफलता अथवा

उनका फलकर बिगड़ जाना अपने जीवन में बार बार देखा है। किंतु मनोवेगों की अफलता के इस दुःखद प्रभाव को दूर करने के लिए प्रत्येक रचना का परिपाक शांत रस में किया जाता है। हमारे रामायण और महाभारत का अंत इसी मंगलमय शांत रस में हुआ है। पश्चिम में भी मिल्टन ने लीसिडास (Lycidas) के विलाप के अनंतर सिद्धों के स्वर्ग की कल्पना करके अपनी रचना का शांत रस में परिपाक किया है। इसी प्रकार टैनीसन ने अपनी इन मेमोरियम नामक रचना में इसकी निष्पत्ति सजीव दैवी इच्छा के साथ मिल कर एक हुए प्रेम की नित्यता को निदर्शित करने वाले विश्वदेवतावाद में और शैले ने अपनी एडोनेस (Adonais) नामक रचना में इसकी निष्पत्ति इस आशा में कि उसका आत्मा भी देहपंजर को छोड़ एक दिन उसी जगत् में पहुँचेगा जहाँ एडोनेस पहुँच चुका है, उस जगत् में जहाँ से कीट्स का आत्मा अनंत में टिके नक्षत्र की नाईं उन्मुख हो उसे अपनी ओर बुला रहा है, और अपनी प्रोमेथियस अनबाउंड नामक रचना में पीडित मानवसमाज के संमुख आगामी सुवर्णयुग की स्थापना करके की है।

भावप्रधान रचना की पराकाष्ठा में एकमात्र कवि

यह तो हुई अपेक्षाकृत विपुल रचनाओं की बात। सच्ची-भावप्रधान कविता में कवि को किसी भी ऐसे सांत्वना देने वाले स्वर्गादि की कल्पना नहीं करनी पड़ती। वह तो किसी कलनादिनी नदी के निर्जन तट के ऊपर से उड़ती हुई वकपंक्ति

और उसके भाव रह जाते हैं।

को देख कर उस आंतरिक सौंदर्य के स्रोत में लीन हो जाता है, जो अशेष बाह्य सौंदर्य का चरम आगार है। उस समय उसकी गति ऐसी होती है जैसे विजया को पीकर मस्त हुए प्रेमी की; उस आंतर प्रेम से आविष्ट होने पर बाह्य जगत उसकी आँखों में नाच नाच कर तिरमिराता हुआ शनैः शनैः लुप्त हो जाता है; नदी का रव चुप हो जाता है, निर्जन तट बह जाता है, वकपंक्ति विलीन हो जाती है, बस वह रह जाता है, और उसके रहस्यमय तरल स्वप्न रह जाते हैं। जहाँ विषय-प्रधान कविता रचते समय कवि के संमुख विषय पंक्तिबद्ध हो खड़े हो गए थे और वह उन्हें चीन्ह रहा था, वहाँ विषयिप्रधान कविता करते समय एकमात्र कवि रह जाता है, बाह्य प्रकृति उसके आत्मा में अपना आदर्श अथवा प्रतीक छोड़ कर तरल बन जाती है, अथवा अनुभूति के अत्यधिक निगूढ हो जाने पर सुतरां लुप्त हो जाती है। और जिस प्रकार कालीबाड़ी में मस्त होकर नाचने वाले सच्चे बंग वैष्णव अपने आपे को भूल जाते हैं, इसी प्रकार विषयिप्रधान रचना में फूटते समय भावुक कवि अपने आपे को भूल जाते हैं। और जिस प्रकार दिव्य अप्सराएँ नदियों में से मधु तथा क्षीर तभी संचित करती हैं जब वे डियोनीसस के मंत्र में बँधी होती हैं—अपने आपे को भूली होती हैं—अन्यथा नहीं, इसी प्रकार भावुक कवि का आत्मा गीतिकाव्य के रूप में तभी प्रवाहित होता है जब वह प्रेम में अपने हृदय को पूरी तरह घुला चुका होता

है। जिस प्रकार मधुमक्षिकाएँ मधुमद से मत्त हो भरी दुपहरी, निर्जन में, फूल से फूल पर मँडराती और उनमें से मधु इकट्ठा करती फिरती हैं, उसी प्रकार प्रतिभा की सुरा में मस्त हो सच्चा कवि भी सरस्वती के उपवनों तथा कंदराओं में बहने वाले मधुमय स्रोतों से अपने गीतरूपी मधुकणों को एकत्र करता हुआ उड़ा करता है। और जिस प्रकार उन मधुमक्षिकाओं द्वारा संचित किए मधु को उनसे बलात् छीनकर हम उनके सभी प्रयत्नों तथा आकांक्षाओं को धूलिसात् कर देते हैं—पर फिर भी वे, क्यों कि उनका स्वभाव ही मधुसंचय करना है, पुष्पों के अंतरात्मा में घुस वहाँ के अमृत को पीना ही उनका जीवन है—मधुसंचय करती ही रहती हैं, उसी प्रकार एक सच्चा कवि अपने प्रयत्नों के विफल होने पर भी बराबर इस संसाररूपी उपवन के व्यक्तिरूप पुष्पों की अंतस्तली में पैठ वहाँ के अमृतमय एकत्व रस को पीता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि **आकांक्षाओं की विफलता ही में जीवन का आरंभ है और एक सच्चे विषयिप्रधान कवि की रचना में विफलता को ही जीवन के गीत का आधार बनाया जाता है।**

विषयिप्रधान कविता की एकता तथा नाटकीय एकता में भेद है

जिस प्रकार विषयिप्रधान कविता में उसी प्रकार नाटक और उपन्यास में भी एकता का होना आवश्यक है। किंतु साहित्य की पिछली दोनों विधाओं में कलाकार को एकतास्थापन के लिए सचिन्त रहना पड़ता है। एकता के इस उद्देश्य को ध्यान में रख वह अपने सभी पात्रों और घटनाओं को

प्रमुख घटना का अनुसारी बनाया करता है; उस घटना के एक तागे में उन सब को पिरोया करता है। यहाँ हमें कलाकार का हाथ एकत्रीकरण की दिशा में चलता हुआ दिखाई देता है। इसके विपरीत विषयिप्रधान रचना में कवि की सब वृत्तियाँ विषयी के रूप में अनुगत हो स्वयमेव एक बन जाती हैं और उनका प्रकाशन भी अप्रवर्तितरूपेण एक तान और एक लय के रूप में फूट पड़ता है। यहाँ उसे किन्हीं निर्धारित नियमों का पालन नहीं करना पड़ता; यहाँ तो उसका एकमात्र ध्येय श्रोता को अपने साथ कर लेना होता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि अपने तथा श्रोता के मध्य ऐक्यस्थापन के लिए अपनी रचना को वह चाहे जिस प्रकार घड़ सकता है, उसे चाहे जिस छंद में बाँध सकता है। किंतु इसका आशय यह कदापि नहीं कि जिस प्रकार उसके मन में विषयिप्रधान कविता के उद्बोधक मनोवेग का प्रकंप एकदम हो आता है, उसी प्रकार उसकी रचना भी अनायास निष्पन्न हो जाती है। नहीं, रचनानिष्पत्ति के लिए उसे भी प्रयास करना पड़ता है। किंतु कवितानिष्पत्ति हो चुकने पर कलाकार का हाथ अपनी कला में छिप जाता है और उसकी रचना उसके स्वाभाविक समुच्छ्वसन के रूप में आविर्भूत होती है।

भावप्रधान कविता की स्वतःप्रवर्तितता

विषयिप्रधान रचना के प्रारंभिक रूपों में कवि हमारे संमुख कलाकार के रूप में बिलकुल नहीं आता। वेदों की ऋचाओं में हमें उनको निर्माण करने वाला हाथ किंचित् भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

जिस प्रकार धरणी के धरुण वक्षःस्थल से जल का उत्स्राव आविर्भूत होकर ही हमें प्रत्यक्ष होता है, वह कहाँ से आया, कैसे आया और किस रूप में आया इत्यादि की हमें जिज्ञासा तक नहीं होती—इसी प्रकार वे गीत तो ऋषियों की हृदयस्थली से मुखरित होने पर ही प्रत्यक्ष हुए थे; जलभरनत जीमूत में चपला की प्रत्यंचा के समान चमक कर ही दीख पड़े थे। उनके रचने वालों के मन में, उन्हें किस रूप में रचा जाय, यह प्रश्न उठा ही न था। किंतु इस कोटि की रचना के एक बार प्रस्फुटित होने पर कवि का कर्तव्य है कि वह अंत तक उसे उसी रूप में निभाता जाय; उसके छंद और रीति आदि में किसी प्रकार का खलने वाला भेद न आने दे।

विषयिप्रधान कविता की दृष्टि से हिंदी साहित्य पर एक दृष्टि

जब हम विषयिप्रधान कविता की दृष्टि से हिंदी साहित्य के इतिहास का अनुशीलन करते हैं तब हमें इसकी परंपरा अनेक स्थलों पर खंडित हुई दीख पड़ती है। हिंदी साहित्य का विषयप्रधान **वीरगाथा-काल** खुमानरासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, आल्हा और विजयपालरासो में बीत कर उसका विषयविषयिप्रधान **भक्तिकाल** कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की रचनाओं में हमारे संमुख आता है। इन में कबीर तथा सूर की रचनाओं को हम किसी सीमा तक विषयिप्रधान कह सकते हैं; क्योंकि इन दोनों की रचनाओं में हमें कवियों का अपना आत्मा विवृत हुआ दीख पड़ता है। जायसी की रचना लाक्षणिक अथवा

रूपकमय है और तुलसी का मानस विषयप्रधान । **भक्तिकाल** के पश्चात् हम हिंदी के **रीतिकाल** में आते हैं, जिसकी रचनाएँ बहुधा विषयप्रधान हैं। इन रचनाओं में हमें कविता का उसके निखरे रूप में दर्शन नहीं होता, और ध्यान से देखा जाय तो यह कविता नहीं, अपितु चमत्कारों तथा अलंकारों की जादूभरी पिटारी है। चिंतामणि, यशवंतसिंह, बिहारी, मतिराम, भूषण, कुलपति, देव, पद्माकर, प्रतापसाहि आदि की रचनाओं में कहीं कहीं कविता का उत्कृष्ट रूप मिलने पर भी उनका दृष्टिकोण साधारणतया शब्दाडंबर और अलंकारों के विधान में लीन हुआ दीख पड़ता है। हिंदी के रीतिकाल से चलकर हम उसके **आधुनिकयुग** के प्रारंभिक काल (संवत् १९२४–१९६०) को छोड़ते हुए उसके मध्ययुग (१९६०–१९७५) में प्रविष्ट हो मैथिलीशरण गुप्त की वाणी में विषयिप्रधान कविता का उनके

बार बार तू आया

पर मैंने पहचान न पाया

इत्यादि पद्यों के रूप में दर्शन करते हैं। **मध्ययुग** के पश्चात् आने वाले **नवीनयुग** में (१९७५ से १९९३) हिंदी की विषयि-प्रधान धारा महादेवी वर्मा, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी, सुमित्रानंदन पंत, इलाचंद्र जोशी, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, हरिवंश राय बच्चन आदि सुकवियों की मनोरम रचनाओं में बड़े ही अनूठे रूप में अवतीर्ण हुई है।

जिस प्रकार हिंदी में उसी प्रकार अंग्रेजी में भी विषयिप्रधान

कविता का उत्थान और पतन उभरा हुआ दीख पड़ता है।

इसी दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य का अन्वीक्षण

एलीजबीथन युग में संपन्न हुई रचनाओं पर फ्रेंच तथा इटालियन रचनाओं का प्रभाव पड़ा, जिससे उनमें रुचिकर नवीनता आई और इस श्रेणी की रचनाओं का उस देश में पर्याप्त आदर भी हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि १६वीं सदी के पिछले अर्ध में इस कोटि की रचनाओं के उस देश में अनेक संग्रह प्रकाशित हुए। **एलीजबीथन युग** ने जिस प्रकार नाटकक्षेत्र में इसी प्रकार कवित्वक्षेत्र में भी बहुत सी कृत्रिम रचनाओं को जन्म दिया। इस का कारण था उस समय के कवियों की प्राचीन रचनाओं के पीछे चलने की बलवती इच्छा। मिल्टन के प्रख्यात गीतों के पश्चात् अंग्रेजी लीरिक उन विषयों में प्रवाहित हो गई जो उसके लिए उपयुक्त न थे, जैसे दर्शन तथा धर्म। साथ ही उस समय की लीरिक में, लीरिक के रूप को आवश्यकता से अधिक संयत करने वाले आचार्यों के हाथ में पड़ जाने के कारण एक प्रकार की पंगुता आ गई। **प्रकारवाद** के इस युग में साहसवृत्ति के नष्ट हो जाने के कारण उससे उत्पन्न होने वाली विषयिप्रधान कविता भी दब गई। और जहाँ हमें परिष्कार के इस युग में नटी के समान बनी-ठनी सुसंयत कविता के प्रचुर मात्रा में दर्शन होते हैं, वहाँ मनोवेगों के समान ही स्वतंत्रताप्रिय विषयिप्रधान कविता का अपेक्षाकृत अभाव सा दीख पड़ता है। इस युग में दीख पड़ने वाली कांटछांट की प्रवृत्ति से उपरत हो, कवियों का ध्यान फिर सौष्ठव-

वाद की ओर गया और उनके मन में मूर्त में छिपे अमूर्त सौंदर्य को, प्रस्तुत में संनिहित हुए अप्रस्तुत रहस्य को खोज निकालने की उत्कंठा जागृत हुई, जो आगे चलकर बर्न्स, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, बायरन, शैले और कीट्स जैसे महाकवियों की रचनाओं में अत्यंत ही रमणीय भंगियों के साथ कविता-मंच पर अवतीर्ण हुई।

आधुनिक हिंदी कवियों की भावप्रधान रचनाएँ

कहना न होगा कि परिवर्तन की जिस उत्कट अभिलाषा और प्रवृत्ति ने साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र के परंपरागत बंधनों से उन्मुक्त हो चक्रवाक और बुलबुल की नांई स्वतंत्र विचरने के लिए अंग्रेजी में बर्न्स, वर्ड्सवर्थ, शैले और कीट्स जैसे महाकवियों को प्रेरित किया था, सर्वतोमुखी स्वातंत्र्य की उसी उद्दाम अभिलाषा ने हमें हिंदी में प्रसाद, पंत, निराला और वर्मा जैसे सुकवियों के दर्शन कराए हैं। इनके गीतों में धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक रूढियों की बेड़ियों में जकड़ा हुआ भारत का आत्मा एक बार फिर से स्वातंत्र्य के लिए बड़े ही करुण स्वर में चीख उठा है। आधुनिक युग में अनर्गल हुई सोने की चमक ने और उसको येन केन प्रकारेण जुटाने के आत्मघाती उपकरणों के जंजाल ने भारत के सदातन प्रेममय आत्मा को दबा रखा था; इन कवियों के हृदयों में प्रेम का वही सनातन भाव आज फिर से फूट निकला है। भारत का यह चिरंतन दाय अपने विशुद्ध रूप में, अपने अत्यंत ही उदात्त तथा कमनीय रूप में हमें कालिदास,

तुलसीदास तथा सूरदास की रचनाओं में उपलब्ध हुआ था। कबीर की रहस्यमयी प्रतिभा ने उसे मर्त्यलोक की निम्न तली में प्रवाहित करते हुए भी नील नभ की आकाशगंगा में पहुँचा दिया था। जायसी ने उसी अप्रस्तुत प्रेम तत्त्व को प्रस्तुत में निदर्शित करके भारतीय आदर्शवाद पर सूफी दृष्टिकोण का मुलम्मा फेरा था। प्रेम हमारे संमुख अपने इन सभी रूपों में आया था, और खूब आया था। किंतु अपने इन सभी रूपों में यह अब तक समुद्र की भाँति धीर था, गंभीर था, अगम था; संसार में अविरत रूप से होने वाले उत्थान और पतन की परिधि से यह बाहर था। हम ने राम और सीता के प्रेम में, कृष्ण तथा गोपियों के अनुराग में चंचलता न निरखी थी। संक्षेप में हम ने अपने प्रेम को मानव सत्ता का अगम आदर्श बनाया था; उसे अपने मनमंदिर में सुवर्ण का मेरु बनाकर प्रतिष्ठापित किया था। प्रसाद, पंत और निराला का प्रेम इससे कुछ भिन्न प्रकार का है। उसमें भारत के प्रेम की सारी ही स्निग्धता, घनता और पवित्रता विद्यमान है, पर साथ ही उसमें पश्चिम से आए प्रेम की सारी ही चपलता, स्फीतता, मसृणता तथा तरलपन भी उपस्थित है। इन कवियों की अभिराम रचनाओं में भारत और पश्चिम का प्रेम एक अनिर्वचनीय द्विवेणी के रूप में प्रवाहित हुआ है। इन कवियों की विशेषता इसी बात में है।

१९३० में हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास लिखते समय हमने आधुनिक युग के इन कतिपय कवियों का सारासार

विवेचन किया था, और इनकी रचनाओं में विश्वजनीनता के कुछ बीज छिपे देखे थे। उसी वर्ष, हमारे इतिहास से कुछ पीछे, काशी से प्रकाशित हुए दोनों इतिहासों में इन कवियों को उपेक्षा की दृष्टि से देख साहित्यक्षेत्र से बाहर निकाल दिया गया था। सौभाग्य से वह दृष्टिकोण अब बदल गया है, और हमारे आलोचकों ने अपने कवियों का आदर करना सीख लिया है।

स्वातंत्र्यप्रवृत्ति का कलापक्ष पर प्रभाव

हम ने अभी कहा था कि आधुनिक युग में उत्पन्न हुई स्वातंत्र्यप्रवृत्ति ने उक्त कवियों की विषयिप्रधान रचनाओं को जन्म दिया है। स्वातंत्र्य की इस प्रवृत्ति ने जहाँ उनकी रचना के भावपक्ष को नवनवोन्मेषी बनाया है वहाँ साथ ही इसने उसके कलापक्ष पर भी चार चाँद लगाए हैं। हम जानते हैं कि कबीर ने अपनी अटपटी वाणी में दोहे तक के नियमों को तोड़ डाला था और अन्य कवियों की रचनाओं में भी हमें छंदोभंग आदि दोष मिल जाते हैं। अतुकांत प्रणाली संस्कृत में पहले ही प्रचलित थी; हिंदी के प्रेमी कवियों ने अपनी रचनाओं में इसी को अपनाया है। खड़ी बोली में अंत्यानुप्रासरहित पद्य का सब से पहले स्वागत पंडित अंबिकादत्त व्यास ने किया था। उनका कंसवध नामक काव्य बरवा छंद में है, पर उसमें अंत में तुक नहीं मिलाई गई है। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने इतने ही से संतुष्ट न हो अपनी रचनाओं में स्वच्छंद छंद का श्रीगणेश किया। आपके स्वच्छंद छंद दो प्रकार के हैं। एक में तुक के नियम का पालन किया

गया है। दूसरे में तुक का पालन भी नहीं है और ऊपर नीचे की पंक्तियों में मात्राएँ भी समान नहीं हैं। हर पंक्ति अपने ही में पूर्ण है और भावों की आवश्यकतानुसार संक्षिप्त अथवा विस्तृत बनाई गई है। किंतु एक दृष्टि से प्रत्येक पंक्ति दूसरी पर आश्रित भी है। छंद में मधुर लय का ध्यान रखा गया है; जिसके अनुशासन में सब पंक्तियाँ चलती हैं। यह बात निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी:—

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग बंद किए, शिथिल, पत्रांक में,
वासंती निशा थी

छंदःक्षेत्र में प्राप्त हुई स्वतंत्रता ही से संतुष्ट न हो पंत जी ने लिंगों के विषय में भी स्वतंत्रता बरती है। आप लिखते हैं—

मैंने अपनी रचनाओं में, कारणवश, जहाँ कहीं व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ तोड़ी हैं, यहाँ कुछ उसके विषय में लिख देना उचित समझता हूँ। मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग, पुँल्लिंग मानना अधिक उपयुक्त लगता है। जो शब्द केवल अकारांत इकारांत के अनुसार ही पुँल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग हो गए हैं, और जिनमें लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता, और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित सी हो जाती है। वास्तव

में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण चरणों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है, और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पड़ती है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि संस्कृत का देवता शब्द हिंदी में आकर पुँल्लिंग न होगया होता तो स्वयं देवता ही हिन्दी कविता के विरुद्ध हो गए होते। प्रभात और प्रभात के पर्यायवाची शब्दों का चित्र मेरे सामने स्त्रीलिंग में ही आता है, चेष्टा करने पर भी मैं कविता में उनका प्रयोग पुँल्लिंग में नहीं कर सकता।... "बूँद" "कंपन" आदि शब्दों को मैं उभय लिंगों में प्रयुक्त करता हूँ। जहाँ छोटी सी बूँद हो वहाँ स्त्रीलिंग, जहाँ बड़ी हो वहाँ पुँल्लिग, जहाँ हलकी सी हृदय की कंपन हो वहाँ स्त्रीलिंग जहाँ जोर जोर से धड़कने का भाव हो वहाँ पुँल्लिंग।

पंत जी के ये विचार युक्तिसंगत हैं अथवा असंगत इस विषय में यहाँ वाद-विवाद नहीं करना। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि आधुनिक युग के कवियों में स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति उद्दाम हो रही है और उनके लिए क्या भाव और क्या कला, किसी भी पक्ष में नियमों में बँधना असह्य हो रहा है। जिस प्रकार किसी जाति अथवा राष्ट्र के धारावाहिक इतिहास में ऐसे प्रसंग अनिवार्यरूप से आया करते हैं, इसी प्रकार उस इतिहास के वाग्गात्मक प्रकाशनरूप साहित्य में भी उनका आना अनिवार्य होता है। भारत का वर्तमान जीवन उथलपुथल का जीवन है; फलतः हमारे साहित्य में भी जिधर देखो उधर ही उथलपुथल मची दीख पड़ती है। निश्चय से क्रांति

के पराकोटि पर पहुँच चुकने पर शांत जीवन के दर्शन होंगे, तब हमारा साहित्य भी अपने आप संयत तथा परिपूर्ण हो जायगा।

अंग्रेज़ी की विषयिप्रधान कविता को विद्वानों ने उसके संस्थान (structure) उसमें दीखने वाली भावपक्ष के प्रति कलापक्ष की अधीनता और उसमें व्यक्त होने वाले कवि के व्यक्तित्व की दृष्टि से अनेक वर्गों में विभक्त किया है। कहना न होगा कि हमारे कवियों की रचनाएँ अभी उतनी संयत तथा परिष्कृत नहीं हो पाई हैं; इसलिए यहाँ इस दृष्टि से उन पर विचार करना भी अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

कविता और आधुनिक जगत्

वर्तमान युग परिवर्तन का युग है। किसी एक देश, एक जाति अथवा एक श्रेणी में ही नहीं, अपितु एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब जगह, सभी जातियों और सभी श्रेणियों में परिवर्तन का दौर चल रहा है। न केवल भौतिक, अपितु मानसिक तथा चारित्रिक जगत् में भी इसका चक्र अनवरत घूम रहा है। प्राचीन मर्यादाएँ टूट रही हैं, चिरंतन विचारधाराएँ सूख रही हैं; पुराने संघटनों का कायाकल्प हो रहा है; जीवन की निभृत शक्तियाँ, जो अब तक अव्यक्त पड़ी थीं, प्रबलता के साथ अग्रसर हो रही हैं और परिवर्तन के इस उद्दाम प्रवाह की हमें इयत्ता नहीं दीख पड़ती। आज हमारा जीवन प्राचीन प्रथाओं के खँडहरों में बीत रहा है। इन खँडहरों के धूलिपटल के मध्य में से हमें एक नवीन जगत् की झाँकी दिखाई देती है।

१९ वीं सदी का दृष्टिकोण

१९ वीं सदी—जो हम से कभी की बिछुड़ चुकी है और जिसकी इतिकर्तव्यता को अब हम केवल उसके प्रतिबिम्ब रूप में देख पाते हैं—सिद्धांतों और उनके प्रति होने वाले अनुराग का युग था। इस के पोषक सिद्धांतों में प्रमुख थे राजनीति, इतिहास की आंगिक संतति और विज्ञान के द्वारा भौतिक जगत् पर विजय प्राप्त करना।

इन मंतव्यों ने १९वीं सदी पर अपनी एक ऐसी छाप लगाई थी जिसके दर्शन हमें उससे पहले की सदियों में नहीं होते। इन्हीं सिद्धांतों को हम आज तक उन्नति और उत्थान के नाम से पुकारते आए हैं। उन्नति के साथ साथ परिवर्तन का आना अवश्यंभावी था, किंतु परिवर्तन का यह दौर किसी परिवर्तन के लिए न आ उन सिद्धांतों के संस्थान के लिए आया था। इसी परिवर्तन का नाम हमने विकास रखा था, हमारे विज्ञान का मूलमंत्र सचमुच यही था। विकास को हम ने उन्नति समझा था और इसी के आधार पर यूरोपीय नेताओं ने उदार दल (Liberalism) की स्थापना की थी। संक्षेप में १९ वीं सदी एक आशा का युग था। हमें प्रतीत होता था कि आने वाला युग सुवर्ण युग होगा।

एक पीढ़ी पहले मानवीय जगत् में एक और परिवर्तन आया। नवीन विचारों की धारा पुराने विचारों की धारा से, जिस में से उसकी उत्पत्ति हुई थी—कटकर अलग बहने लगी; क्योंकि विचारों में भी अन्य आंगिक वस्तुओं की नाईं विकास का होना स्वाभाविक है। १९वीं सदी के सिद्धांतों में से कतिपय सिद्धांत कुछ अंशों में नष्ट हो गए, कुछ में निरर्थक बन गए और कुछ इतने परिवर्तित तथा परिवर्धित हो गए कि आज हमारे लिए उनका पहचानना कठिन हो गया है। दूसरे शब्दों में विकास के नियम ने १९ वीं सदी के सिद्धांतों को भी अछूता न छोड़ा। विकास के इस सिद्धांत में हमें विकास के नहीं, अपितु अपने शासक और नियंता के दर्शन हुए। क्योंकि विकास की इस प्रगति पर हमारा नियंत्रण

नहीं है; इसकी आंधी के सामने सभी पुराण प्रथाएँ, सारी ही चिरंतन रूढियाँ, भागी चली जा रही हैं।

१९वीं सदी की उन्नति और आज की उन्नति की परिभाषा में भेद

विकास की यह शक्ति अजेय है। उन्नति और प्रगति का नाम हम अब भी लेते हैं, किंतु उन्नति के विचार, जो आज हमारे मन में हैं, उन्नति की उस भावना से सुतरां भिन्न है, जिसने हमारे पूर्वजों के हृदयों को उच्छ्वसित किया था, जिसने उनकी कर्मण्यता में त्वरा के चार चांद लगाए थे। उनकी दृष्टि में उन्नति का आशय था सुधार और भद्रभावन। उनके मत में उन्नति के द्वारा मानव समाज त्वरा के साथ अपने दैविक दाय की ओर अग्रसर हो रहा था और उसके उस दाय में संसार की अशेष विभूतियों का वर्गीकरण था। किंतु आज हमारा दाय—जो हमारे सामने बिखरा सा पड़ा है—यथार्थ दाय न हो एक प्रकार का अनिर्वचनीय भार है, हमारी पीठ पर कस कर बँधी एक बोझे की गठरी है। बहुत पहले हमारे पूर्वजों ने संसार पर शासन करने वाली शक्ति को संबोधित करके कहा था "भगवन्! तूने मनुष्यों की संख्या में भरपूर वृद्धि की है, किंतु उनके सुखों को आगे नहीं बढ़ाया।" वह अज्ञेय शक्ति, वह अनर्गल नियति अपनी प्रगति में प्रमत्त हुई हमें बलात् अपने आगे धकेले ले जा रही है, जिसका परिणाम यह है कि आज जनता में यह विश्वास दिनोंदिन घर करता जा रहा है कि संसार में उन्नति, कम से कम अपने पुराने अर्थ में, कोई तत्त्व ही नहीं है।

आज से पहले भी लोगों ने उन्नति का जीवन के अटल नियम के रूप में खंडन किया था, किंतु उन लोगों का हम से इस बात में अंतर था; क्योंकि वे अपने इस सिद्धांत पर आचरण भी करते थे। वे इस बात पर अपना सर्वस्व वार देते थे कि उन तत्त्वों या सिद्धांतों में—जिनमें उनकी आस्था थी—किसी प्रकार का परिवर्तन न आने पावे। मध्ययुग का रहस्य इसी चेष्टा में था। नवविद्वेषी (अर्थात् कंसर्वेटिव) अथवा समाज में उन्नतिप्रतिरोधी अंग (reactionary) का काम यही था; वे १८वीं सदी में होने वाली बौद्धिक क्रांति के विरुद्ध और उसके पश्चात आने वाली औद्योगिक क्रांति और अंत में राजनीतिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक क्रांति के विरुद्ध बराबर लड़ते रहे, चाहे अंत में जाकर उनके वे प्रयास विफल ही क्यों न रहे हों। किंतु नवविद्वेषिता का यह आंदोलन भी—अपने पुराने अर्थ में—आज कोई बलशाली तथ्य नहीं रह गया है। परिवर्तन को सभी ने अजेय शक्ति के रूप में सिर-माथे रख लिया है। सभी के मन में परिवर्तन की अभिलाषा घर कर चुकी है और संप्रति दीख पड़ने वाली अशांति तथा उठाऊपन के मूल में एकमात्र परिवर्तन की यही अंधी इच्छा काम करती दीख रही है।

इस उठाऊ परिस्थिति के उत्पन्न करने में अनेक शक्तियों का हाथ है। यातायात के वैज्ञानिक साधनों ने देशविदेश का अंतर मिटा दिया है। फलतः यदि कोई बात किसी एक देश अथवा जाति पर घटती है तो उसका सभी देशों और जातियों

पर समान प्रभाव पड़ता है; किसी एक देश अथवा जाति में आने वाले परिवर्तन का आवेग कूल तोड़कर सभी देशों और जातियों में समानरूप से प्रवाहित हो पड़ता है। अतीत घटनाओं के लेखों और ऐतिहासिक अनुसंधाताओं के प्रयत्नों ने जनता को अतीत की बहार फिर से दिखा दी है, और वे सभी लेखावलियाँ, जो आज तक अव्यवस्थित दशा में पड़ी रहने के कारण किसी एक देश अथवा जाति को ही प्रभावित करती थीं, अब संसार की सामान्य निधि बन जाने के कारण अखिल विश्व पर अपनी मुद्रा लगा रही हैं। अतीत में होने वाले संख्यातीत परिवर्तनों के परिज्ञान ने जनता के मन में परिवर्तन का उन्माद भर दिया है, यहाँ तक कि अब उन्हें कुछ भी परिवर्तन से परे नहीं दीखता, और स्वयं जीवन ही परिवर्तनों की एक शृंखला-मात्र प्रतीत होने लगी है। मूर्त विज्ञान के विकास और यंत्रकला की विष्वक् विभूति ने यह जता दिया है कि परिवर्तन का यह सिद्धांत कहाँ तक पसारा जा सकता है और कहाँ तक इसे निर्धारित लक्ष्य तथा अवेक्षित ध्येयों की अवाप्ति में संबद्ध किया जा सकता है। परिवर्तन के इन सब उपकरणों के साथ इसको संपन्न करने वाले उस उपपादक पर भी ध्यान दीजिए, जो है तो स्वयं अभावात्मक, किंतु जिसने परिवर्तन को अग्रसर करने में सब से अधिक सहायता दी है, **और वह है धर्म का अपने परंपरागत अर्थ में, इस जगत् से प्रयाण कर जाना।** सभी जानते हैं कि धर्म शब्द का परंपरागत अर्थ विधान और निषेध

है; इसका मूल एक अनिर्वचनीय भय में है और इसका प्रमुख पृष्ठपोषक दंड है। एक बार संस्थापित हो चुकने पर धर्म सब प्रकार की नवविद्वेषी शक्तियों का मुखिया बन बैठा था। समाज के विचारों तथा तज्जन्य क्रियाकलाप की धारा पर इसकी सब से प्रबल थाम थी।

परिवर्तन के इन सब स्रोतों ने मिल कर परिवर्तन की ऐसी संकुल त्रिवेणी बहाई कि आज हमें स्वयं परंपरागत जीवन भी उसमें डूबता दीख पड़ता है; जिसका परिणाम यह है कि इस समय हमारे संमुख जीवन का कोई भी स्थिर आदर्श नहीं दीख पड़ता। आज परिवर्तन के प्रकार की नोक किसी बिंदुविशेष पर न ठहर चारों ओर त्वरा के साथ घूम रही है; फलतः उसके द्वारा हम किसी भी लक्ष्य को नहीं निर्धारित कर सकते। आज जीवन के दिग्दर्शकयंत्र का चुंबक गल कर बह चुका है; यह हमें दिशाओं के परिज्ञान में तनिक भी सहायता नहीं देता। संक्षेप में वर्तमान युग संभ्रम और संकुल का युग है; आज हम अपनी आँख खुलने पर अपनी चिरंतन आशाओं को दलित हुआ पाते हैं; आज हमारे चिरपरिचित सिद्धांत एक एक करके अकिंचित् की झोली में समाते दीख रहे हैं। जागरण के इस झुटपुटे ने हमारे मन में यह बात बिठा दी है कि क्योंकि हमारे प्रमेयों की परिधि अनंत है इसलिए हमें उनका ज्ञान ही नहीं हो सकता और क्योंकि हमारे कर्तव्य का क्षेत्र अपरिमित है इस लिए हम उसे कर ही नहीं सकते।

अस्तव्यस्तता तथा संलव की इस परिस्थिति में आवश्यकता है किसी ऐसे तत्त्व की, जो इसके मध्य स्थिरता तथा शांति उत्पन्न कर सके, जो पहाड़ों उछलने वाले इस समुद्र में जीवननौका को ध्रुव बना सके। स्थिरता और संस्थान का यह आदर्श हमें अपने परिष्कृत रूप में इतना किसी भी ललित कला से नहीं प्राप्त हो सकता जितना कि कविता से।

परिवर्तन तथा अस्तव्यस्तता के युग में जीवन का एकमात्र सहारा कविता है

क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि कविता का मर्म है आदर्श को उद्भावित करना, अपनी काल्पनिक दृष्टि से अंध जगत् की तली में बहने वाले विन्यास तथा सौंदर्य की, सत्य तथा ऋत की उत्थापना करना और अपनी निर्माणमयी वृत्ति द्वारा उसको कांदिशीक हुए मर्त्यसमाज के संमुख ला खड़ा करना। कविता मौलिक सत्य का उत्थापन करके निराशा का प्रतीकार करती है, वह जीवन के संकुल प्रवाह की तली में संनिहित हुए विन्यासयुक्त सौंदर्य की झांकी दिखाती है। यह शीर्ण हुए जीवन पट को फिर से बुन देती है; यह उसके विकीर्ण तंतुओं में पीयूष का संचार कर देती है, यह जीवन के आशय तथा लक्ष्य में नवीनता ला देती है।

यहाँ इस बात का निदर्शन करा देना अनुचित न होगा कि अतीत के महान् कवियों ने इस कर्तव्य को कहाँ तक पूरा किया है, और किस प्रकार उन का निर्माणमय प्रभाव उनके अपने समय, देश

अतीत के कवियों ने कविता के उक्त ध्येय

को कहाँ तक पूरा किया है

और जाति तक ही परिसीमित न रह उनके पीछे आने वाले युगों, इतर देशों, जातियों, सभ्यता और संस्कृतियों पर मुद्रित होता चला आया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार भारत की धर्मप्राण वैदिक कविता ने, युग-युगांतरों तक दास्य की जंजीरों में जकड़ी हुई आर्यजाति के संमुख आदर्शमय जीवन का प्रतिरूप खड़ा करके उसकी रक्षा की है। हीब्र्यू जाति की धार्मिक कविता, आज भी, दूसरी भाषाओं में अनूदित हो, विभिन्न मस्तिष्कों से निकले विविक्त व्याख्यानों से अलंकृत होकर न केवल संसार के कोने कोने में फैली हुई हीब्र्यू जाति का ही संरक्षण कर रही है, अपितु वह संसारभर के ईसानुयायी मनुष्यवर्ग का कंठहार बनी हुई है। इलियड और ओडेसी नामक महाकाव्यों का रचयिता होमर कवि प्रकांड शिक्षक और एक प्रकार से प्राचीन ग्रीस का निर्माता था; हम देखते हैं कि किस प्रकार प्राचीन ग्रीस से पीछे आने वाली आज तक की पीढियों पर उसका सिक्का समानरूप से छपा चला आता है और आज भी वह विकसित मानवजाति को कर्तव्यमय जीवन का आदर्श दिखाने से पीछे नहीं हटता। अपनी अमर रचनाओं में लैटिन जाति तथा रोमन साम्राज्य का प्रतिरूप उपस्थित करके उसकी व्याख्या करने वाला अनागतदर्शी वर्जिल महाकवि आज भी संसार में इस बात के लिए पूजा जाता है कि किस प्रकार रोमन राजनीतिज्ञ, न्यायाध्यायी तथा

प्रबंधकों के साथ एकस्वर हो उसने अशेष रोमन जगत् में घर करने वाली विन्यासयुक्त सभ्यता का निर्माण किया और उसे चतुर्दिक् के संसार में फैलाते हुए भविष्य में आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाया। यही बात संसार के अन्य महाकवियों पर चरितार्थ होती है। आज भी अंग्रेज जाति महाकवि चौसर को आदिम नवजनन से उद्भूत होने वाले जीवनविस्तार का व्याख्याता बता कर आदर के साथ स्मरण करती है। अंग्रेजों के अनुसार वह महाकवि आधुनिक इंगलैंड का अभिनंदक था। महाकवि स्पेंसर ने एलीभ्रबेथन युग के सिद्धांतों को मुखरित करते हुए उस युग की कर्मण्यतामयी प्रवृत्ति को बल के साथ अनुप्राणित किया। मिल्टन ने अपने देशवासियों पर चरित्र के उस सिद्धांत, विश्वास तथा नियम को अंकित किया जो आगे चलकर पवित्रतावाद (Puritanism) का आधार बना। अपेक्षाकृत हाल के युग में महाकवि शेले और बायरन ने उन सिद्धांतों तथा आदर्शों का प्रतिरूप खड़ा करके जनता को स्फूर्तिमयी बनाया जो फ्रांस की राज्यक्रांति के मूल में संनिहित थे। इनसे एक पीढ़ी पीछे महाकवि ब्राउनिंग ने अपनी अमर रचनाओं में उस उदारतावाद को उद्बोधित किया, जो समाज, राजनीति-तथा उद्योगक्षेत्रों में उदारता स्थापित करता हुआ १९वीं सदी का सब से बड़ा उपपादक बना। कविता की इस निर्माणमयी प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए जब हम भारत की ओर अग्रसर होते हैं तब यहाँ भी हम अपने संमुख रामायण और महाभारत में

उसी आदर्श का प्रतिरूप उत्थित हुआ पाते हैं जो सदाकाल से इस देश का कंठहार रहता आया है। आदर्शवाद की यह धारा हमें भास, कलिदास तथा भवभूति आदि कवियों की रचनाओं में कभी मसृण तथा सुनहली बनकर दीख पड़ती है तो कभी गंभीर तथा गहन आशयवाली बनकर प्रवाहित होती दृष्टिगोचर होती है। आदर्शवाद का यही दाय हमें हिंदी कविता में पहले से भी कहीं अधिक भव्यरूप में संपन्न हुआ दीख पड़ता है। यदि कबीर की डुगडुगी में बजने पर इस आदर्शवाद के संगीत की उदात्त लहरी कुछ भौंडी पड़ गई है तो तुलसी के विश्व-जनीन नगाड़े पर आ वह बहुत ही गंभीर तथा प्रौढ संपन्न हुई है। सूर की वीणा में पड़ कर तो उस पर चार चाँद ही लग गए हैं। इनके पीछे रीतिकाल के कवियों की रचनाओं में पहुँच कर उस आदर्शवाद ने कामिनियों के कुचकपोलकर्दम में कीलित होकर भौतिक सौंदर्य के उस चुभते हुए प्रतिरूप को हमारे सामने रखा है जो न चाहने पर भी हमारे मन में टीस और सीत्कार भर देता है और हमें किंचित्काल के लिए उद्दिष्ट पथ से विचलित सा कर देता है। इसके पश्चात् आधुनिक कवियों ने अपने परिवर्तित वातावरण में परिवर्तमान जीवन के जो प्रतिरूप उपस्थित किए हैं उनमें हम अपने सामने घटने वाली सभी भव्य तथा भौंडी बातों को खचित हुआ पाते हैं।

कवियों का कभी अंत नहीं होता और संभव है हमारे आधु-निक कवियों में से ही कुछ कवि भविष्य में आने वाली पीढ़ियों

के लिए कालिदास और कबीर सिद्ध हों और उनकी रचनाएँ हिंदी जगत् में अमरता को प्राप्त कर लें। कवित्व का आदर्श और उसकी आवश्यकता तो आज भी वैसी ही बनी हुई है जैसी पहले युगों में थी **और इस प्रकार की सभी दृष्टियों से विचार करने पर कविता का अनुशीलन मानवीय संस्कृति का प्रमुख अंग बन जाता है और उसकी कला का अभ्यास मानवीय कर्मशीलता का एक मौलिक अवयव हो जाता है।**

महान् कवियों की वृत्ति (function) में सदा से भेद रहता आया है। जब कि वे सभी, कवि होने के रूप में जीवन के आदर्श का निर्माण करके उसे अपनी रचना में खचित करते हैं, उनके द्वारा उतारे गए जीवन के दो आदर्श कभी एक से नहीं उभरते; क्योंकि ये आदर्श जीवनपट पर तूलिका चलाने वाली उन वैयक्तिक प्रतिभाओं के निर्माण हैं जो जीवन के साथ तादात्म्य संबंध से विद्यमान होने के कारण, जीवन के ही समान संकुल, विशद तथा अत्यंत विभिन्न बनी रहती हैं। इसीलिए सेंट पाल ने कहा है कि **जीवन के व्याख्यान विभिन्न हैं, किंतु आत्मा एक है।** दो व्यक्तियों के द्वारा किया गया किसी वस्तु का व्याख्यान कभी भी एक सा नहीं होता और व्याख्येय सामग्री कभी भी दो कलाकारों के संमुख एक सी बन कर नहीं आया करती। फलतः कविता का काम भी कभी पूरा नहीं हो पाता। **कविता है जीवन के आशय की समनुगत तथा अनंत सकलता** (in-

tegration); और जब कि अतीतकालीन कविता हमारे लिए एक अनमोल पैतृक दाय है, वर्तमानकाल की कविता हमारे लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। कुछ कवि निसर्गतः भविष्य के उद्बोधक हुए हैं तो दूसरों के लिए उनका ध्येय अतीत को उद्भावित करके उसे वर्तमान का अवयव बनाना रहा है। कुछ ने वर्तमान पर आकार और सौंदर्य को मुद्रित करते हुए हमारे समक्ष उन वस्तुओं अथवा तथ्यों के प्रतिरूप उपस्थित किए हैं जो हमारे अत्यंत समीप हैं। इस प्रकार कबीर का महत्त्व उस की इस दिव्यदर्शिता में है कि उसने अपने युग से आगे आने वाली बातों के प्रतिरूप हमारे संमुख उपस्थित किए हैं; उसने अपनी सर्चलाइट से भविष्य के उस सुदूर गर्भ को उद्भासित किया है, जो आज भी समष्टिरूपेण हमारे संमुख नहीं आ पाया। दूसरे कवि कला की दृष्टि से उससे अधिक प्रवीण होने पर भी उतने ख्यातनामा न हो सके, क्यों कि उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय जीवन के उन निभृत कोनों को बनाया था, जहाँ हम कभी ही जाते हैं, अथवा जहाँ पहुँचने पर हमें पहाड़ खोदकर चूहा हाथ लगा करता है। **सृष्टि की इस संकुल वेगवती धारा को और मनुष्यसमाज पर पड़ने वाले इसके प्रखर प्रभाव को पहचानना और उसे निरूपित करना कविता के अनुशीलन का एक भाग है और कविता की भी अपेक्षा यह है सभ्यता के अध्ययन का एक अंग। संसार को समष्टिरूपेण पहचानने के साधनों में कविता प्रमुख है; संसार के साथ**

उचित व्यवहार करने, इसके मूल पर आधिपत्य स्थापित करने और इसकी अनवरत गति को वश में करने के संभारों में कविता सब से प्रधान है !

मानवीयता अथवा जीवन के मार्मिक अंशों के साथ संबंध रखने वाले अनुशीलन का—उस अनुशीलन का जो विचार, भावना तथा कल्पना में अनुस्यूत है—पर्यवसान कविता में है। और यहाँ यदि हम कविता पर, आधुनिक जीवन के साथ होने वाले इसके संबंध को ध्यान में रखते हुए विचार करें तो कुछ अप्रासंगिक न होगा। हमने अभी कहा था कि वर्तमान जगत का प्रमुख लक्षण उसका परिवर्तन की भँवरों में फँसा रहना है। उन अनेक शक्तियों में से—जो समवेत होकर इसकी सचेष्टता में त्वरा उत्पन्न कर रही हैं—हमें दो एक को लेकर विचार करना होगा। ये शक्तियाँ, (उदाहरण के लिए) हैं **विज्ञान की प्रधानता** और **व्यवसाय की संकुलता**। आइए, अब इन दोनों के साथ होने वाले कविता के संबंध को ध्यान में रखते हुए कविता और उसकी वृत्ति पर विचार करें।

कविता और विज्ञान

विज्ञान का जन्म आधुनिक युग में हुआ है और कुछ दिनों से इसके विकास में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। पिछली दो एक पीढियों में विश्वविद्यालयों की उच्च श्रेणियों में इसका पठन पाठन आवश्यक बन गया है। जनता की मांगों को पूरा करने के लिए चारों ओर वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ खुल रही हैं। विज्ञान के अध्ययन का प्राचीन विश्वविद्यालयों में भी प्रवेश हो रहा है और नवीन विश्वविद्यालयों में तो शिक्षा का प्रमुख अंग ही विज्ञान बन गया है। विज्ञान के पृष्ठपोषक इतने पर ही संतुष्ट न हो इसके लिए इससे भी कहीं बड़ी माँगें पेश कर रहे हैं। उनका कहना है कि विज्ञान के शिक्षण का अभी उतना संतोषजनक प्रबंध नहीं हो पाया है जितना कि होना चाहिए; और उन विषयों को, जिनका महत्त्व विज्ञान के संमुख नहीं के तुल्य है और जिनकी आधुनिक युग में अपेक्षाकृत न्यून आवश्यकता है— आवश्यकता से कहीं अधिक महत्त्व दिया जा रहा है।

किसी अंश में इन माँगों की पूर्ति की जा चुकी है। वैज्ञानिक अध्ययन तथा अनुसंधानों पर विपुल धनराशि व्यय की जा रही है। शिक्षण के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो चुका है। विद्यालय तथा महाविद्यालयों की पाठविधि में विज्ञान का पर्याप्त प्रवेश हो चुका है। भिन्न भिन्न विषयों के अध्ययन में निरीक्षण, प्रलेखन तथा परीक्षण के वैज्ञानिक ढंग स्वीकार किए जा रहे हैं और इस प्रकार शनैः शनैः विज्ञान मानवीय संस्कृति का एक बड़ा स्तंभ बन रहा है। किंतु दुर्भाग्यवश उक्त परिवर्तनों का प्रवेश स्वागत के साथ न होकर वैमनस्य के साथ किया जा रहा है। किसी अंश तक विज्ञान के पृष्ठपोषकों की मांगों में कठोरता होने और दूसरे अंशों में पुराण पाठावलि के पुजारियों की नवविद्वेषिता तथा रूढि में धँसी आस्था के कारण दोनों दलों में एक संघर्ष सा उठ खड़ा हुआ है। लोग सोचते हैं कि विज्ञान और कविता का वैमुख्य मौलिक है। दोनों ही पक्षों ने मानवीय ज्ञान के साकल्य और उसकी विभिन्न विधाओं में दीख पड़ने वाली पारस्परिक सहकारिता को भुला रखा है। इस वादविवाद में एक ओर खड़े हैं व्यवस्थित लाभ (vested interests), पुराण रूढ़ियाँ और असूया तथा ईर्ष्या के वे भाव जो रूढिविशेष में पले हुए तथा जीवन के प्रतिरूपविशेष में धँसे हुए मनुष्यों के मन में स्वभावतः एक नवीन वस्तु के विरुद्ध उत्पन्न हो जाया करते हैं। इसके दूसरी ओर हैं उक्त व्यवस्थित लाभों और रूढ़ियों के

वर्तमान शिक्षा-पद्धति में विज्ञान का प्रवेश

विरुद्ध खड़ी होने वाली क्रांति, नवविद्वेषिता से उत्पन्न होने वाली प्रवाहहीनता का प्रत्याख्यान, और जीवन की नवीन आवश्यकताओं तथा उनको पूरा करने के साधनों की बलपूर्वक पुष्टि। किंतु विज्ञान और ललित कलाओं—और विशेषतः कविता के मध्य होने वाला यह द्वंद्व मानवसमाज के लिए भयावह है। राष्ट्र के सर्वाङ्गीण जीवन की व्याख्या के लिए विज्ञान और कविता दोनों ही की समान रूप से आवश्यकता है। यदि विज्ञान में राष्ट्र का भौतिक रूप खचित है तो कविता में उसका आत्मा तरंगित होता है। यदि नियतियक्षी के चंगुल में फँस क्षतविक्षत हुए मानवसमाज को विज्ञान अपनी मरहमपट्टी से स्वस्थ बनाता है तो कविताकामिनी उसे अपनी कलित काकलि सुना उसके मन में आशामय जीवन का संचार करती है। जीवन के लिए दोनों ही की समान रूप से आवश्यकता है और दोनों ही जीवनपुष्प के सर्वाङ्गीण प्रस्फुटन में एक दूसरे के सहायक हैं। इसलिए राष्ट्रीय शिक्षापद्धति में दोनों के सामंजस्य में ही राष्ट्र का कल्याण है।

कविता और विज्ञान का सामंजस्य

ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होगा कि उक्त सामंजस्य के स्थापित हो जाने पर किस प्रकार विज्ञान कविता को पुष्टि प्रदान करके उसे उत्तान खड़ी करता है और किस प्रकार कविता विज्ञान में अपनी मधुर कूक फूक कर उसके भौतिक कलेवर को मसृण तथा कांतिमय बना देती है। विज्ञान अपने नव नव आविष्कारों और उनसे उत्पन्न हुई बहुविधता में चमचमाते

हुए जीवनतंतुओं को कवि के संमुख प्रस्तुत करके उसकी कविता को विश्वजनीन बनाता है। यह उसकी कल्पनाशक्ति और उसके मनोभावों को प्रथाओं और रूढियों की संकुचित प्रणालियों से निकाल उन्हें स्रष्टा के सततस्पंदी, बहुमुखोन्मेषी जगत् का पारखी बनाता है। विज्ञान के अभाव में कवि की जो प्रतिभा भव्य होने पर भी अनियंत्रित होने के कारण कभी यहाँ कभी वहाँ उचाट हुई फिरा करती है वही अपने ऊपर विज्ञान का मुलम्मा फिर जाने पर जीवन के मानसरोवर में एक गंभीर, प्रसन्न तथा विशद गति से संचार करने वाली राजहंसी बन जाती है। अब उसकी आँख न केवल आत्मिक जगत के विश्लेषण में ही संलग्न रहती है अपितु वह भौतिक जगत् के संश्लेषण में भी प्रवीण बन जाती है; क्योंकि विज्ञान और कविता—अपने अपने क्षेत्र के भिन्न होने पर भी—हैं दोनों समानरूप से उत्पादक शक्तियाँ। दोनों का ध्येय है मानवसंस्थान के तथा मनुष्य के आश्रयभूत इस जगत् के अंतस्तल में बहने वाले सौंदर्य तथा ताल के नियमों को उद्भावित करना। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ कवि की प्रतिभा को विज्ञान के मुलम्मे से चार चाँद लगने चाहिएँ और उसकी रचना में उसके प्रवेश से परिपूर्णता आनी चाहिये वहाँ दूसरी ओर कविता के प्रवेश से वैज्ञानिक बुद्धि में माधुर्य की उत्पत्ति होकर उसमें सरसता भर जानी चाहिए।

यदि हम इस दृष्टि से इतिहास का अनुशीलन करें तो हमें

अतीत इतिहास में कविता और विज्ञान का साहचर्य

ऐसे उदाहरण यूरोप में मिलेंगे, जहाँ विज्ञान और कविता दोनों ने साथ मिलकर जीवन की व्याख्या की है। प्राचीन ग्रीस ने विज्ञान को जन्म दिया था और साथ ही कवित्वकला का विकास भी उसी देश में हुआ था। एथेनियन कविता की उत्पत्ति—जो आज तक शिक्षित समाज की हृत्स्थलियों को अपनी पीयूषवर्षा से अनुप्राणित करती आई है—उस युग में हुई थी, जब कि ग्रीस में विज्ञान का, अर्थात् वस्तुजगत् के आशय तथा उसके पारस्परिक संबंध को ढूंढ निकालने की इच्छा का सूत्रपात हो रहा था। इसमें संदेह नहीं कि उस समय भौतिक विज्ञान अपने शैशव में ही था, किंतु उसके मूल में काम करने वाली गवेषणी बुद्धि को पर्याप्त प्रगति मिल चुकी थी और भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण तो भली भाँति प्रस्फुट भी हो चुका था।

जिस प्रकार ग्रीस में उसी प्रकार रोम में भी लुक्रेशस की विश्वजनीन कविता का जन्म—जिसमें पहलेपहल लैटिन कविता ने अपना परिपूर्ण सौंदर्य लाभ किया था—एपिक्यूर के विज्ञान से हुआ था; और एपिक्यूर के दर्शन में न केवल चरित्र की मीमांसा की गई थी, अपितु उसमें प्रकृति के नियमों को निर्धारित करने और भौतिक जगत् के निर्माण तथा उसकी प्रगति के वैज्ञानिक सिद्धांतों को खोज निकालने का भी बहुत ही स्तुत्य प्रयत्न किया गया था। लुक्रेशस ने विज्ञान के प्रति उत्पन्न हुई अपनी इस उत्कट

उमंग को अपनी कवित्वकला का आदर्श बनाया था। वर्जिल ने अपने उस प्रख्यात संदर्भ में—जिसमें उसने अपने जीवन का आदर्श संपुटित किया है—मेधा की अधिष्ठात्री देवी से इस बात की भिक्षा इतनी नहीं मांगी कि वह उसे कविजगत् के अंतरंग में निहित हुए सौंदर्य का अथवा अपने देश, नदी, जंगल तथा ग्राम्य प्रदेशों का पुजारी बनावे जितनी कि इस बात की कि वह उसे **भौतिक जगत् के उपादान** का तथा **विश्व के विन्यास और उसके नियमों** का चितेरा बनावे। कविता के उस पार और उसकी अंतस्तली में विज्ञान का आश्चर्यकारी प्रकाश निहित है और एकमात्र विज्ञान की मीमांसा से ही मनुष्य अपनी दैविक दाय का भोगी बनता हुआ, नियतियत्री पर अधिकार पाकर भय से स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है।

नवजनन के युग में भी विज्ञान और कविता साथ मिलकर चलते दिखाई दिए हैं। मिल्टन—जिसमें कि इंग्लिश कविता सर्वात्मना प्रस्फुटित हुई थी और जिसमें कवित्वकला ने पराकोटि का परिष्कार पाया था—संगीत और ज्योतिष विज्ञान का व्युत्पन्न पंडित था। उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उसकी कविता के कलेवर पर जगह जगह सर्चलाइट फेंक कर उसे अनोखे रूप से जगमगा दिया है। अपने पैरेडाइज लास्ट में उसने केवल एक ही व्यक्ति का नाम लिया है; और वह व्यक्ति अर्थात् गेलिलेओ साहित्यसेवी न होकर भौतिक विद्या तथा ज्योतिष शास्त्र का विदग्ध पंडित था। यदि कहीं मिल्टन अपने काल से दो सौ वर्ष

पश्चात् उत्पन्न हुए होते तो हमें निश्चय है कि वे अपनी रचना में डार्विन का नाम संमिलित करके उसे और भी अधिक सुशोभित करना पसंद करते।

कविता और विज्ञान का सामंजस्य: भारत में

जिस प्रकार यूरोप में इसी प्रकार प्राचीन भारत में भी हमें विज्ञान और कविता का सामंजस्य स्थापित हुआ दृष्टिगत होता है; और यह निश्चय है कि प्रातःकाल के समय, उषारानी की सुनहरी पिचकारी से निकल विश्वव्यापी नीलाम्बर पट पर पड़ने वाले विविध रंगों को अपनी जीवनमयी तूलिका से चीतकर विश्व के स्फूर्तिमय आत्मा को कीलित करने वाला वैदिक ऋषि यदि पहुँचा हुआ कवि था, तो वह साथ ही उन सब विभूतियों के स्रोत को, उनके मूल में निहित हुए आत्मतत्त्व को खोज निकालने के कारण यथार्थ वैज्ञानिक भी था। महाकवि भास, अश्वघोष, कालिदास तथा भवभूति की रचनाओं में जहाँ हमें बहुमुख जीवन के नानाविध प्रतिरूप उभरे हुए दीख पड़ते हैं वहाँ हमें उन की कृतियों में भाषाविज्ञान आदि की भी अनेक पहेलियाँ विवृत हुई दीख पड़ती हैं। और यदि गोसाईं तुलसीदास की कविता में विश्वमुखी जीवन के अमर तत्त्वों की अमर उत्थानिका संपन्न हुई है तो उनके रचे मानस में आत्मज्ञान की भी अनुपम छटा संपन्न हो आई है। और कौन कहेगा कि जीवन के सरल तथा उदात्त तत्त्वों को टूटे फूटे छंदों तथा शब्दों में मुखराने वाले कबीर के उत्तान उपदेश में हमें स्वयं विश्वात्मा के उच्छ्वसन

की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती और किस की कल्पना में यह बात कभी आई है कि अंधराज सूरदास की, निर्दय प्रेमी श्रीकृष्ण द्वारा मधुवन की ऋजु बालाओं पर की गई मीठी सख्तियों को, और उनके द्वारा टीस में मिठास और मिठास में टीस को उद्भावित करने वाली कविता में सच्ची, पते की, हृदय से निकली हुई आत्मिक काकलि, मानसिक कूक और ऐंद्रिय कसक नहीं निहित है। आधुनिक काल में भी हम कविवर रवींद्र की रचनाओं में कविता तथा विज्ञान का अभिलषित सामंजस्य स्थापित हुआ देखते हैं और इस सामंजस्य के विन्यास में ही कवित्वकला का वास्तविक परमोत्कर्ष है।

आधुनिक युग में जहाँ विज्ञान का प्रचुर प्रसार हुआ है वहाँ कविता में भी तदनुसारिणी विविधता आ गई है। इंगलैण्ड के महाकवि शॉ तथा फ्रांस और जर्मनी के आधुनिक कवियों ने उसी त्वरा और आधिक्य के साथ इस बात का सांमुख्य किया है और दोनों के सामंजस्य में प्रवीणता प्राप्त की है। भारत में भी विज्ञान अथवा कविता दोनों में किसी एक के क्षेत्र में सीमित होकर दूसरे के क्षेत्र को न देख सकने वाले विशेषज्ञों के सिद्धांतों से बचते हुए हमें जीवन को उसकी समष्टि में परखना सीखना चाहिये और हमारे कवियों को वैज्ञानिकों द्वारा समृद्ध किए गए जीवन के नव नव प्रतिरूपों की नव नव सृष्टि करके उनकी नव नव व्याख्या करना सीखना चाहिए।

कविता और विज्ञान के सामंजस्य का परिणाम

हमने कहा था कि विज्ञान से कविता को बल तथा तत्त्व की प्राप्ति होती है। इसके द्वारा वस्तुओं के तथ्य के साथ होने वाला कवि का संबंध घनतर हो जाता है, और उसकी वाणी में ऊहापोहिनी बुद्धि के व्यापार से उत्पन्न होने वाली सचेष्टता आ जाती है। और वह तत्त्व, जो विज्ञान को कविता से प्राप्त होता है, सूक्ष्म होने पर भी अत्यधिक महत्त्वशाली है। इसी तत्त्व को फ्रांसीसी विद्वान् **मार्मिक दीप्ति** अथवा **प्रक्षेप** (elan vital) के के नाम से पुकारते हैं। इसके द्वारा कवि के मनोवेगों और उसकी कल्पनाओं में उत्तेजना तथा संघटन शक्ति आ जाती है। मनोवेगों के अभाव में विज्ञान तथ्यों का एक लेखा है; कल्पना के अभाव में क्रियात्मक विज्ञान एक **अधेनु माया** है। आविष्कार अपने यथार्थ-रूप में कल्पना को भौतिक द्रव्यों के साथ जोड़ देना है। आरंभ के वैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रकाशन कविता के कल्पनामय गर्भ में हुआ था तो इहकालीन वैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रकाशन में हम उत्पादक अंतर्दृष्टि को—जिसका आधार है कविजगत् की सारभूत कल्पनाशक्ति—पर्यवेक्षण तथा परीक्षणों द्वारा प्राप्त किए गए असित तथ्यों के साथ संयुक्त हुआ पाते हैं; और इस अंतर्दृष्टि को विस्तृत करने में कविता के अनुशीलन से प्रचुर सहायता प्राप्त होती है। क्योंकि कविता के अनुशीलन से हम अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार कवियों की प्रतिभा में भाग लेने वाले बन जाते हैं और हमारी उपपादक कल्पनाशक्ति विकसित हो उठती है।

इस प्रकार जिन देशों के कवियों तथा वैज्ञानिकों ने कवित्व तथा विज्ञान के इस भव्य सामंजस्य को अपने देशों में स्थापित किया है, उन देशों में हमें नित्य नव-नव आविष्कारों, तत्त्वानुसंधानों तथा साहित्यों के दर्शन होते हैं। क्या वैज्ञानिक, क्या अनुसंधायक, और क्या कवि, उन देशों में सभी की दृष्टि बहुमुखी होती है और सभी का जीवन विज्ञान और प्रतिभा के विविध दीपों से प्रदीपित हुआ रहता है। इसके विपरीत हमें अपने देश में प्रतिकूल ही परिस्थिति दीख पड़ती है। हमारे वैज्ञानिक कोरे वैज्ञानिक हैं; हमारे तत्त्वानुसंधायक असंयत तथा परानुगामी हैं; और हमारे कवि ओछे घड़े और आवश्यकता से अधिक वाचाल हैं। तीनों में से किसी के भाग्य में भी नवोन्मेषिणी बुद्धि नहीं; कल्पना और संयम की उचित उठबैठ नहीं; जिसका परिणाम है हमारा भौतिक और साहित्यिक दोनों ही प्रकार का अकिंचनपन। हमने भौतिक क्षेत्र में आजतक किसी नवीन तत्त्व का आविष्कार नहीं किया; हमारे कवियों में एक या दो को छोड़ किसी ने भी हमें विश्वजनीन कविता की काकलि नहीं सुनाई। फलतः हम सब प्रकार से शक्तिसंपन्न होने पर भी किसी विधेयात्मक क्षेत्र में सफल नहीं हो सके; और हमारे नवयुवक अपने शक्तिभंडार को या तो उन्माद और आलस्य की मरुभूमि में फेंक देते हैं अथवा पारस्परिक कलह तथा अन्य प्रकार की घातक प्रणालिकाओं में बहा देते हैं।

इस दृष्टि से यूरोप तथा भारत का प्रातीप्य

इस अत्यंत भयावह परिस्थिति को सुधारने के लिए हमें अपने दृष्टिकोण को बहुमुखी तथा व्यापक बनाना होगा; हमारे वैज्ञानिकों को कवित्वकला की पूजा करके अपनी मेधा को नवनवोन्मेषिणी बनाना होगा; हमारे कवियों को विज्ञान की प्रयोगशालाओं में बैठ अपनी प्रतिभा को यथार्थ की, सच्चे जीवन की, नवागत स्फूर्ति की चेरी बनाना होगा; हमारे तत्त्वानुसंधायकों को विज्ञान और कविता दोनों ही से सहायता लेकर अपने मस्तिष्क को व्यापक तथा उर्वर बनाना होगा; और इस प्रकार कविता तथा विज्ञान के इस चारु समन्वय से हमारे देश और साहित्य में उस अमरता की संसृष्टि बन पड़ेगी जिसके हमें कभी वैदिककाल, अशोकयुग तथा गुप्तसाम्राज्य में दर्शन हुए थे।

कविता और व्यवसाय

जनता में कतिपय व्यक्ति ही विज्ञान की सेवा में अपने जीवन को अर्पण करते हैं और एकमात्र कवित्वकला को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले भावुक व्यक्ति भी कतिपय ही हुआ करते हैं। किंतु उद्योग और व्यापार तो हम सब के लिए समान हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हम सब का जीवन व्यवसाय पर निर्भर है और हम में से सभी थोड़े बहुत इसमें लगे भी रहते हैं। जब हम किसी देश या जाति को वैज्ञानिक बताते हैं तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि उस जाति या देश के कतिपय व्यक्ति विज्ञान के अध्ययन में उचित प्रकार से रत रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने आविष्कारों और अनुसंधानों को लेखबद्ध करते और उसके द्वारा अपने अनुसंधानों और उनसे उत्पन्न हुए उत्साह और साहस को अपने देशवासियों तक पहुँचाते हैं; जिसका परिणाम यह होता है कि परंपरया उस जाति तथा राष्ट्र के जीवन में एक प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सूत्रपात हो जाता है। इसी प्रकार एक साहित्यिक अथवा कलाप्रिय देश से हमारा अभिप्राय उस देश से है जिसके कतिपय व्यक्ति साहित्य तथा अन्य कलाओं की सेवा में दीक्षित हो अतीत काल के साहित्य तथा कलाओं को वीचीतरंगन्याय द्वारा देश के बहुसंख्यक मनुष्यों

तक पहुँचाते हों। किंतु एक व्यावसायिक जाति अथवा व्यावसायिक देश से हमारा अभिप्राय उस जाति अथवा उस देश से है, जिसके कतिपय व्यक्तियों को छोड़ शेष सभी व्यक्ति व्यवसाय में निरत रहते हों और जिनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य व्यवसाय ही का प्रसार करना हो।

यूरोप और अमेरिका व्यावसायिक हैं

हमारी दृष्टि में यूरोप एक व्यवसायप्रधान भूखंड है। वहां हमें व्यवसाय और उससे उत्पन्न हुई उग्र अधीरता जीवन के मधुमय मर्मों को आघात पहुँचाती दृष्टिगोचर होती है। वहाँ व्यवसाय ने विज्ञान को अपना चेट बना उससे उन उन यंत्रों का आविर्भाव कराया है, जिन्होंने मनुष्य के मौलिक महत्त्व को धूलिसात् कर दिया है। इन यंत्रों की सततोत्थायिनी बेसुरी ध्वनि ने मानव हृत्तंत्री के उन रागों को लुप्त कर दिया है, जो जीवन में मधुमयी आशा का संचार करते हुए हमारे आत्मा को इस मिट्टी के ढेर में फँसे रहने पर भी जीने के लिए लालायित किया करते हैं।

अमेरिका में तो यंत्रों की इस बेसुरी धाँय-धाँय ने इससे भी कहीं अधिक उग्र रूप धारण किया हुआ है। वहां के नरसमाज ने तो प्रजातंत्र राज्य की स्थापना के पश्चात् व्यवसाय को अपने जीवन का एक प्रकार से लक्ष्य ही बना लिया है। अमेरिका की सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख आधार ही वहाँ के व्यवसाय की निराली परिस्थिति है। धन और जन की प्रतिदिन बढ़ने वाली संख्या ने

व्यवसाय की वृद्धि में दिनदूनी और रात चौगुनी उन्नति ला दी है। मध्य तथा पाश्चात्य स्टेटों की ओर जाति के अग्रसर होने के उपरांत वहाँ के उद्योग धंधों में एक प्रकार की प्रचंडता आ गई है। और इस प्रचडता को, क्रियात्मक विज्ञान के द्वारा प्रकृति पर प्राप्त की गई विजय ने पहले से भी द्विगुणित कर दिया है। सिविल युद्ध के पश्चात् एकीभूत होने पर उस देश की जनता ने भौतिक विकास को उन्नति के उस उत्तुंग शिखर पर पहुँचाया जो उसने इतिहास में आज तक नहीं देखा था। व्यवसाय के इस विवृतमुख दानव ने राष्ट्रीय जीवन के अन्य सभी पहलुओं को अपनी परछाईं में दबा रखा है।

किंतु जिस प्रकार अन्य देशों में उसी प्रकार अमेरिका में भी व्यवसाय के प्रति उत्पन्न हुई इस प्रवृत्ति के कुपरिणाम जनता को दीखने लगे हैं और वहाँ के निवासी शनैः शनैः शांत जीवन की रम्यस्थलियों को ढूँढने में अग्रसर भी होने लगे हैं।

कविता और व्यापार का सामंजस्य

कविता और व्यापार देखने में एक दूसरे के प्रतीपी हैं। व्यापार के प्रकार कला की साधना से भिन्न-प्रकार के होते हैं। व्यापारी पुरुष की दृष्टि में कविता एक हेय वस्तु नहीं तो उपेक्षणीय धंधा अवश्य है और यही बात एक कवि कहा करता है व्यापारी पुरुष के विषय में। किंतु यदि कविता और व्यवसाय समानरूप से जीवन के लिए आवश्यक हैं तो सभ्यता और संस्कृति को उनके मध्य सामंजस्य स्थापित करना चाहिए

और उनकी क्लृप्ति इस प्रकार करनी चाहिए कि दोनों एक दूसरे के विरोधी न रह एक दूसरे के सहकारी बन जाँय; क्योंकि जहाँ एक ओर कवि के लिए उत्पादन और व्यवसाय के सब उपकरणों का प्रत्याख्यान करना जीवन से हाथ धो बैठना है वहाँ दूसरी ओर व्यवसायी के लिए कवित्व को विदा कर देना जीते जी मर जाना है। क्योंकि व्यवसाय जीवन का एक साधन-मात्र है, यह उसका ध्येय नहीं। कवित्व की कूची से मुद्रित न होने पर हमारा जीवनफलक "साइनबोर्ड" न बन कर लकड़ी का एक फट्टामात्र रह जाता है।

कतिपय व्यवसायियों की दृष्टि में—विशेषतः अमेरिका में—व्यवसाय एक पेशा न रह कर महत्त्वशाली कला बन गई है, जिसके मूल और सतत अभ्यास में उत्पादक शक्ति संनिहित है। सहज व्यवसायी का उद्योग धंधे के प्रति एक प्रकार का प्रेम हो जाता है; और इस प्रेम को हम आदर्श प्रेम का एक रूपांतर कह सकते हैं। यह प्रेम कवित्व के क्षेत्र में विकसित न होकर व्यवसाय के क्षेत्र में परिसीमित हो जाता है। यदि व्यवसाय में इस प्रेम की पुट न हो तो वह **अधेनु माया** बन जाता है और व्यवसायी का जीवन सब प्रकार से फलाफूला होने पर भी धूलिमय रह जाता है। अंधे व्यवसाय से संसार का चक्र तो चलता रहता है, जीवनघटीयंत्र की यह माल भी घूमती रहती है, किंतु किस लिए ? स्वयं व्यवसायी के अंत के लिए; उसके भौतिक तंतुओं को तितर बितर करने के लिए। अंधा व्यवसाय शरीर और प्राणों को

जोड़े रखता है; मतिहीन उद्योगधंधे समाज में एक सरणि उत्पन्न करते हैं, किंतु किस लिए ? भौतिक अस्थिपंजर के पिंजरे में बंद हुए आत्मकीर को तरसाने के लिए; उसके स्वातंत्र्य को नष्ट कर उसे रह रह कर दुखी करने के लिए । मतिहीन व्यवसाय की भित्ति पर उभरे हुए सामाजिक चित्र में समता की भावना कैसे आ सकती है ? उसमें समवेदना तथा सहानुभूति का संचार कैसे हो सकता है ? स्मरण रहे, मनुष्य की उत्पत्ति व्यवसाय की सेवा के लिए न हुई थी । ऋषियों ने उद्योगधंधों की पूजा के लिए मनुष्य के मौलिक अधिकारों तथा स्वत्वों की घोषणा नहीं की थी । व्यवसाय की दासता राजनीतिक दासता से परतर है। पिछली में आत्मा नष्ट हो जाता है तो पहली में वह रह रह कर, ससक ससक कर प्राण दिया करता है। **व्यवसाय की इस आत्महीनता को दूर करने के लिए उसमें कविता की पुट देना आवश्यक है । उद्योग की इस नीरसता को दूर करने के लिए उसमें जीवन का रस प्रवाहित करना वांछनीय है।** व्यावसायिक जगत् के भीतर पाए जाने वाले रूप, व्यापार, तथा परिस्थितियाँ अनेक मार्मिक तथ्यों की व्यंजना करती हैं। जहाँ कवि की कल्पना भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ इत्यादि की रूपगति में सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता और भव्यता आदि का उत्थापन करती है, वहाँ वह व्यावसायिक जगत् में अनिवार्यरूप से होने वाली विविध घटनाओं और परिस्थितियों में भी—जिन्हें हम प्रतिक्षण अपनी आँखों के

समझ पाते हैं—एक अपरिचित किंतु आत्मिक सत्य का—जिसे हम दूसरे शब्दों में शिव और सुंदर के नाम से पुकारते हैं—उद्भावन कर सकती है।

व्यवसाय के दो पक्ष हैं एक उत्पत्ति और दूसरा संघटन। व्यवसाय को कला के उच्च पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिए आवश्यक है कि इसे आनंद अथवा रसोत्पत्ति का साधन बनाया जाय। क्योंकि कला का लक्षण ही यह है कि इसमें उत्पत्ति का ध्येय आनंद होता है और आनंद के साथ निर्माण किया जाता है। उत्पादन में प्राप्त होने वाले आनंद की उत्पत्ति उत्पादक के मन में निहित हुए उत्पत्ति के प्रतिरूपों से होती है। इसी प्रकार संघटन में होने वाले आनंद की प्राप्ति संघटयिता के मन में निहित हुए संघटनीय के प्रतिरूपों से होती है और **इन दोनों प्रकार के प्रतिरूपों को जीवनसमष्टि के प्रतिरूप बनाकर उत्पादक तथा घटयिता के मन में प्रस्तुत करना कविता का काम है**। कविता से अन्वित हुए प्रतिरूपों के उत्पादन और संघटन से व्यावसायिक समाज का कार्यक्षेत्र उर्वर हो जाता है और उसके जीवन में एक प्रकार की रसवत्ता आ जाती है। व्यावसायिक क्षेत्र में कवित्वरस के प्रवाहित होजाने पर जातीय जीवन भौतिकता के निम्न तल से उठ कर आत्मिकता के व्यासपीठ पर पहुँच जाता है और हमें तथा हमारे श्रमजीवी कर्मचारियों को घरघराने वाली मशीनों की बेसुरी धाँयधाँय में जीवनसमष्टि के उस राग की उपलब्धि होने लगती है जो बाह्य जगत् में ताप से तिलमिलाती

धरा पर धूल झोंकने वाले अंधड़ के प्रचंड झोकों में उग्र और उच्छृंखल बन कर तथा बिजली की कँपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलंत स्फोट में भीषण बन कर हमारे कानों में पड़ा करता है। राष्ट्रीय कवियों का प्रमुख कर्तव्य है व्यवसाय की जनसाधारण परिस्थितियों तथा वस्तुओं में से जीवन की असाधारण रसमयी प्रतिमूर्तियाँ खड़ा करके श्रांत हुए राष्ट्र को फिर से जीवन की सुधा द्वारा अनुप्राणित करना; क्लेश और क्लांति की मरुभूमि में भी उसके संमुख आशा के सुंदर सोते बहाना। और किसी राष्ट्र की कला के साफल्य अथवा असाफल्य का निर्णय व्यवसाय के वर्तमान युग में इसी बात से होना अवश्यंभावी है।

गद्य काव्य — उपन्यास

पद्य तथा गद्य का प्रमुख भेद उनकी विशेष प्रकार की तालान्वितता में है। कविता का लक्षण करते हुए हमने बताया था कि **पद्य एक आदर्श** (Pattern) **है जो कवि की योग्यता के अनुरूप उसकी रचना की प्रत्येक पंक्ति में आवृत्त होता है**। इस आदर्श का अवयव एक चरण है; और पद्य के सभी भेदों तथा उपभेदों में उसके आधारभूत इस अवयव की आवृत्ति होना आवश्यक है। यदि पद्य में चरण खंडित हो जाय अथवा इसके रूप में किसी प्रकार की गड़बड़ हो जाय तो पद्य भी खंडित हो जाता है। पद्य शब्द की व्युत्पत्ति से ही कविता के इस **आवृत्त और पुनरावृत्त होने वाले तत्त्व** का आभान हो जाता है, जब कि गद्य शब्द की व्युत्पत्ति ही से इस बात की अभिव्यक्ति हो जाती है कि **गद्य का संस्थान असंघटित होता है; उसमें आदर्श (पुनरावृत्ति) का अभाव होता है और उसका शब्दविन्यास सीधा चलने वाला होता है**। आवृत्ति के इस आदर्श को उद्भावित करने पर ही कवित्वकला की सफलता या असफलता निर्भर है। किंतु यदि कवि ने एक मात्र आवृत्ति के इस तत्त्व पर ही अधिकार प्राप्त किया है और

पद्य और गद्य
पद्य में आवृत्ति होती है

कविता के अन्य उपकरणों से वह हीन है तो हम उसे कोरा "तुक बंधक" कहेंगे। इसके विपरीत यदि वह अपने आदर्श को किसी प्रकार से खंडित न करते हुए उसमें अभिलषित विविधता ला सकता है तो समझो उसने कवित्वकला की एक बड़ी सूक्ष्मता पर अधिकार प्राप्त कर लिया है।

ताल गद्य में भी है, किंतु उसमें आवृत्ति नहीं होती

यह ताल गद्य में भी है, किंतु ठीक उसी सीमा तक, जहाँ तक कि एक व्यक्ति, वाक्य के अवयवविशेषों पर बल-विशेष दिए बिना उनका उच्चारण नहीं कर सकता। किंतु स्मरण रहे, गद्य के इस लय में आवृत्ति का तत्त्व नहीं रहता। हो सकता है कि एक गद्यसंदर्भ के अंतस् में भी अतुकांत अथवा स्वच्छंद कविता का कोई टुकड़ा आ जाय; किंतु इस टुकड़े का वहाँ होना सहृदय पाठकों को अखरता है, और इससे गद्य के सौंदर्य को ठेस पहुँचती है।

पद्य का स्रोत : चराचर जगत् की देवाधिष्ठितता

कहना न होगा कि मनुष्य, इससे पहले कि वह विश्वजनीन तत्त्वों पर विचार करे, काल्पनिक विचारों में मस्त होना सीखता है; इससे पहले कि वह निर्धारणात्मक शक्ति से काम ले, अपनी अनिश्चयात्मक तथा उखड़ी-पुखड़ी मनोवृत्ति को काम में लाता है; इससे पहले कि वह व्यक्त वाणी बोले गुनगुनाना सीखता है; गद्य में बोलने से पहले वह पद्य में गाना सीखता है; इससे पहले कि वह पारिभाषिक शब्दों का उपयोग करे

औपचारिक शब्दों से काम चलाता है। इन औपचारिक शब्दों का उपयोग उसके लिए इतना ही स्वाभाविक है, जितना हमारे लिए उन शब्दों का, जिन्हें हम स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक कहते हैं। अविकसित मनुष्य के जगत् में सब से पहली बुद्धिरेखा कविता के रूप में उद्भूत हुई थी; यह कविता आजकल की नाईं विश्लेषण तथा संश्लेषणात्मक प्रक्रियाओं पर निर्भर न हो कर केवल उसकी अपनी कल्पना तथा अनुभवशीलता में उद्गत हुई थी। सृष्टि के आदिम पुरुषों की आध्यात्मिकता ही उस कविता का स्रोत थी; और हम जानते हैं कि कविता का जन्म चराचर जगत् का व्याख्यान करने की इच्छा में हुआ है। लोग कहते हैं कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है, और आविष्कार का ही दूसरा नाम कल्पना अथवा प्रतिभा है। कल्पना ज्ञान का प्रतिनिधि है। इससे पहले कि मनुष्य में विश्लेषणात्मक ज्ञान का विकास हुआ, मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा से उत्पन्न होने वाले इस प्रश्न का कि **यह सब क्या है और कहाँ से आया है** उत्तर एकमात्र उसकी अपनी कल्पना में प्राप्त हुआ था। स्वभावतः पुरुष की आदिम कविता दैविक थी, क्योंकि उस समय जो कुछ भी इस आदिम पुरुष को अपना कल्पना से बाहर दीखता था, वही उसके लिए दैविक अर्थात् **देवाधिष्ठित** बन जाता था; और इन कल्पित देवीदेवताओं पर उसने अपनी मानवीय कल्पना का मुलम्मा चढ़ा कर उन्हें कुछ अनिर्वचनीय ही रूप में देखा था। आज भी हमें बच्चों के मानसिक विकास में यही बात देख पड़ती है। उनका

जगत् उनकी कल्पनाओं पर खड़ा होता है; उसे भी हम एक प्रकार की कविता ही कह सकते हैं। सृष्टि के इन आदिम पुरुषों को ही, जिन्होंने अपनी कल्पना से उन देवीदेवताओं की उद्भावना की थी, हम कवि कहते हैं; और ग्रीक भाषा में कवि (Poet) शब्द का अर्थ ही निर्माता है। और क्योंकि ये लोग स्वयं रचनामय भगवान् के प्रथम उच्छ्वास थे, इस लिए इनकी रचना में इन तीन तत्त्वों का, अर्थात् उदात्तता, जनप्रियता और रागात्मकता का पाया जाना स्वाभाविक था, और यही तीन तत्त्व आज भी कविता के सर्वश्रेष्ठ निर्मायक तत्त्व हैं।

यह बात स्पष्ट है कि आदिम पुरुष का वागात्मक प्रकाशन, रागमय होने के कारण संगीतमय था; उसमें एक प्रकार की ताल उत्पन्न हो गई थी; उसमें आवृत्ति का अंश विद्यमान था, जिसके कारण वह सहज ही स्मृतिपथ पर आरूढ हो जाता था। मनुष्य अपने रागमय हृदय की व्यक्ति के लिए तब से लेकर आज तक इसी आवृत्तिमय, तालान्वित कविता का आश्रय लेता आया है। और क्योंकि धर्म भी कविता के समान कल्पना से ही प्रसूत है, इसलिए रागमय होने के कारण उसकी व्यक्ति भी प्रारंभ से लेकर आज तक कविता ही के रूप में होती आई है। इस प्रकार आदिम पुरुष के वागात्मक व्याख्यान में हमें राग, ताल तथा कल्पना से उत्पन्न हुए देवीदेवताओं और उनके द्वारा स्थापित किए गए धर्म आदि का अत्यंत ही मधुमय संमिश्रण उपलब्ध होता है।

किंतु सभ्यता और संस्कृति के आनुक्रमिक विकास ने मनुष्य के आदिम भावों को ठेस पहुँचा, उसे कल्पना की उच्च परिधि से उतार, शनैः शनैः यथार्थता की कठोर, और इसी लिए नीरस आधिभौतिक परिधि में ला खड़ा किया है। उसने उसे "अपने अंतस्" से निकाल कर "अपने उपकरणों के मध्य" में ला पटका है। अब वह कल्पना के तंतुओं में न उलझ स्थूल जगत् की मूर्तियाँ घड़ता है; कल्पना से जन्मे देवीदेवताओं को न पूज यथार्थता में उभरे हुए कंचन की कीर्ति गाता है; देवीदेवताओं द्वारा समर्थ किए गए धर्म की गौरवगाथा न गा कंचन को संपन्न और सुरक्षित करने वाले राजनीतिक नियमों के गुण गाता है; आत्मा के स्वच्छंद प्रवाह-स्वरूप आदर्शवाद को छोड़ भौतिक जगत् के पोषक तथा विश्लेषक विज्ञान की परिचर्या करता है। **फलतः जिस प्रकार आदिम पुरुष के कल्पनामय जीवन का वागात्मक प्रकाशन पद्यरूप कविता में हुआ था, इसी प्रकार आधुनिक पुरुष के यथार्थ जीवन का वागात्मक प्रकाशन गद्य रूप उपन्यास तथा उपाख्यान आदि में हुआ है।**

सभ्यता के विकास में आदिम पुरुष का कवितामय दृष्टिकोण बदल गया

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता और उस के परिपोषक सभी आत्मिक तत्त्वों में मनुष्य बाह्य जगत् से पराङ्मुख हो अपने भीतर केंद्रित होता है; उसके **विसार** का विनाश हो उसमें

पद्य और गद्य में होनेवाली आत्मिक वृत्ति में भेद

निसार अथवा संकोच उत्पन्न होता है । इसके विपरीत गद्य में, और गद्य को जन्म देने वाले सभी भौतिक तत्त्वों में, मनुष्य का आत्मा भीतर से बाहर की ओर जाता है; दूसरे शब्दों में उसकी घनता अथवा संकोच नष्ट हो उसमें बाह्यवृत्तिता तथा विसार का आविर्भाव होता है। **इसका परिणाम यह है कि जहाँ कविता में शब्दों का संक्षेप होता है वहाँ गद्य में शब्दों को स्वतंत्रता प्राप्त होती है, और उनका आवश्यकता के अनुसार निर्बाध खुला प्रयोग किया जा सकता है।** जहाँ कविता का प्रयोग उत्कट राग वाले तत्त्वों के प्रकाशन में होता है, वहाँ गद्य का प्रयोग सामान्य राग वाले तत्त्वों के प्रकाशन में होता है। फलतः गद्य के प्रकाशन में कविता के समान गभीरता न हो एक प्रकार की शिथिलता होती है । सभी जानते हैं कि स्निग्धघन संगीत संक्षिप्त होता है, और उसमें हमारे मार्मिक भावों की कूक होती है। इसके विपरीत गद्य का काम हमारे जीवन के सामान्य क्रियाकलाप को अंकित करना है। उदाहरण के लिए; एक निबंधकार चांदनी में की गई अपनी यात्रा को आराम के साथ विस्तृत संदर्भों में सुनाता है, जब कि एक कवि उस चाँदनी को देख उसमें तन्मय हो जाता है, और अपनी उस घनतम सत्ता का प्रकाशन बहुत ही नपे-तुले ज्योत्स्नामय शब्दों द्वारा करता है। इसमें संदेह नहीं कि लंबी कवित्वरचना में भावों तथा शब्दों की यह आदर्श घनता अखंड नहीं रह जाती, किंतु वहां भी हमें इसके दर्शन गद्य की अपेक्षा कहीं अधिक परिमा-

र्जित रूप में होते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि **यदि गद्य एक शांति के साथ बहने वाली नदी का समतल प्रवाह है, तो पद्य एक घरघराकर बहने वाली नदी का लहरमय, कहीं बाँसों उठा तो कहीं एक सा बहने वाला, फेनोज्ज्वल प्रवाह है।**

पद्य और गद्य के रूप और शब्द-विन्यास में भेद है

ताल और तालिका (Key) की दृष्टि से गद्य और पद्य में मौलिक भेद है; और शब्दों के यही दो तत्त्व संगीत में प्रधानता पाकर उसके रूप और विन्यास में शब्दों की आवश्यकता के अनुसार, जैसा चाहें, परिवर्तन कर देते हैं। और क्योंकि कविता भी संगीत ही का विकसित रूप है, इस लिए उसमें भी शब्दों का रूप तथा विन्यास गद्य की अपेक्षा भिन्न प्रकार का होना स्वाभाविक है। गद्य का शब्दविन्यास प्रतिदिन के साधारण व्यवहार के अनुसार होता है; कविता में बदल कर वह उन उन भावों की विशेषता को अभिव्यक्त करने के लिए विपरीत प्रकार का हो जाता है। इसी लिए हम कविता को गुरुमुख से पढ़ते समय उसका "खंड" और "दंड" इन दो प्रकार का अन्वय किया करते हैं।

पद्य की शैली गद्य की शैली से भिन्न प्रकार की है

संगीत के साथ अखंड संबंध होने के कारण पद्य की शैली भी गद्य की शैली से सुतरां भिन्न प्रकार की रहती आई है। फिर भी कविता के रहस्य को समझने वाले सहृदय पाठक कविता के भावपक्ष और कलापक्ष में विवेक करते हुए उसके भाव-

पक्ष को प्रधानता देते रहे हैं। किंतु हमारे संस्कृत और हिंदी-साहित्य में एक युग ऐसा भी आया था, जब कविता के भाव-पक्ष को भुला उसके कलापक्ष, अर्थात् रीति आदि को ही उसका सर्वस्व माना जाने लगा था; यहाँ तक कि **कतिपय आचार्यों ने काव्य का लक्षण करते हुए रीति ही को उसका आत्मा कह डाला था**। ऐसे आचार्यों की दृष्टि में कविता पद्य में इसलिए नहीं लिखी जाती थी कि इसका बीज ऐसे रहस्यमय तत्त्वों में निहित है, जो निसर्गतः एकमात्र पद्य में भलीभाँति निदर्शित किए जा सकते हैं, प्रत्युत इसलिए कि रीति ऐसा बताती है, और वह इस बात का समर्थन करती है। इनके मत में कविता की भाषा का प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा के साथ कोई संबंध नहीं था; इसका सौंदर्य स्वाभाविक सौंदर्य न था; यह तो एक सौंदर्याभास था, जिसे कवि-आचार्य घड़ा करते थे और जिसका निर्धारित किए गए कतिपय नियमों के अनुसार कविता में होना आवश्यक समझा जाता था। संस्कृत के चामत्कारिक युग में लिखी गई माघ तथा भारवि आदि की रचनाओं से यह बात संस्कृत के क्षेत्र में स्पष्ट होती है तो बिहारी से पीछे के सभी रीतिमार्गी हिंदीकवियों की रचनाओं से हिंदी के विषय में प्रत्यक्ष हो जाती है।

रीतिकाल का ध्येय शब्दों का परिष्कार था

हिंदी में सबसे पहले कबीर आदि मर्मी कवियों ने कविता की भाषा के अनुचित रूप से आलंकारिक होने का विरोध किया था। किंतु ये साधक लोग अपेक्षाकृत निकृष्ट जाति में उत्पन्न हुए थे, इस

लिए भाषा के विषय में इनके सिद्धांत हिंदीजगत् में मान्य न होने पाए और जनता तुलसीदास तथा सूरदास जैसे महाकवियों द्वारा अपनाई गई भाषा को बराबर परिष्कृत बनाती रही। उनकी इसी प्रवृत्ति का परिपाक हमें आगे चल कर रीतिमार्गी कवियों की अलबेली रचनाओं में प्रत्यक्ष हुआ। हिंदी के आधुनिक युग के प्रथम और मध्य चरण में भी शब्दों को आवश्यकता से अधिक परिष्कृत करने की प्रवृत्ति काम करती दीख पड़ती है। किंतु वर्तमान काल की हिंदी कविता ने जहाँ अन्य रूढियों तथा प्रथाओं की बेड़ियों को तोड़ स्वतंत्रता का अभिनंदन किया है, वहां भाषा की अनुचित कृत्रिमता के प्रति भी उसने अपने क्रांतिभाव को कार्यरूप में परिणत कर दिखाया है।

अंग्रेजी के रीति-काल का ध्येय : शब्दों का परिष्कार

जिस प्रकार संस्कृत तथा हिंदी के इतिहास में उसी प्रकार अंग्रेजी के इतिहास में भी हमें अठारहवीं सदी में ऐसे ही युग के दर्शन होते हैं, जब कविता की शैली और उसके प्रकारपक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया था, और उसके साथ संबंध रखने वाली रूढियों की दुहाई दी जाती थी। कविता के इस अविवेकी शब्दवाद के विरुद्ध महाकवि वर्ड्सवर्थ ने आवाज उठाई थी; और यह सिद्ध करने के लिए कि **जो शब्द गद्य में व्यवहृत होते हैं, उन्हीं का कविता में प्रयोग होना चाहिए**, उन्हों ने जहाँ अपनी कविता के भावपक्ष को प्रतिदिन

के वस्तुजात पर खड़ा किया था वहाँ साथ ही उसके कला-पक्ष को भी प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली भाषा पर ही आश्रित रखा था।

पद्य और गद्य के सामंजस्य की ओर प्रयत्न

जहाँ एक ओर भारत तथा यूरोप के भावप्रधान कवियों ने पद्य की भाषा को गद्य ही के समान बना कर पद्य को गद्य की ओर खींचा, वहाँ गद्य के पृष्ठपोषकों ने उसकी शब्दावलि में कविता के तत्त्व, संगीत तथा समतालता आदि का प्रवेश कर के उसे पद्य की ओर अग्रसर किया; जिसका मनोरम परिणाम आगे चल कर संस्कृत में बाणभट्ट की कादंबरी के अत्यंत ही परिष्कृत गद्य में और अंग्रेजी में बन्यन रचित पिल्ग्रिस प्रोग्रेस आदि के गद्य में प्रस्फुटित हुआ। हिंदीक्षेत्र में भी आज इलाचंद्र जोशी आदि के गद्य में यही बात दीख पड़ती है।

कविता और उपन्यास

जिस प्रकार पुरुष के संगीतमय आत्मप्रकाशनरूप पद्य का प्रतीप प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली गद्यमय भाषा में है, उसी प्रकार उसके संगीतमय छंदों में बहने वाली कविता का प्रतीप उसकी व्यावहारिक भाषा में कहे जाने वाले उपन्यासों में है। कविता रचते समय कवि का आत्मा बाह्य जगत् में विचरने पर भी अंतर्मुख रहा करता है; इससे उसकी रचना में एक प्रकार की घनता और संक्षेप आ जाते हैं। उपन्यास लिखते समय कलाकार की वृत्तियाँ मुख्यतया बाह्य जगत् में विचरती हैं,

जिस का परिणाम यह होता है कि बाह्य जगत् के समान उस की रचना में भी स्थूलता तथा विस्तार का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि जहाँ सहृदय रसिकों को सदा से कविता रुचती आई है, वहाँ साधारण जनता सदा से उपन्यास और आख्यायिकाओं में विनोद लाभ करती रही है। कविता की इस निगूढ़ता को देख कर ही हमारे आचार्यों ने शिक्षित समाज के लिए वेदों और अशिक्षित समाज के लिए पुराण आदि का आयोजन किया था।

आधुनिक युग में कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास और आख्यायिका का अधिक प्रचार हुआ है

किंतु समय बदल गया है; जीवन की आवश्यकताएँ बदल चुकी हैं और उन्हीं के साथ जीवन के रागात्मक व्याख्यान अर्थात् साहित्य में भी परिवर्तन आ गया है। जहाँ पहले कविता और नाटकों की चर्चा रहती थी, वहाँ अब उपन्यास और आख्यायिकाओं का दौरदौरा है। यदि आज हम साहित्य की मात्रा को उसके महत्त्व का मापदंड बनावें तो भी उपन्यास और आख्यायिका ही उसके सब अंगों में अधिक महत्त्वशाली दीख पड़ेंगे। परिमाण ही की दृष्टि से नहीं, आज के सर्वोत्तर प्रतिभाशाली कलाकारों में बहुतों ने अपनी प्रतिभा को प्रख्यापित करने का साधन इन्हीं दो को बनाया है। लोकप्रियता की दृष्टि से भी इन्हीं दो का पहला नंबर है। आज जनता में कविता और नाटक दोनों मिलकर इतने नहीं पढ़े जाते जितने कि अकेले उपन्यास पढ़े जाते हैं। इसका

आशय यह नहीं कि बहुसंख्या द्वारा पढ़ी जाने वाली औपन्यासिक रचनाएँ कविता की अपेक्षा अधिक चिरजीवी रहेंगी; नहीं; बहुधा बहुसंख्या के द्वारा पढ़ी जाने वाली रचनाएँ आशा से अधिक शीघ्रता के साथ भुला दी जाती हैं। किंतु इस कोटि की रचनाओं में एक बात अवश्य आ जाती है, और वह बात है यह, कि इन रचनाओं को सभी प्रकार के और सभी परिस्थितियों के पाठक पढ़ते हैं; और वे—चाहे शनैः शनैः और थोड़े ही दिनों के लिए क्यों न हों—जनप्रिय भावों की एक बहुत बड़ी संख्या को अपील करती हैं; यहाँ तक कि वर्तमानकाल में, उपन्यास—क्या धार्मिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक और क्या राजनीतिक—सभी प्रकार के सिद्धांतों को मानवसमाज के संमुख रखने का प्रमुख साधन बन बैठा है।

आधुनिक युग के साथ उपन्यास का सामंजस्य

यह नहीं कहा जा सकता कि उपन्यास को प्राप्त हुई यह आशातीत लोकप्रियता समीपी भविष्य में न्यून हो जायगी। और जहाँ एक ओर उपन्यास में कलाकार को अपनी कल्पनाशक्ति और कला-प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर मिलता है वहाँ साथ ही उपन्यास समाज की उस प्रतिदिन बढ़ने वाली पठितसंख्या के मनोरंजन का साधन भी है, जो प्रजातंत्रवाद के द्वारा उत्पन्न हो आधुनिक युग का सब से बड़ा संसूचक चिह्न बनी हुई है। वस्तुतः उपन्यास का जन्म ही प्रजातंत्रवाद से उत्पन्न हुई मध्य-श्रेणी की विपुल जनसंख्या के चित्तरंजन को उद्देश्य बना कर

हुआ है। प्रजातंत्रवाद के आविर्भाव से पहले राजा और प्रजा के मनोरंजन का मुख्य साधन नाटक था; जो अपनी अभिनयात्मकता के कारण पठित तथा अपठित दोनों ही प्रकार के प्रेक्षकों को समान-रूप से अपनी ओर खींचता था। किंतु शनैः शनैः अपनी इस अभिनयात्मकता के कारण ही यह समाज की निम्नश्रेणियों का दाय बन गया और सत्रहवीं सदी की पहली पचीसी के बाद शिक्षित जनता में इसका आदर घट गया। एक बात और; नाटक को सर्वात्मना सफल बनाने के लिए अनेक मूल्यवान् उपकरणों की आवश्यकता होती थी। यह उपकरण नगरों में सुविधा से प्राप्त हो सकते थे; इस लिए नाटक एक प्रकार से नगरों में परिसीमित हो गया था। ज्यों ज्यों जनता में शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया और साथ ही नगरों से बाहर भी साहित्य के अध्येताओं की संख्या में वृद्धि होती गई, त्यों त्यों इनके मनोरंजनार्थ किस्से-कहानियों को प्रेस के द्वारा इन तक पहुँचाने की आवश्यकता भी बढ़ती गई; क्योंकि उपन्यास तथा आख्यायिकाएँ नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक सरल हैं, और इन में साहित्य के घनतर रूप के नियमों को पालने या न पालने की स्वतंत्रता है। उपन्यास के लेखक पर नाटककार के समान संस्थान अथवा सरणिविशेष का प्रतिबंध नहीं है। वह अपनी कथा को तीन जिल्दों वाले उपन्यास में कह सकता है और चाहे तो तीन पृष्ठों की एक छोटी सी कहानी में समाप्त कर सकता है। उसे तो, जैसे भी हो सके, मनोरंजक रूप में अपनी कहानी सुनानी है और अपनी इस कहानी के लिए

उसके पास विषयों की भी कमी नहीं है। इस काम के लिए वह सकल जीवन से लेकर विकल जीवन, अर्थात् जीवन के किसी एक पटल तक को अपनी रचना का विषय बना सकता है। मनुष्य की अत्यंत ही संकुल समग्र प्रकृति, अथवा उसकी इस प्रकृति का कोई पक्षविशेष, दोनों ही समानरूप से उसकी रचना के विषय बन सकते हैं। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की दृष्टि से जितनी स्वतंत्रता एक उपन्यासकार अथवा कथालेखक को प्राप्त है उतनी साहित्य की और किसी भी विधा को अपनाने वाले कलाकार को नहीं है।

कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में रागात्मकता कम होती है

जिस प्रकार उपन्यासलेखक को अपनी रचना के संघटन में स्वतंत्रता है उसी प्रकार उसके पाठकों को भी उपन्यास के पढ़ने में आसानी है। कविता और नाटक की अपेक्षा कहीं कम रागात्मक होने के कारण उपन्यास और आख्यायिका पाठक की कल्पना और उसकी सहृदयता पर उन दोनों की अपेक्षा कहीं कम भार डालते हैं और पाठक अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार बिना किसी प्रयास के इन्हें पढ़ता चला जाता है। कालिदास की शकुंतला और शेक्सपीअर के ओथेलो अथवा हैमलेट को पढ़ते हुए कोई भी पाठक कल्पना के उत्तुंग शिखर पर खड़े हो, उन्हीं के समान, अपनी सत्ता के मूल स्रोत के विषय में प्रश्न किए बिना न रहेगा। वह जब तक उन्हें पढ़ेगा तब तक बराबर उनके लेखकों के समान स्वयं

भी उत्कट भावों से आविष्ट हो अपने व्यक्तित्व को भुलाए रखेगा, अपने मन और इंद्रियों को उन नायक और नायिकाओं की सेवा में अर्पित किए रहेगा। किंतु उपन्यास में, चाहे वह उपन्यास कितनी भी उच्च कोटि का क्यों न हो, यह बात उस सीमा पर नहीं पहुँचती। यदि कविता और नाटक के समान उपन्यास भी पाठक की कल्पनाशक्ति पर उतना ही भार डाले तो उसके पाठकों की बहुसंख्या, संभव है, उसे एक ओर रख अपने दैनिक कामकाज में लग जाय। सामान्य कोटि के पाठक उपन्यास को बहुधा मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं, और उसमें वे केवल मनोरंजन ही की सामग्री देखना चाहते हैं। उनके लिए उपन्यास एक ऐसी ही चित्तरंजक वस्तु है जैसे चाय का एक प्याला। इस पेय के समान उसे भी उनकी बुद्धि में अनायास उतर जाना चाहिए, और उसी के समान उसे उनका क्रमविनोदन करना चाहिए। उपन्यास को पौष्टिक खाद्य के समान श्रमपाच्य नहीं होना चाहिए। क्योंकि उपन्यास पेय के समान सहजगामी वस्तु है इसीलिए वह, उसी के समान, मंतव्यों को लोकप्रिय बनाने का भी एक रम्य साधन है। उपन्यास को पढ़ते समय पाठक बहुधा विचारशक्ति से काम नहीं लेते। उनका मन उस समय अनुरंजन में मग्न होता है। उस विचारविहीन अनुरंजन के समय आप पाठकों को जो चाहे सुना सकते हैं, और वे आपसे अपने को अनुरक्त करने वाली सभी बातें सुन सकते हैं। इस प्रेममुद्रा में मग्न हुए पाठक को उपन्यासरमणी के

द्वारा सुनाए गए सिद्धांत बहुधा उस के मन में घर कर जाते हैं।

उपन्यास की अस्थायिता का कारण

इसमें संशय नहीं कि उपन्यास की इस सहज लोकप्रियता में ही उसकी क्षणभंगुरता का रहस्य भी छिपा हुआ है। जिस पुस्तक को हम केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं, उसे बहुधा दूसरी बार नहीं पढ़ते। उपन्यास हमारी दृष्टि में साहित्य का लघुतम रूप है, और लघुतम साहित्य में बृहत् साहित्य की गरिमा ढूँढना अनुचित है। उपन्यासों की उस बहुसंख्या में से—जो आजकल प्रेस के द्वारा प्रतिदिन जनता पर फेंकी जा रही हैं—संभवतः कतिपय उपन्यास ही कुछ सदियों को पार कर सकें। इनमें से बहुत से उपन्यास तो कतिपय वर्षों में ही बस हो जाएँगे। किंतु कुछ उपन्यासों में उनके लेखक अपनी उत्कट आत्मिकता को संपुटित कर गए हैं, जिस कारण इनमें एक प्रकार की चिरस्थायिता आ गई है। संस्कृत में कादंबरी, हिंदी में प्रेमचंद के उपन्यास और अंग्रेजी में स्काट, थैकरे, जार्ज इलियट, हाउथोर्न तथा हार्डी की रचनाएँ इस बात का निदर्शन हैं।

उपन्यास का महत्त्व उसके कथावस्तु के महत्त्व पर निर्भर है

उपन्यास को चिरस्थायिता को परखने के लिए हमें उसके **प्रतिपाद्य विषय** और उसकी **प्रतिपादनशैली** पर विचार करना होगा। प्रतिपाद्य वस्तु से हमारा आशय केवल कथा और कथा के विकास से नहीं, अपितु उस कथा को वहन करने वाले

पात्रों से भी है। प्रतिपाद्य विषय को छाँटते समय उपन्यासकार के संमुख यद्यपि मानवजीवन के अशेष पटल प्रस्तुत रहते हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन के सभी पटल समान रूप से समान मूल्य वाले हैं। प्रतिपाद्य विषय के महत्त्व को परखने के लिए हमें उससे उद्भूत होने वाले रागात्मक तत्त्व की श्रेणी और उसकी शक्तिमत्ता पर ध्यान देना होगा। उदाहरण के लिए, मानव हृदय को सदा से, अत्यधिक आकृष्ट करने वाला तत्त्व उसका अद्भुत और अप्रत्याशित वस्तुओं के साथ प्रेम करना रहा है। निश्चय ही साधारण श्रेणी के पुरुष जिस चाव के साथ दैनिक पत्रों को पढ़ते हैं उस चाव के साथ वे साहित्य की अन्य किसी भी रचना को नहीं पढ़ते और दैनिक पत्र में संकलित हुए अद्भुत तत्त्व के समाचारों को पढ़ने की जो उत्सुकता एक पाठक को उस पत्र को पढ़ने के लिए लालायित करती है वही उत्सुकता अद्भुत साहसकृत्य, तथा तिलस्मी कारनामों का रागात्मक व्याख्यान करने वाले उपन्यास को पढ़ने के लिए भी उसे लालायित कर सकती है। किंतु कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कोटि के पाठकों में पात्रों का विवेचन करने की क्षमता नहीं होती। वे अपने से भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों के विवेचन में अशक्त होते हैं। किंतु वे, जीवन की चिरपरिचित घटनाओं के अद्भुत रस में रँगी जाने पर, उन्हें खूबी के साथ पढ़ अवश्य सकते हैं। अद्भुत रस के प्रति होने वाले इस विश्वजनीन प्रेम के कारण ही सब उपन्यासकार उसे अपनी

रचना का विषय बनाने में प्रवृत्त हो जाते हैं। और यही कारण है कि हमें विविध रूपों में अद्भुत रस का व्याख्यान करने वाले उपन्यासों की बाढ़ आती दीख पड़ती है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के प्रतिपाद्य विषय पर खड़ी होने वाली रचनाएँ चिरस्थायी नहीं रहा करतीं।

उपन्यास में कथा का स्थान

किंतु उक्त विवेचन से यह परिणाम निकालना कि उपन्यास में घटनावर्णन के लिए, अथवा कथानिरूपण के लिए अवकाश ही नहीं है, अदूरदर्शिता होगी। कुछ समालोचकों का कहना है कि कथा केवल बालकों और उन्हीं के समान अविकसित बुद्धि वाले पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि कहानियाँ तो सब की सब कही जा चुकी हैं; और वह व्यक्ति, जिसने कतिपय उपन्यास ध्यानपूर्वक पढ़े हैं, सहज ही, कथा के आरंभ को पढ़ कर उसके अंत को पहचान सकता है। उनका यह भी कथन है कि यदि एक उपन्यासकार यथार्थ जीवन की यथार्थ कहानी कहना चाहता है तो उसे कहानी की परिपाटी से दूर रहना होगा; क्योंकि बहुधा कहानी झूठी होती है, और जीवन पर वह कदाचित् ही घटा करती है। मानवजीवन कल्पित कथासंभार के पीछे नहीं चलता; यह तो परिमित काल तक उखड़ा-पुखड़ा, ऊँची-नीची सड़क पर डोलता फिरता है, अनुकूल परिस्थितियों में यह कुछ आगे बढ़ जाता है; प्रतिकूल परिस्थितियों में यह रुक जाता है

और कुछ काल पश्चात् सदा के लिए कहीं ठहर जाता है। इन सब आक्षेपों के उत्तर में हम यही कहेंगे कि **जीवन के इसी अव्यवस्थित डोलने में, उसके इसी आगे बढ़ने और पीछे हटने में कलाकार का सर्वोत्तम कथावस्तु संनिहित है।** एक कलाकार अपनी रचना में जीवन के इसी उत्थान और पतन का संनिदर्शन कराता है। सभी जानते हैं कि जीवन एक घोर संग्राम है। किसी लक्षित अथवा अलक्षित तत्त्व को ध्यान में रख कर ही मनुष्य जीवन के इस तुमुल संग्राम में जूझा करता है। उसका, दीखने में अव्यवस्थित प्रतीत होने वाला डोलना ही उसकी आत्मकथा है। **इस ऊपर से अव्यवस्थित दीखने वाले डोलने में, हाथ-पैर मारने में, व्यवस्था उत्पन्न करके उसे एक ध्येय की ओर प्रवृत्त हुआ दिखाने में ही कलाकार की इतिकर्तव्यता है। मनुष्य के इस संग्राम का अंत सुख में भी हो सकता है और दुःख में भी; इसका अंत कैसा भी हो, इसके विकास में क्रम की उद्भावना करना ही कथावस्तु कहाता है और इस तत्त्व के समीचीन विकास में ही उपन्यास की सार्थकता है।** यदि किसी उपन्यास में कथावस्तु का यह संस्थान न हुआ तो समझो उसके पात्र निर्बल हैं, ध्येयविहीन हैं, और उनकी प्रगति उनकी अपनी आत्मशक्ति को ही नष्ट करने के लिए है।

किंतु जहाँ प्रत्येक उपन्यास के कथावस्तु में संस्थान-विशेष का होना आवश्यक है वहाँ साथ ही यह भी

कथावस्तु की दृष्टि से रोमांस तथा उपन्यास की समानता

अपेक्षित है कि यह संस्थान पात्रों की चरित्रप्रगति पर बाहर से न थोपा जाकर स्वयं उनके अंतस् से प्रस्फुटित हुआ हो; उनके श्वास और उनकी अन्य स्वाभाविक क्रियाओं के समान उन्हीं में से अखंडरूपेण प्रवाहित हुआ हो। और सच समझो, घटनाओं के उस संस्थान को हम महत्त्वशाली नहीं कहेंगे, जिसमें केवल कलाकार की चातुरी का प्रकाश हो अथवा जिसमें अद्भुत घटनाओं द्वारा पाठक की उत्सुकता को गुदगुदाया गया हो। महत्त्वशाली संस्थान हम उस को समझेंगे जिसमें परिस्थितियों को व्यक्तित्व का विकासक अथवा उसका परिपोषक दिखाया गया हो; जिसमें परिस्थितियों के भीतर से एक पके-पकाए व्यक्ति को जन्म दिया गया हो। और जब हम पात्रों तथा कथावस्तु के संस्थान पर ध्यान देते हुए रोमांस तथा उपन्यास पर विचार करते हैं तब हमें इस दृष्टि से उन दोनों में कोई मौलिक अथवा महत्त्वशाली भेद नहीं प्रतीत होता।

कथावस्तु का आधार प्रेम सर्वसामान्य होने पर भी महत्त्वशाली भाव है

जीवन के चित्रण के रूप में एक उपन्यास का महत्त्व उसमें प्रदर्शित किए गए जीवन की श्रेणी तथा उसके परिमाण पर निर्भर है। किंतु यह आवश्यक नहीं कि जीवन के सभी गरिमान्वित पटल समान रूप से सब के लिए रुचिकारी हों, **और रुचिकारिता ही उपन्यास का सर्वप्रथम उपकरण है**। इसलिए उपन्यासकार का प्रमुख

कर्तव्य यह है कि वह अपनी रचना का आधार मनुष्य की उन प्रवृत्तियों को बनावे जो उसके जीवन में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न किया करती हैं और साथ ही सब के लिए समान रूप से रुचिकर भी हुआ करती हैं। ऐसी एक न एक प्रवृत्ति रचनाकार को सहज ही मिल सकती है। उदाहरण के लिए, वह प्रेम को अपनी रचना का आधार बना सकता है। संभवतः संसार की रचनाओं में से आधी से अधिक रचनाओं का आधार पुरुष और स्त्री का पारस्परिक प्रेम हो और यह बात स्पष्ट है कि प्रेम मनुष्य की अन्य सभी प्रवृत्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वजनीन है। यह सुतरां निगूढ तथा निभृत होने के कारण सभी मनुष्यों को समानरूप से आंदोलित करता आया है; और साथ ही अपनी उत्कट मार्मिकता के कारण सभी प्रवृत्तियों का अग्रणी रहता आया है। जीवन की नौका का कर्णधार यही है; हमारे सकल क्रियाकलाप का यही आदि स्रोत है। जीवन में मौलिक परिवर्तन इसी के द्वारा होते हैं; जीवन का बनना और बिगड़ना बहुधा इसी पर निर्भर रहता है। जब प्रेम मंगलमय तथा विशुद्ध होता है, तब वह मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाता है, किंतु जब वह अपने शारीरिक रूप में विकसित हो उद्दामता प्राप्त करता है तब वह मनुष्य को बहुधा धूलिसात् कर देता है। जहाँ इसमें उत्कटता सब से अधिक है वहाँ साथ ही यह और सब भावों की अपेक्षा रुचिकर भी कहीं अधिक है। जीवन में जो कुछ भी सौंदर्य तथा रुचिकरता उपलब्ध होती है उसका बहुतम

भाग प्रेम से उपजता है। संक्षेप में, प्रेम सौंदर्य तथा भव्यता का सर्वोत्कृष्ट आगार है। परमात्मा और प्रकृति के प्रेमरूप बीज ही से यह संसार अंकुरित हुआ है और प्रेम ही के कारण मनुष्य अपने जीवनतंतु को सतत बनाए रखता है। प्रेम का पुजारी कल्पनामय जगत् का स्रष्टा होने के कारण साथ ही कवि भी होता है। फलतः प्रेमान्वित जीवन का वर्णन करने में कवि की निभृत आत्मा बोलती है; उसके चित्रण में वह स्वयं अपना चित्रण करता है, जो हर प्रकार से अपना होने के कारण अत्यंत ही विशद, स्फीत तथा व्यंजक हुआ करता है। इसमें संदेह नहीं कि विश्व के उपन्यासकारों में से कतिपय ही अपनी नायिकाओं को बाणभट्ट की महाश्वेता के समान सुंदर तथा मंगलमय बना पाए हैं; और सौंदर्य के बिना प्रेम की उत्पत्ति नहीं होती और प्रेम के बिना जीवन के तंतु परस्पर नहीं जुड़ पाते। फलतः प्रेम के प्रजागरण के लिए नायक और नायिकाओं में सौंदर्य की उद्भावना करना परमावश्यक है। प्रेम यौवन का सार है; शरीर की नाड़ियों में जीवन का संचार इसी से होता है। इसके लिए जरा बनी ही नहीं। यह आबालवृद्ध सब में एकरस विराजमान रहता है। प्रत्येक पुरुष के जीवन में यौवन का प्रभात बीत कर जरा की संध्या आया करती है। सभी की धमनियों में प्रेम का संचार होने के उपरांत ही जडता आया करती है। किंतु कैसा भी बुढ़ापा क्यों न आवे, कितनी भी निर्बलता क्यों न आ जाय प्रेम की सरसता सभी के लिए, सभी अवस्थाओं में एक सी

बनी रहती है। इसी लिए प्रेम की आधारशिला पर खड़े होने वाले उपन्यासभवन सदा आकर्षक बने रहते हैं और मानव-समाज सदा ही उनमें पहुँच कर अपने भौतिक जीवन के रवजन्य श्रम को मिटाता रहा है। प्रेम का परिपाक पाणिग्रहण में होना स्वाभाविक है और प्रेम की व्याख्या करने वाले उपन्यासों में यौवन में प्रणयी अथवा प्रणयिनी के प्रति उत्पन्न हुए प्रेम के इस चरम परिपाक के मार्ग में आने वाली अनुकूल तथा प्रतिकूल घटनावलि का वर्णन होता है।

उपन्यास के आधारभूत प्रेम में शुचिता का होना वांछनीय है

कहना न होगा कि प्रेम के इस संप्रदर्शन में प्रेमरस की शुचिता तथा आचारानुकूलता पर ध्यान देना आवश्यक है। जीवन में प्रेम का कितना भी उच्च स्थान क्यों न हो, है तो वह, हर अवस्था में, जीवन के लिए ही। फलतः किसी भी प्रेमाश्रित कथा के आधार पर खड़े होने वाले उपन्यास में हमें यह देखना होगा कि इसमें वर्णन किए गए प्रेम में कितनी प्रौढता तथा उदारता है। कालिदास ने अपने कुमारसंभव तथा शकुंतला में प्रेम का वर्णन किया है। शेक्सपीअर के नाटकों में भी प्रेम का संप्रदर्शन होता है। दोनों के प्रेमादर्श में मौलिक भेद होने पर भी दोनों ही ने इसे जीवन की अत्यंत निभृत अनुभूति के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसे सामान्य मर्त्यधाम से कुछ ऊपर को उभार दिया है। शकुंतला का प्रेम शारीरिक नहीं है, उसका तो आत्मा ही दुष्यंत के साथ एक हो गया है। शेक्सपीअर का प्रेम

वचों का प्रेम नहीं, उसमें ओथेलो जैसे अतुल बली भस्म होते दृष्टिगत होते हैं। संदेह तथा ईर्ष्या आदि आंदोलक भावों के साथ मिल कर वह जीवन को दुःखांत नाटक के रूप में परिणत कर देता है। एक कलाकार को अपनी रचना का विषय प्रेम को बनाते हुए उसको ऐसे ही घन रूप में प्रदर्शित करना चाहिए।

उपन्यास की सामान्य परिधि का निरूपण ऊपर हो चुका; अब हमारे संमुख प्रश्न यह है कि उस परिधि के भीतर उपन्यास की कला किन किन प्रमुख दिशाओं में उन्मुख हुई है, अर्थात् उपन्यास के प्रधान विभाग कौन कौन हैं।

उपन्यासकार कथावस्तु पर कल्पना का मुलम्मा चढ़ाकर उसका वर्णन करता है

पहले कहा जा चुका है कि उपन्यास के अंतर्गत वह संपूर्ण कथासाहित्य आ जाता है जो गद्य की प्रणाली में व्यक्त किया गया हो। ऊपर हम यह भी कह चुके हैं कि उपन्यास का मानवजीवन के साथ घनिष्ठ संबंध है और वह प्रत्यक्ष या परोक्ष-रूप से उसी का चरित कहता है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की एक काल्पनिक कथा है और "काल्पनिक कथा का संकेत उस कथा पर है, जो कल्पना की सहायता से अधिक मार्मिक, सुचरित और ग्राह्य बना दी गई हो, जिस में सुंदर चयनशक्ति की सहायता से जीवन के किसी उद्दिष्ट अंश की रोचक रूपरेखा खींची गई हो, और जो पूर्णता की दृष्टि से

आकाश में चंद्रमा की भाँति चमक उठे। ऐसी काल्पनिक कथा में असत्य का अंश चंद्रमा की कालिमा की भाँति प्रकाश में लुप्त हो जाता है।" किसी व्यक्ति का जीवन यदि सत्य को ध्यान में रख कर लिखा जाय तो वह घटनाओं की एक सूचीमात्र बन जायगी और उसमें साहित्यिकता न आ सकेगी। इसके विपरीत जब एक कलाकार उसी व्यक्ति के जीवन को कल्पनाक्षेत्र में ले जाकर उसका वर्णन करता है तब वह जीवन रोचक बन जाता है और उस जीवन की नीरस घटनाएँ सरस बन कर पाठक के संमुख आती हैं।

घटनाप्रधान उपन्यास

उपन्यास की परिधि पर विचार करते हुए हम देख आए हैं कि उपन्यास में घटनाओं का वर्णन होना आवश्यक है, और ये घटनाएँ सदा किसी न किसी क्रम से घटित होती हैं। इन्हीं घटनाओं का नाम **कथावस्तु** है। अब हमें मनुष्य में एक ऐसी प्रवृत्ति भी दीखती है, जो किसी व्यक्तिविशेष के साथ संबद्ध न हो केवल घटनाओं में आनंद लिया करती है; जिसे सदा से आश्चर्यमय तत्त्व ही रुचिकर लगता आया है। बच्चों में और अविकसित बुद्धि वाले नर नारियों में हमें यही वृत्ति सचेष्ट रहती दीख पड़ती है। बच्चों की **उड़नखटोले** और **दो दानवों** आदि की कहानियों का आधार यही आश्चर्यमय तत्त्व है। और हर घर में भोजनोपरांत, रात के समय नियम से कही जाने वाली **नानी की कहानी** भी आश्चर्य के इसी विश्वजनीन भाव पर खड़ी

होती है । इन कहानियों में घटनाओं के स्रोतरूप व्यक्तियों के विषय में कोई जिज्ञासा नहीं होती; सच पूछो तो वे व्यक्ति श्रोता के संमुख साकार बन कर आते ही नहीं। यहाँ तो एकमात्र जिज्ञासा होती है "फिर क्या हुआ", "आगे क्या हुआ" और "अंत में क्या हुआ।" आश्चर्य के इस विश्वजनीन तत्त्व पर खड़े किए गए उपन्यासों को हम **घटनाप्रधान** उपन्यास कहते हैं। अंग्रेजी में गुलिवर्स ट्रैवेल्स और डॉन क्विक्झट आदि उपन्यास इस श्रेणी के हैं; और हिंदी के प्रख्यात चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति नामक उपन्यास भी इसी कोटि में आते हैं।

इस श्रेणी के उपन्यास, केवल आश्चर्यजनक घटनाओं को कौतूहलवर्धक रीति से सज्जित कर के लिखे जाते हैं और उनका मुख्य उद्देश्य पाठकों को मनुष्यजीवन की असाधारण तथा अनोखी दुनिया में ले जाकर उनका चित्तरंजन करना होता है। ऐसे उपन्यास बहुधा सुखांत होते हैं और घटनाचक्र के समाप्त होने पर नायक अथवा नायिका की विजय घोषित कर देते हैं। "इनकी कुंजी किसी तहखाने, किसी गुप्तपत्र, या ऐसे ही किसी स्थान में होती है जिसके मिलते ही उपन्यास का द्वार खुल जाता है और उसकी सुखांत इतिश्री हो जाती है।"

सामाजिक अथवा व्यवहार-संबंधी उपन्यास

जब कोई व्यक्ति बचपन को छोड़ यौवन में पग धरता है तब अनायास ही उससे बहुत सी बातें छूट जाती हैं, और उनके स्थान पर उसमें अन्य बहुत सी बातें

आ जाती हैं। वह व्यक्ति जब तक बालक था, उसे **उड़नखटोले** की कहानी रुचिकर लगती थी, वह "क्या हुआ", "फिर क्या हुआ" कहते हुए घंटों अपनी नानी के पास बिता देता था। किंतु यौवन आ जाने पर वह बहुधा उस चमकते घटनाजाल से पराङ्मुख हो जाता है और अब वह समाज का एक सदस्य बन जाने के कारण मुख्यतया उन्हीं घटनाओं में योग देता है, जिनका समाज के साथ संबंध हो और जो समाज के विशीर्ण हुए पटलों का परस्पर संमिश्रण करती हों। **समाज की इन्हीं परस्परान्वयिनी घटनाओं को लक्ष्य में रख कर लिखे गए उपन्यास सामाजिक, चरितसंबंधी अथवा व्यवहारविषयक उपन्यास** कहाते हैं। इस कोटि के उपन्यासों का आकर्षण कथानक से हट कर पात्रों, उनके पारस्परिक व्यवहारों तथा समाज की रीति नीति आदि में केंद्रित हो जाता है। इन उपन्यासों के पात्र भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़ कर, तथा बहुविध व्यक्तियों के साथ संसर्ग में आने पर, किस भाँति व्यवहार करते हैं यही पाठक के मनोरंजन का प्रमुख साधन बन जाता है। परिस्थितियों की ऐसी परस्परानुगामिनी योजना, जिस के द्वारा उपन्यास के पात्र समाज के अधिक से अधिक सदस्यों के साथ संपर्क में आ सकें, इसी बात में इस कोटि के उपन्यासों की कलावत्ता संनिहित है। संस्कृत का दशकुमारचरित इसी कोटि की रचना है और हिंदी में श्रीप्रेमचंद के उपन्यास इस श्रेणी में आते हैं।

सभी आख्यायिकाओं तथा उपन्यासों की घटनाओं के घटित होने का कोई समय और देशविशेष होता है।

अंतरंग जीवन के उपन्यास

सामाजिक उपन्यासों में तो उपन्यास का समाज-विशेष के साथ संबंध जुड़ जाने के कारण देश और काल का उपकरण और भी अधिक व्यक्त हो जाता है। सामाजिक उपन्यासों के पात्र किसी देशविशेष में, किसी समयविशेष पर अपना अपना काम करते हैं। इस स्टेज तक रचनाकार का ध्यान समाज, उसके व्यक्ति, उनका समय और देश, इन बातों पर अधिक रहता है और उसकी वृत्ति बहुमुखी सी रहती है। अब एक पग आगे बढ़िए और समाज को भुला व्यक्तियों को काल के हाथ में सौंप, उन्हें उसके वश में हो अपने अपने जीवन का उद्‌घाटन करने दीजिए। **जीवन के उस उद्‌घाटन में समाज आदि सब तत्त्व अप्रधान हो जाते हैं और एकमात्र जीवन और उसका अप्रतिरुद्ध प्रवाह रह जाता है। इस तत्त्व के आधार पर खड़े किए गए उपन्यासों को हम अंतरंग जीवन के उपन्यास कहते हैं।** इन उपन्यासों में व्यक्ति का जीवन सदातन मनुष्यजीवन का प्रतीक अथवा संकेतमात्र बन जाता है और कलाकार उस प्रतीक में उसके अशेष जीवन को केंद्रित कर देता है। बहुधा सामाजिक उपन्यासों के पात्र आदि से अंत तक एक-सा ही स्वभाव लिए रहते हैं और उस स्वभाव के अनेक रंग रूप, परिस्थितियों के विविध पटलों को विविध रूप से रंजित करते चले जाते हैं। परंतु **अंतरंगजीवनसंबंधी**

उपन्यासों में व्यक्ति का शरीर, उसका मन और आत्मा एक साथ झलक उठते हैं। इनमें, समय के अनिरुद्ध प्रवाह में पड़े हुए व्यक्तियों का सर्वस्व प्रत्यक्ष हो जाता है। और क्योंकि इस कोटि के उपन्यासों की भित्ति चिरंतन दार्शनिक तत्त्वों पर निहित होती है, इसलिए इनमें घटनाएँ और परिस्थितियाँ आप से आप, या विधिवशात्, पात्रों के जीवन में आ गई जान पड़ती हैं और पात्रों की जीवनकली के पटल उनका स्पर्श होते ही, आप से आप खुलते चले जाते हैं। कहना न होगा कि इस कोटि के उपन्यासों में रोचकता—जो कि उपन्यास का स्वभाव है—लाना कलाकार की सफलता का श्रेष्ठ निदर्शक है।

देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास

घटनाएँ किसी देश तथा कालविशेष में घटित होती हैं। सामाजिक उपन्यासों का चित्रपट भी देश और काल पर ही चित्रित होता है। अंतरंग जीवन को चित्रित करने वाले उपन्यासों में भी पात्र काल के प्रवाह में पड़ कर ही अपना विकास किया करते हैं। किंतु उपन्यासों की एक श्रेणी वह भी है, जिसमें देश और काल दोनों ही समानरूप से ध्यानस्थ रखे जाते अथवा दोनों ही समानरूप से विस्मृत कर दिए जाते हैं। **देशकाल-निरपेक्ष उपन्यासों** का निदर्शन संस्कृत में बाणभट्ट द्वारा रची कादंबरी है। कादंबरी की कथा में सारी घटनाएँ यद्यपि सरोवर, तट, राजगृह, राजसभा आदि स्थानों में और संध्या, चाँदनी रात, युवावस्था आदि समयविशेषों में घटित होती हैं, तथापि

कवि ने अपनी चमत्कारिणी शक्ति के द्वारा अपने पात्रों को इतना अधिक सबल तथा मनोरम बना दिया है कि वे देश और समयविशेष की अपेक्षा न रख अपने आपे में ही प्रदीप्त होते दीख पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषा में ऐसा स्वर-वैचित्र्य तथा ध्वनिगांभीर्य दीख पड़ता है कि यदि उसकी योजना सुचारु रूप से की जाय तो उससे नाना वाद्ययंत्रों की ऐसी संमिलित संगीतलहरी लहरा उठती है और उसकी अंतर्निहित रागिनी ऐसी अनिर्वचनीय संपन्न होती है कि कविपंडित अपनी वाङ्निपुणता से सहृदय श्रोताओं को सुना कर मुग्ध करने का प्रलोभन किसी प्रकार भी संवरण नहीं कर सकते। इसी से जहाँ वाक्यावलि को संक्षिप्त कर विषय को द्रुत वेग से बढ़ाना आवश्यक प्रतीत होता है, वहाँ भी भाषा का प्रलोभन संवरण करना उनके लिए कष्टसाध्य हो जाता है और विषय पद पद पर वाक्यावलि के भीतर प्रच्छन्न होकर अग्रसर होता है। विषय की अपेक्षा वाक्यविन्यास ही वाहवाह लेना चाहता है और इसमें वह बहुधा सफल भी हो जाता है। इसी लिए बाणभट्ट यद्यपि बैठे थे उपन्यास लिखने पर लग गए शब्दावलि की वीणा को झंकृत करने में। वे अपनी कथा को अग्रसर करने के लिए भी वाक्यावलि के विपुल सौंदर्यभार को न भुला सके। "उन्होंने संस्कृत भाषा को अनुचरों से घिरे सम्राट् की भाँति आगे बढ़ा दिया है और कथा को पीछे पीछे प्रच्छन्न भाव से छत्रधर की भाँति छोड़ दिया है। भाषा की राजमर्यादा बढ़ाने के लिए कथा

का भी कुछ प्रयोजन है, इसी से उसका आश्रय लिया गया है; नहीं तो उसकी ओर कवि की दृष्टि भी नहीं है।" ऐसी प्रच्छन्न कथा का देशकाल निरपेक्ष होना सुतरां स्वाभाविक ही है और सारी कादंबरी को पढ़ कर भी हमें शूद्रक के समय और उसके राजदरबार की याद नहीं आती। कादंबरी में घटनाएँ और उनको घटाने वाले पात्र नहीं दीखते; यहाँ तो हमें प्रकृति के अशेष रंग एक पिटारी में सजे हुए दृष्टिगत होते हैं। संपूर्ण उपन्यास अपनी कोटि का एक ही है और इसकी परंपरा अत्यंत विरल तथा वर्तमान काल में लुप्तप्राय हो चुकी है।

उपन्यासों को **घटनाप्रधान उपन्यास**, **सामाजिक उपन्यास**, **अंतरंगसंबंधी उपन्यास** तथा **देशकालनिरपेक्ष उपन्यास** इन चार विधाओं में विभक्त करके अब हमें उनके निर्मायक तत्त्वों का दिग्दर्शन कराना है। उपन्यास के निर्मायक तत्त्व छः हैं—यथा **वस्तु**, **पात्र**, **कथोपकथन**, **देशकाल**, **शैली** और **उद्देश्य**।

कथावस्तु

मनुष्य स्वभावतः क्रियाशील प्राणी है। संसार में अविरत रूप से होने वाले परिवर्तन में वह भी फँसा हुआ है। उसकी इस सचेष्टता और गतिशीलता में ही उसका जीवन है। उसकी इस गतिशीलता से ही उसके जीवन की घटनाओं का प्रादुर्भाव होता है। इन घटनावलियों के द्वारा ही उसका आत्मा अपने चरम सौंदर्य को फिर से प्राप्त करता है। जीवन की इन घटनावलियों को ही हम **कथावस्तु**

कहते हैं। इन घटनाओं का विधाता मानव ही उपन्यास में **पात्र** कहाता है। ये पात्र परस्पर वार्तालाप द्वारा कथावस्तु को आगे बढ़ाते; हैं इसी तत्त्व को हम **कथोपकथन** कहते हैं। ये घटनाएँ किसी समय तथा देशविशेष में होती हैं; इस समय और देशविशेष को ही हम **देशकाल**, **परिस्थिति** अथवा **वातावरण** कहते हैं। जीवन में विकसित होने वाली इन घटनाओं को उपन्यासकार एक ढंगविशेष से दर्शाता है; यह ढंग ही उपन्यास की **शैली** कहाता है। प्रत्येक उपन्यासकार जीवन में होने वाली घटनाओं को अपने एक विशेष ढंग से पढ़ता है। समान रूप से होने वाली घटना को देख दो कलाकार परस्परप्रतीपी दो परिणाम निकाल लेते हैं। साहित्य में कभी भी एक वस्तु दो कलाकारों को एक सी नहीं दीखती। फलतः प्रत्येक साहित्यिक रचना में उसके निर्माता का व्यक्तित्व प्रच्छन्नरूपेण विद्यमान रहता है। उपन्यास के ऊपर पड़ी हुई व्यक्तित्व की इस छाप को ही हम उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत की गई **जीवन की आलोचना**, **व्याख्या**, **जीवनदर्शन** अथवा **उद्देश्य** इन नामों से पुकारते हैं।

उपन्यास के कथनीय विषय को **वस्तु** कहते हैं; और क्योंकि यह एक कल्पित कथा के रूप में होता है, इस लिए इसका **नाम कथावस्तु** भी है। हम देखते हैं कि हमारा जीवन किसी अदृष्ट के अधीन हो बार बार परिवर्तन के चक्र में घूमा करता है। इस परिवर्तन में विन्यास का लेश नहीं। यह उथल-पुथल और भाँति भाँति की क्रांतियों से व्याकुल है। हम सोचते कुछ हैं और हो

जाता है कुछ और ही। घटनाएँ हम नहीं घटित करते, वे अनायास ही हमारे द्वारा घट जाती हैं। **परिवर्तन और क्रांतियों के इन अस्तव्यस्त पड़े मनकों को इनकी अंतस्तली में अनुस्यूत हुए ऐक्य सूत्र में पिरो देना ही कलाकार की सब से बड़ी कथावस्तु है।**

परिवर्तन के ये मनके अगणित हैं। इनकी संख्या के समान इनकी बहुविधता भी आश्चर्यकारी है। किंतु महत्त्व तथा पारमार्थिकता की दृष्टि से इन मनकों में भी तारतम्य है। इन में से बहुत से मनके तो जन्मते ही नष्ट हो जाते हैं; उनका जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे जीवन की विपुल माला में न होने के समान हैं। दूसरे मनके विशेष रूप से गतिमान् तथा शक्तिशाली होते हैं; उनका जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है; जीवन की माला में ये जाज्वल्यमान नगों की भाँति चमका करते हैं।

किस प्रकार के कथावस्तु पर खड़ा होने वाला उपन्यास चिरजीवी होता है

चतुर उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह अपनी **कथावस्तु** को जीवनमाला के इन जाज्वल्यमान नगों से घटित करे। वह अपनी रचना का विषय ऐसे तत्त्वों तथा घटनाओं को बनावे जो जीवनस्रोत के समीपी हैं; जो पात्रों के समान पाठकों के लिए भी मार्मिक होने के कारण उनके मनोवेगों को बल के साथ आंदोलित कर सकें। यदि उपन्यासकार चाहे तो अपनी **कथावस्तु** को भौतिक प्रेम की सामान्य

घटनाओं से गढ़ सकता है; वह चाहे तो अपना उपन्यास आश्चर्य के सामान्य तत्त्वों पर खड़ा कर सकता है। किंतु इन दोनों ही प्रकार के उपन्यासों में चिरस्थायिता न होगी। दूसरी ओर वह प्रेम को शारीरिक पारिधि से बाहर निकाल उसे आत्मिक बनाता हुआ अत्यंत ही मार्मिक तथा निगूढ़ अनुभूति के रूप में परिणत कर सकता है; ऐसी अनुभूति, जो हमारे जीवन की चिर-संगिनी होती है, जो हमारे आत्मा में "गाँस" की तरह घुसी होती है, जो जैसी हम में वैसी ही संसार के अन्य सभी प्राणियों में धँसी रहती है। प्रेम की इस करुण कथा में वह शेक्सपीअर की भाँति ईर्ष्या आदि के भावों को प्रविष्ट कर उसे और भी अधिक घन तथा सांद्र बना सकता है। उस प्रेम का परिपाक करने के लिए नायक-नायिकाओं के द्वारा किए गए लोकोत्तर कृत्यों का वर्णन कर वह उस में चार चांद लगा सकता है; अमूर्त प्रेम को गतिमत्ता प्रदान कर उसे मूर्त बना सकता है और विविध प्रकार से उसमें आंदोलनी शक्ति भर सकता है। कहना न होगा कि **प्रेम के इस विशुद्ध रूप पर खड़ा किया गया उपन्यास चिरजीवी होगा; दैविक प्रेम के रूप में वह भी सदा मनुष्यों के हृदयाकाश में चंद्रमा की भाँति चमकता रहेगा।** यह तो हुई केवल प्रेम और उसके आधार पर खड़े होने वाले उपन्यासों की बात। कलाकार चाहे तो इस प्रेम को समाजक्षेत्र में ला उसके रमणीय रूप में समाज की बहुरूपिता से उत्पन्न हुई बहुमुखता उत्पन्न कर उसे और भी अधिक व्यापक रूप दे सकता है। प्रेमचंद की भाँति

वह इस प्रकरण में समाज की सभी साधक तथा घातक प्रवृत्तियों को निदर्शित कर सकता है। इस काम को करता हुआ वह चाहे तो समाज के संमुख अप्रत्यक्ष रूप से अपने मंतव्य भी रख सकता है। **समाज की भाँति समाज के बहुविध प्रेम को वर्णन करने वाला यह उपन्यास भी चिरजीवी होगा।**

संसार की बहुमुखता से पराङ्मुख हो अपनी ओर लौटता हुआ कलाकार अपने अंतरंग को भी उपन्यास के रूप में जनता के संमुख रख सकता है। अब वह एक फव्वारे के समान सारे घटनाचक्र को अपने भीतर से ही निकाल उसका विश्लेषण कर सकता है। जिस प्रकार एक और्णवाभ विपुल ऊर्णातंतु को अपने भीतर से निकाल फिर उसे अपने भीतर ले लेता है, इसी प्रकार एक कलाकार भी आत्मघटित घटनाओं को फिर अपने ही भीतर आत्मसात् कर सकता है। इस प्रकार इस कोटि के उपन्यास में वह अपने अशेष व्यक्तित्व को मुखरित करता हुआ उसके द्वारा संसार भर के व्यक्तित्व को प्रस्फुटित कर सकता है। कहना न होगा कि **आत्मा के समान, उसकी घटनावलियों का वर्णन करने वाला यह उपन्यास भी चिरस्थायी होगा।**

कथावस्तु के लिए रोचक होना आवश्यक है

उपन्यास के विषय को केवल **वस्तु** न कहकर हमने उसे **कथावस्तु** कहा है; इसका आशय यह है कि जिस प्रकार कथा रोचक होती है, उसी प्रकार उपन्यास के विषय में रोचकता का होना अत्यंत

आवश्यक है । आज हम उपन्यास को उपदेशामृत पान के लिए नहीं पढ़ते; जीवन के तुमुल संघर्ष का चित्र भी उसको पढ़ते समय हमारे मन में नहीं उद्‌बुद्ध होता। इस उद्देश्य के लिए हम बहुधा कविता अथवा नाटक पढ़ा करते हैं । दैनिक जीवन की संकुलता से थककर जब हम चूर चूर हो जाते हैं, तब आत्मप्रवण उपन्यासों को पढ़ हम अपना मन बहलाते हैं; तब दैनिक जीवनचक्र के वेग द्वारा रबर की भाँति फैला हुआ हमारा अंतःकरण, उन वेगों से छुट्टी पा फिर अपने मौलिक घन रूप में आ जाता है। फलतः उपन्यास की कथावस्तु में प्ररोचकता का होना नितांत आवश्यक है। इस तत्त्व के न होने पर अच्छे से अच्छा उपन्यास भी अनुपादेय हो जाता है।

जीवन के चित्रण को हमने उपन्यास बताया था; और जीवन विलवरूप होने पर भी एक सच्ची घटना है।

कथावस्तु में सत्यता का होना आवश्यक है

इस यथार्थ घटना को यथार्थ बनाकर ही प्रस्तुत करना कलाकार का प्रमुख कर्तव्य है। उपन्यासकार जीवन की, चाहे जिस किसी भी घटना या स्थिति को लेकर अपना काल्पनिक चित्रपट प्रस्तुत करे, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उस घटना या स्थिति के रहस्यों और विशेषताओं से पूर्णतया परिचित हो । उदाहरण के लिए, यदि एक उपन्यासकार किसी काल की ऐतिहासिक स्थिति को अपने उपन्यास द्वारा उपस्थित करना चाहता है तो उसके लिए

आवश्यक है कि वह उस काल की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आदि परिस्थितियों का पूरा पूरा अनुशीलन करे। उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि उस काल में राजाओं, रानियों, राजकुमारों, राजकुमारियों, राज्य के बड़े बड़े अधिकारियों, सेनाओं तथा प्रजागण के रहनसहन का क्या ढंग था, शासन-व्यवस्था कैसी थी, धार्मिक परिस्थिति कैसी थी। इन बातों को हृदयंगम किए बिना ही वैदिलकाल, मौर्यकाल, गुप्तकाल, मुगल-काल आदि की घटनाओं को उपन्यासबद्ध करना अनुचित होगा।

कथावस्तु के अनिवार्य उपकरण

उपन्यासवस्तु के विषय में सर्वप्रथम विचारणीय बात यह है कि क्या उसकी कथा चित्ताकर्षक अथवा वर्णन करने योग्य है, और क्या वह उचित रूप से कही गई है। इसका आशय यह हुआ कि यदि हम उसकी सूक्ष्म आलोचना करें तो हमें उसमें निम्नलिखित प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मिलना चाहिए:—

१. "उसमें कहीं कोई बात छूटी हुई तो नहीं जान पड़ती; अथवा उसमें परस्परविरोधी बातें तो नहीं कही गई हैं ?

२. क्या उसके सब अंगों में परस्पर साम्य और समीचीनता है ? ऐसा तो नहीं है कि किसी ऐसी घटना के वर्णन में कई पृष्ठ रंग डाले गए हों, जिसका कथावस्तु से कोई प्रत्यक्ष संबंध न दीख पड़ता हो, अथवा किसी पात्र का कथन या भूमिका बहुत लंबी चौड़ी कर दी गई हो; किंतु

कुछ आगे बढ़ते ही वह भूमिका तुच्छ या सामान्य बन जाती हो ?

३. क्या उसमें वर्णित घटनाएँ आप से आप अपने मूल आधार से, या एक दूसरी से प्रसूत होती चली जाती हैं ?

४. क्या साधारण से साधारण बातों पर लेखक की लेखनी चलकर उन्हें लोकोत्तर बनाने में समर्थ हुई है ?

५. क्या घटनाओं का क्रम ऐसा रखा गया है, जिस में वे हमको असंगत अथवा अस्वाभाविक न जान पड़ती हों ?

६. क्या उसका अंत या परिणाम वर्णित घटनाओं के अनुकूल है और क्या कथा या वस्तु का समाहार पूर्वापर विचार से ठीक ठीक हुआ है ?"

यदि उक्त प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मिल जाय तो समझो कलाकार उपन्यास लिखने में सफल हुआ है, अन्यथा नहीं।

कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यासों के दो भेद

हडसन ने कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यासों के दो भेद किए हैं, एक वे जिनकी कथावस्तु असंबद्ध अथवा शिथिल होती है, दूसरे वे, जिनकी कथावस्तु संबद्ध तथा सुघटित होती है। प्रथम कोटि के उपन्यासों में घटनाएँ एक दूसरी पर आश्रित नहीं रहतीं और न उत्तर घटना अतीत घटना का आवश्यक या अनिवार्य परिणाम ही होती है। इन परस्परासंबद्ध घटनाओं को एकता के सूत्र में पिरोने वाला व्यक्ति उपन्यास का नायक होता है। उसी के विशिष्ट चरित्रों को लेकर

उपन्यास के भिन्न भिन्न अवयवों का ढाँचा खड़ा किया जाता है। दूसरी कोटि के उपन्यासों में घटनाएँ एक दूसरी से संबद्ध रहती हैं, और धारावाहिकरूपेण एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी इस प्रकार प्रसूत होती चली जाती हैं। ऐसे उपन्यास एक व्यापक विधान के अनुरूप बनाए जाते हैं और उनकी सार्थकता घटना-प्रसूति पर निर्भर रहती है। कहना न होगा कि संबद्ध तथा असंबद्ध दोनों प्रकारों के समुचित सामंजस्य में ही उपन्यासकार की इतिकर्तव्यता है।

एकता की दृष्टि से कथावस्तु के दो भेद

एकता की दृष्टि से हम कथावस्तु को **सामान्य** तथा **समस्त** इन दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। **सामान्य कथावस्तु** वह है, जिसमें उपन्यास को एक ही कथा के आधार पर खड़ा किया गया हो; और **समस्त कथावस्तु** वह है, जिसमें एक से अधिक कथाओं का समावेश हो। **समस्त कथावस्तु** के विषय में यह बात याद रखनी चाहिए कि उसमें संकलित की गई कथाओं का विकास इस विधि और क्रम से किया जाना चाहिए कि वे सब मिल कर एक बन जाँय और उपन्यास में एकता की निष्पत्ति हो जाय।

कथावस्तु के कहने के तीन ढंग

कथावस्तु की विधाओं के साथ साथ **उसके कहने के ढंग भी तीन हैं**। पहले में उपन्यासकार इतिहास-लेखक का स्थान ग्रहण करके, वर्णनीय वस्तु से अपने को पृथक् रख कर, अपने वस्तुविन्यास

का सहज विकास करता हुआ, पाठकों को अपने साथ लिए हुए, उपन्यास के परिणाम पर पहुँचता है। दूसरे ढंग में कलाकार नायक का आत्मचरित उसके मुँह से अथवा किसी उपपात्र के मुँह से कहलाता है और तीसरा प्रकार वह है, जिसमें प्रायः पत्रों आदि के द्वारा कथा का उद्‌घाटन कराया जाता है। तीसरा ढंग बहुत कम और पहला बहुत अधिक उपयोग में आता है; किंतु उपन्यासकार को अपनी कलाकारिता दिखाने का यथेष्ट अवसर तीसरे ही ढंग में मिलता है।

पात्र तथा चरित्रचित्रण

कथावस्तु के अनंतर उपन्यास में ध्यान देने योग्य वस्तु **पात्र** तथा उनका **चरित्रचित्रण** है। हमने कहा था कि एक उपन्यासकार अपने पाठकों के संमुख जीवन को मायाजाल बना कर प्रस्तुत किया करता है और चाहता है कि हम भी उसके मायाजाल को मानें, उसमें लीन हो जाँय, उसको इसी प्रकार देखें, सुनें और छुएँ जैसे उसने इसे देखा, सुना और छुआ है; संक्षेप में हम उसके साथ मिल कर एक बन जाँय। अब यदि किसी उपन्यास को पढ़ कर आपके मन में यह बात उत्पन्न हो जाती है, यदि उसे पढ़ते समय उसके पात्र आपके संमुख पंक्तिबद्ध हो खड़े हो जाते हैं, तो समझिए वह उपन्यास चरित्रचित्रण की दृष्टि से उत्तम संपन्न हुआ है; और यदि उसे पढ़ते समय उसके पात्र आपको छाया की भाँति कहीं दूर दूर, झुटपुटे में, उखड़े-पुखड़े दीख पड़ते हैं, तो समझिए वह उपन्यास अपने ध्येयसंपादन में असफल रहा है।

यहाँ प्रोफेसर हडसन ने यह प्रश्न उठाया है—और हिंदी के आलोचकों ने उसकी आवृत्ति भी की है—कि **एक उपन्यासकार के पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य कैसे बन जाता है, और क्यों हम उन्हें अपने जैसा शरीर, चलता-फिरता देखने लगते हैं।** इस समस्या का विवेचन उपन्यास के प्रकरण में करना अनुचित है; क्योंकि यह बात तो साहित्यमात्र का समान काम है और कविता तथा नाटक में इस तादात्म्य की निष्पत्ति उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। हमने साहित्य तथा कविता आदि पर विचार करते समय इसका रहस्य **कवि की कल्पनाशक्ति और अपने तथा अपने पात्रवर्ग के भीतर प्रवाहित होने वाले ऐक्यसूत्र में निर्धारित किया है।** जब हम वस्तुस्थिति पर मार्मिकदृष्ट्या विचार करते हैं तब हमें भिन्न भिन्न मनुष्य एक एक विछिन्न द्वीप के समान दीख पड़ते हैं। उनके बीच में अपरिमेय अश्रुलवणाक्त समुद्र मँडरा रहा है। दूर से जब एक दूसरे को देखता है, तब मन में यह भासता है कि हम लोग एक ही महादेश के रहने वाले थे, अब किसी के शाप से बीच में विछेद का विलापसमूह फेनिल होकर उमड़ पड़ा है। दूर से भासमान होने वाला यह ऐक्य कलाकार की कल्पनामयी रचना में और भी अधिक रमणीय बन कर हमारे संमुख आता है। रचनाकार की कल्पना के नीहार में भीगे हुए उसके पात्र हमें दीखते भी हैं और नहीं भी दीखते, सुनाई भी पड़ते हैं

कविकल्पना द्वारा पाठक पात्रों के साथ ऐक्य अनुभव करते हैं

और नहीं भी सुनाई पड़ते, हमारे द्वारा छुए भी जाते हैं और नहीं भी छुए जाते। इस है और नहीं के संमिश्रण में ही कलाकार की सर्वश्रेष्ठ दक्षता का प्रादुर्भाव होता है। और जहाँ कविता के क्षेत्र में यह संमिश्रण अत्यंत ही घन तथा सांद्र बन कर हमारे संमुख आता है, वहाँ उपन्यास की परिधि में यह तरल तथा विस्तीर्ण होकर प्रकट होता है; क्योंकि जहाँ कविता जीवन की समष्टि को उसकी व्यष्टि के रूप किसी एक तत्त्व में केंद्रित करके हमारा उसके साथ तादात्म्य स्थापित कराती है, वहाँ उपन्यास जीवन के विस्तार में घूमता हुआ हमें वहां के वन-आरामों का दर्शन कराता है।

कथा का कथन प्रकार

उपन्यास की परिधि को देखते समय हमने कहा था कि उपन्यासकार की इतिकर्तव्यता उस कला में है, जिसके द्वारा वह अपने जीवन-संबंधी दर्शन को पाठकों तक पहुँचाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उसकी सफलता उसके द्वारा कल्पित की गई कथा को कहने के प्रकार में है। निश्चय ही एक निबंधकार की भाँति वह जीवन के विषय में बातें नहीं करता; और नहीं वह एक चरित्र लेखक की भाँति किसी जीवनविशेष को ही जनता के संमुख रखता है। वह तो जीवन को आविर्भूत करता है, जीवन की कली को खिला कर हमारे समक्ष रखता है; और इसके लिए उसकी सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह किस

प्रकार अपने पाठकों को अपने ही समान अपने पात्र दिखावे, सुनावे और छुवावे।

प्रतिभाशाली कलाकारों के लिए यह समस्या सदा से सामान्य रहती आई है। उनकी सर्वव्यापिनी दृष्टि समस्त कथा को एक साथ आद्योपांत देखकर उसका ऐसा विन्यास करती है कि पाठक तन्मय होजाते हैं और वे अपनी कथा को, चाहे जिस प्रकार कहें, पाठकों का मन उससे नहीं ऊबता। टॉल्स्टाय, बाल्झाक तथा प्राउस्ट की रचनाएँ इस बात का निदर्शन हैं।

उपन्यासकार की व्यापिनी अंतर्दृष्टि

किंतु सभी उपन्यासकार टॉल्स्टाय के समान विश्वव्यापिनी दृष्टि वाले नहीं होते। इनके मन में इस प्रकार के प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है कि कथा कहते समय उसका कहने वाला किस बिंदु पर ठहरे? क्या उसे भी उपन्यास में घुसकर उसकी कथा के किसी पात्र के साथ एक बन जाना चाहिए; या उसे अपने व्यक्तित्व को नितरां प्रछन्न रखते हुए कथा और उसके पात्रों से छिपा रहना चाहिए; अथवा उसे एक व्यापक बन कर घटनाओं के क्रम पर टीकाटिप्पणी करते हुए उन्हें अग्रसर करने वाला बनना चाहिए। इसी प्रकार, लेखक की भाँति पाठक के विषय में भी यह प्रश्न हो सकता है कि उपन्यास पढ़ते समय पाठक की कौन सी वृत्ति हो? क्या उसे उपन्यासकार के संमुख खड़ा होकर उसके मुँह उसकी कहानी सुननी है,

कथा के कथन प्रकार के विषय में अनेक समस्याएँ

अथवा उसे वहाँ खड़ा होकर अपने सामने घटित होने वाली घटनाएँ देखनी हैं। इसके अतिरिक्त क्या उपन्यास की कथा केवल एक ही दृष्टिकोण से दिखाई जानी है, और यदि ऐसा है तो क्या वह कोण कथा से बाहर का है, अथवा उसी के भीतर रहने वाले किसी पात्रविशेष का है, अथवा उस कथा का दृष्टिकोण इस बिंदु से उस बिंदु पर होते हुए अनेक बिंदुओं पर केंद्रित होना है? साथ ही उस कथा का लक्ष्य क्या होना है? क्या यह विश्वदृश्यीय निदर्शन है, जैसा कि टॉल्स्टाय, बाल्भाक और थैकरे की रचनाओं में दीख पड़ता है, या किसी परिस्थिति को उत्पन्न करने वाले अदृश्य घटनाजाल को अभिनीत करना है, जैसा हेनरी जेम्स की रचनाओं में दीख पड़ता है, या किसी विषय को निदर्शित करना है, जैसा वेल्स करते हैं, अथवा यह कोई वृत्तिविशेष की परिधि में संपुटित हुआ एक निर्धारित दृष्टिकोण है, जैसा कि जेन ऑस्टन की सामाजिक सुखवृत्ति को दिखाने वाली प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष होता है। इन सब बातों से भी बढ़ कर अधिक महत्त्व वाली बात यह है कि उपन्यासकार अपने घटनाजाल को आरंभ में किस प्रकार गतिमान् बनावे और एक बार गतिमान् बना कर उसको किस प्रकार चरम परिणाम की ओर अग्रसर करे।

पात्रों का निर्माण

लोगों का विश्वास है कि उपन्यास में जीवन डालना पात्रों का काम है; क्योंकि उपन्यास में हमें पात्रों को जन्म देने वाली घटनासंतति की अपेक्षा पात्रों

घटनाओं की सतत प्रसूति पर निर्भर है

के दर्शन कहीं अधिक प्रत्यक्ष रूप से होते हैं। साथ ही एक उपन्यासकार के हाथों किसी पात्र की परिनिष्ठित रचना हो चुकने पर वह उस कृति की परिधि से बाहर हो हमारे यथार्थ जीवन और साहित्य दोनों के लिए समानरूप से आदर्श बन जाता है। किंतु स्मरण रहे, घटनाओं की धारावाहिक प्रसूति के बिना पात्रनिर्माण नहीं हो सकता; क्योंकि संसार में अविरतरूप से प्रवाहित होने वाली घटनानदी में पात्र एक बुद्बुद के समान है; वह क्रियारूप घटना का प्रतीकमात्र है, उसका आभासमान मूर्त रूप है। हम बाणभट्ट की महाश्वेता को इस रूप में नहीं जानते कि यह एक पीयूषवाहिनी ललनापात्र थी अथवा कादंबरी से पृथक् उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता थी। हम तो उसे कादंबरी में घटित होने वाली परम पावन क्रियाप्रसूति का एक मूर्त आविर्भावमात्र मानते हैं; महामहिम बाणभट्ट की सततप्रदीप्त प्रतिभाज्वाला की एक चिनगारीमात्र समझते हैं। इससे पहले कि हम व्यक्तित्व को मूर्तरूप में देखें, हमें उसे देश और कालविशेष की रूपरेखा में बाँधना होगा, और हमारी यह बंधनक्रिया घटना जाल के बिना असंभव है। **इसलिए किसी भी उपन्यासकार की सब से बड़ी समस्या यह है कि वह अपने घटनाजाल के लट्टू को किस प्रकार और कितने वेग से उपन्यासपट्ट पर फेंके—**

इस काम के लिए अब तक दो उपायों का अवलंबन किया

जाता रहा है; जिनमें से पहला **अभिनयात्मक** है और दूसरा **व्याख्यात्मक**। पहले प्रकार में पाठक की आँख सीधी, रंगमंच पर खड़े हुए पात्र पर टिकी रहती है। और दूसरे प्रकार में वह लेखक के द्वारा दिए गए उनके वर्णन के शीशे में से उन्हें देखता है। संसार के कतिपय उत्कृष्ट उपन्यास या तो पहले ही प्रकार में कहे गए हैं, अथवा एकांततः दूसरे में। उदाहरण के लिए, टॉल्स्टाय का आन्ना करेनिना नामक उपन्यास एकांततः मानों रंगमंच पर खेला गया है। इसमें दृश्यों का क्रमिक विकास बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है, और इसे पढ़ते समय पाठक अपने को क्रम से घटित होने वाली घटनाओं के सामने खड़ा पाता है। वह उन सब पात्रों को अपने से एक हाथ की दूरी पर सजे हुए रंगमंच पर रंगरली करते देखता है। जीवन के साथ इतनी घनिष्ठता और किसी भी उपन्यास को पढ़ कर नहीं निष्पन्न होती।

घटनाप्रदर्शन के दो उपायः अभिनयात्मक व्याख्यानात्मक

व्याख्यात्मक उपन्यासों का सब से सुंदर निदर्शन बाल्झाक की रचनाएँ हैं। इनमें घटनाओं का चक्र चलने से पहले उनके लिए अपेक्षित वातावरण को विस्तार के साथ घड़ा जाता है। क्या इतिहास, क्या नगर, क्या राजपथ, क्या मकान, कमरे, झोंपड़ियाँ, यहाँ तक कि वर्तमान युग की आर्थिक संकुलता, सभी को विस्तार के साथ पाठक के संमुख रखा जाता

व्याख्यात्मक उपन्यासों का उदाहरण

है। वर्णन करने की यह शक्ति इतने अधिक रोचक और विकसित रूप में संसार के अन्य किसी भी उपन्यासकार में नहीं पाई जाती।

अभिनयात्मक और व्याख्यात्मक दोनों उपायों का संमिश्रण

दोनों उपायों का संमिश्रण: बेनेट में

आर्नल्ड बेनेट रचित दी ओल्ड वाइव्ज टेल में अत्यंत ही सुंदर संपन्न हुआ है। इस उपन्यास को लिखने का विचार उनके मन में कैसे आया, यह बताते हुए वे लिखते हैं कि एक दिन उन्होंने एक भोजनालय में एक मोटी, भद्दी, तथा व्ययिनी महिला को देखा। वह इतनी अजीब सी बनी थी कि सभी उस पर हँस रहे थे; इतने में बेनेट ने सोचा कि क्या ही अच्छा हो यदि कोई उपन्यासकार उसके यौवन के भग्नावशेषों पर अपना कथानक खड़ा कर उसके इतिहास को लिख डाले। क्योंकि यह कितना करुणाजनक दृश्य है कि यही व्ययिनी महिला एक दिन यौवन की लहरियों में झूमती हुई दर्शकों को मुग्ध किया करती थी; इसके मन में भी एक दिन उमंगें थीं, उल्लास थे और विलासभरी आकांक्षाएँ थीं। और इस बात से कि उसके व्यक्ति में इस विपुल परिवर्तन को प्रतिक्षण प्रतिवस्तु में होने वाले छोटे छोटे परिवर्तनों की उस लड़ी ने उत्पन्न किया है, जिसे वह अपने ऊपर घटित होता देखकर भी न देख सकी थी, उसकी जराजन्य करुणोत्पादकता कहीं अधिक बढ़ जाती है। उन्होंने अपने इस उपन्यास में नायिका तो दो रखी हैं किंतु टॉल्स्टाय

के प्रख्यात उपन्यास वार एण्ड पीस की भाँति नायक एक ही रखा है और वह है **समय**।

बैनेट ने अपने उक्त उपन्यास में दो जीवनों को समाप्त करने वाले युग की अप्रतिहत प्रगति को हृदयंगत करते हुए, समय की न दीखने वाली उड़ान और परिवर्तन की न सुन पड़ने वाली पगध्वनि को—जो एकमात्र स्मृतितंतुओं द्वारा अनुमेय है, अथवा जिसे हम मन तथा हृदय में निहित हुई निगूढ अनुभूति की स्तरावलियों में ही पढ़ सकते हैं—बड़े ही मार्मिक प्रकार से निदर्शित किया है।

दी ओल्ड वाइव्ज़ टेल

घटनाओं के वर्णन में अभिनय तथा व्याख्यान दोनों उपायों के संमिश्रण से काम लिया गया है। जहाँ हम इस उपन्यास में बड़ी ही प्रवीणता के साथ निर्धारित किए गए दृश्यों में पात्रों को अपनी अपनी कथा का अभिनय करता देखते हैं, वहाँ साथ ही हमें इसमें वातावरण को रूपरेखित करने वाले, अथवा घटना-जात को बाह्यजगत से हटा अंतर्जगत् में कीलित करने वाले अत्यंत ही विशद और नानाविषयक विष्कंभक भी उपलब्ध होते हैं। उपन्यास की दोनों नायिकाओं को हम उनके अछूते यौवन में उभरी हुई अपने सामने खड़ी देखते हैं; और तब कौंस्टांस एक विवाहित युवती के रूप में विलसित होती हुई स्थूलकाय बनती हैं, अधेड़ विधवा बनकर मोटी, मूर्ख और मधुरस्वभाव वाली बनती है, फिर वह अविवेकिनी माता बनती हुई अपने सीरिल नामक पुत्र को प्यार करती है और अंत में हमारे संमुख

अपनी मृत्युशय्या पर आती है; और यही उसके जीवन की आद्योपांत कथा है। दूसरी ओर हम सोफिया को अपने गृह-होटल को चलाने में व्यस्त हुई, दिनरात "पैसा पैसा" इसी एक धुन में व्यग्र हुई, और चाहे जिस तरह हो, एक आदृत मालिक-मकान बनने की अभिलाषा में दृप्त हुई देखते हैं। और अंत में वह हमारे सामने एकांत में अपने उस मृतपति की देह पर, जिसे उसने गत तीस वर्षों से नहीं देखा था, रोती हुई आती है।

सफल उपन्यास-कार के पात्र देशकाल के अनुसार छोटे बड़े बन जाते हैं

सफल उपन्यासकार की कला में एक ऐसी रहस्यमय शक्ति निहित रहती है जिसके द्वारा वह अपने पात्रों में देश और समय के अनुकूल छोटा बड़ा बन जाने की शक्ति ला देता है; और इस काम को सचमुच एक विलक्षण प्रतिभा ही कर सकती है। विश्व के उपन्यासकारों में यह बात केवल टॉल्स्टाय में संपन्न हुई है; और उनकी प्रख्यात रचना आन्ना करेनिना के पात्र यद्यपि उन्नीसवीं सदी के अंत में होने वाले रूसी हैं, तथापि उनके प्रधान पात्र आन्ना और लेविन अपनी गरिमा और अपनी लघिमा में समस्त तथा सार्वकालिक विश्व के साझे पात्र हैं।

कथोपकथन

पात्रों के चरित्रनिर्माण में **कथोपकथन** का बहुत महत्त्व है। इसके द्वारा हम पात्रों से भलीभाँति परिचित होते और दृश्यकाव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कुछ अनुभव करते हैं। **कथोपकथन**

वस्तु को कथा का रूप देता है और उसमें गतिशीलता ला देता है।

यद्यपि देखने में कथोपकथन का संबंध घटनाओं के साथ सीधा प्रतीत होता है, तथापि उसका संबंध पात्रों के साथ अधिक गहरा है। पात्र ही बातचीत करते हैं और उसके द्वारा अपने विविध भावों को अभिव्यक्त करते हैं। पात्रों की मानसिक तरंगें वर्णन के द्वारा भी व्यक्त की जा सकती हैं; किंतु कथोपकथन के द्वारा होने वाली भावाभिव्यक्ति जहाँ अभिनयात्मक होने के कारण चिरस्थायी रहती है, वहाँ साथ ही वह बिजली के समान गतिमती भी होती है। पात्र के मुख से निकला हुआ एक शब्द भी यदि उपन्यास में ठीक जगह बिठा दिया जाय तो वह वर्णन के पृष्ठों के पृष्ठों को पीछे छोड़ देता है, और अपनी जगह बैठा हुआ ही सारे उपन्यास को प्रदीपित करता रहता है। **कथोपकथन और वर्णन में यही भेद है कि पहले में पात्र स्वयं बोलते हैं तो दूसरे में उपन्यासकार अपने मुँह उनके मन की बात कहता है।**

कथोपकथन के मूल तत्त्व

कथोपकथन का प्रथम उद्देश्य वस्तु का विकास और पात्रों का चरित्रचित्रण करना है। ऐसा कथोपकथन, जो उक्त उद्देश्यों को पूरा न करता हो, सुतरां हेय है। **कथोपकथन में स्वाभाविकता, उपयुक्तता और अभिनयात्मकता होनी चाहिए।** इसका तात्पर्य यह है कि हम किसी पात्र का जैसा चरित्र चित्रित कर रहे हों, और जिस स्थिति में, तथा जिस अवसर पर वह कुछ

कर रहा हो, उसी के अनुकूल उसकी बातचीत भी होनी चाहिए। साथ ही वह बातचीत सुबोध, सरस, स्पष्ट और मनोरम भी होनी चाहिए। ये गुण कथोपकथन के मूल तत्त्व हैं। इनके बिना बातचीत बनावटी, नीरस, भद्दी और अनुपयुक्त जान पड़ेगी।

कथोपकथन में पात्रों के व्यक्तित्व का संरक्षण

कथोपकथन में एक बात और ध्यान देने योग्य है, और वह है यह, कि उसमें पात्रों का व्यक्तित्व प्रतिफलित होना चाहिए, अर्थात् जो पात्र जिस कोटि और प्रकार की बातचीत करता शोभायमान हो, उससे उसी प्रकार की बातचीत करानी चाहिए। व्यक्तित्व के इस अंश को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही हमारे संस्कृत नाट्याचार्यों ने भिन्न भिन्न स्थिति के पात्रों में भिन्न भिन्न भाषा तथा प्रकार से वार्तालाप करने की परिपाटी चलाई थी। उपन्यास में भी कथोपकथन की यही मर्यादा होनी चाहिए, जिससे पाठक सुनते ही कह दें कि यह वार्तालाप अमुक कोटि के पात्रों का हो सकता है, दूसरों का नहीं।

देशकाल

उपन्यास के पात्र किसी देश और कालविशेष की परिधि में रह कर ही उसके कथावस्तु को संपन्न करते हैं। देश और काल की परिभाषा में उपन्यासवर्णित उस उस देश के आचारविचार, रीतिरिवाज, रहनसहन और परिस्थिति आदि सभी आ जाते हैं। देशकाल को हम दो भागों में बाँट सकते हैं एक **सामाजिक** और दूसरा **ऐतिहासिक** या **सांसारिक**।

समाज की समस्त श्रेणियों के नानामुख जीवन को कथारूप देना विरली ही प्रतिभाओं का काम होता है। सामान्य कलाकार उसके किसी पक्षविशेष को लेकर उसका चित्रण किया करते हैं। इसके अनुसार साधारणतया कतिपय उपन्यासों में गृहस्थ को कटु बनाने वाली कलहप्रिय स्त्रियों का चित्रण होता है, किन्हीं में भावप्रवण युवकों का उत्थान और पतन दिखाया जाता है; किन्हीं में धनिक वर्ग के विलास का उल्लास दिखा कर निर्धनों की अकिंचनता को कठोर बना कर दिखाया जाता है, और किन्हीं में देश की औद्योगिक, आर्थिक तथा कलासंबंधी दशा का निरूपण किया जाता है। इसी प्रकार कुछ उपन्यास देश के किसी विशिष्ट भाग अथवा काल के किसी विशिष्ट अंश को कथावस्तु बना कर खड़े किए जाते हैं। इसके विपरीत बाल्झाक और झोला ने अपने अपने उपन्यासों की शृंखला में समस्त फरासीसी सभ्यता तथा संस्कृति का चित्र खींचने का प्रयत्न किया था और इसी प्रकार इंगलैंड में फील्डिंग अपने टोम जोंस नामक उपन्यास में अपने युग के समग्र इंगलैंड का कथारूप प्रस्तुत करने में सचेष्ट हुए थे। किंतु हम पहले ही कह चुके हैं कि इस प्रकार की विश्वभेदिनी प्रतिभाएँ कम होती हैं। उपन्यासकार--चाहे वह किसी भी अवस्था का चित्र खींचे—उसके लिए अवश्यक है कि वह अपने चरित्रचित्रण में देश, काल, परिस्थिति आदि को, जैसी वे थीं, उसी रूप में निदर्शित करे।

देशकाल में यथार्थता

ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-कालपरिज्ञान अत्यावश्यक है

कुछ उपन्यासों में किसी देश के इतिहास का कोई युगविशेष लेकर उसका कथा के रूप में चित्रण किया जाता है। इस श्रेणी के उपन्यासकार को इतिहास के उस युग में होने वाली उस देश की परिस्थिति पर और भी अधिक ध्यान देना उचित है। ऐतिहासिक उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह ऐतिहासिक घटनाओं के नीरस लेखे पर अपनी विधायिनी कल्पनाशक्ति की कूँची फेर कर उसमें सरसता संपन्न करे और इतिहास के बहुविध स्रोतों से चुनी हुई नानाविध घटनाओं को कला से उद्भूत होने वाली एकता और परिपूर्णता में समन्वित कर उनका ऐसा सजीव चित्र खड़ा करे, जो ऐतिहासिक होने पर भी काल्पनिक कथा का आनंद देने वाला हो। **इतिहास के किसी एक युग को फिर से सजीव और सरस बना कर पाठकों के संमुख प्रस्तुत करने में ही ऐतिहासिक उपन्यासकार की इतिकर्तव्यता है**। इस में संशय नहीं कि उसके द्वारा किए गए, उस युगविशेष में घटित होने वाली घटनाओं आदि के वर्णन में सत्यता होनी चाहिए, किंतु इस बात की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक बात यह है कि उसकी रचना में उस युगविशेष में प्रचलित रीतिरिवाज, आचार-विचार, लोगों का रहन-सहन—जिन्हें हम किसी युग की आत्मा, अथवा मापदंड कहते हैं—आदि का सच्चा सच्चा प्रतिफलन होना चाहिए। ऐतिहासिक सत्य का कल्पना के साथ संमिश्रण करने

में कितनी कठिनता होती है यह बात देखनी हो तो देबाक्ल या डाउनफाल के रचयिता मस्ये भोला के शब्दों को पढ़िए। वे अपनी रचना के उपोद्घात में लिखते हैं :—

ला देबाक्ल लिखने में मुझे जितना श्रम करना पड़ा उतना अन्य किसी भी रचना के प्रस्तुत करने में नहीं। जब मैंने इसकी रूपरेखा अपने मन में खींची थी, तब मुझे इस की परिधि का विचार तक न था। मुझे अपने विषय पर लिखी गई सभी रचनाओं, और विशेषतः सेदान के युद्ध पर और (वही इस पुस्तक का विषय है) लिखे गए लेखों आदि को ध्यानपूर्वक पढ़ना पड़ा। सेदान के युद्ध के विषय में जो कुछ भी कहा अथवा लिखा गया है, मैंने उस सभी को हस्तगत करने का यत्न किया है। मैंने उस अभागे सेवंथ आर्मी कौर के विषय में भी गवेषणा की है, जो इस उपन्यास का एक प्रकार से प्रमुख पात्र है। सेदान के युद्ध से संबंध रखने वाली सभी बातों को मैंने, जहाँ कहीं से भी वे मिल सकती थीं, एकत्र किया है। मेरे पास इस प्रकार की विपुल सामग्री एकत्र हो गई है, और मुझे उन सब बातों पर, जो इस युद्ध पर किसी प्रकार का प्रकाश डाल सकती है, बहुत ही ध्यान देना पड़ा है। मैंने इस युद्ध का फ्रेंच समाज की विभिन्न श्रेणियों पर क्या प्रभाव पड़ा है, इस बात पर भी ध्यान दिया है। मैंने संक्षेप में देखा है सेदान युद्ध और फ्रेंच धनिक समाज, सेदान युद्ध तथा फ्रेंच किसान, और सेदान युद्ध तथा फ्रेंच श्रमीवर्ग। युद्ध से पूर्व फ्रांस की मानसिक दशा क्या थी, फ्रांस ने किस प्रकार स्वातंत्र्योपयोग को तिलांजलि दी थी, विलास में डूबा हुआ फ्रांस, विनाश की ओर बलात् धकेला जाता हुआ

फ्रांस। उस समय के सम्राट् और उन्हें चहुओर से घेरने वाले सलाहकार ……फ्रांस के कृषक……उस समय के गुप्तचर सभी का मुझे अध्ययन करना पड़ा है। संक्षेप में उस युग पर प्रकाश डालने वाली सभी बातों पर मुझे ध्यान देना पड़ा है।

यह सब कुछ कर लेने के उपरांत मुझे वे सभी स्थान अपनी आँखों देखने पड़े, जहाँ मेरे द्वारा वर्णित घटनाएँ घटित हुई थीं। इसके लिए मैं अपनी रचना की पांडुलिपि अपनी जेब में ले राइम के लिए घर से निकला, वहाँ से सेदान तक के सभी स्थानों को मैंने ध्यान से देखा और उस मार्ग को, जहाँ से कि वह अभागा सप्तम सेनागुल्म गया था, तिलतिल अपनी आँखों देखा। मैं अपनी उस यात्रा में, मार्ग में आने वाली सभी कृषक झोंपड़ियों और स्थानों में ठहरा और मैंने वहाँ के लोगों से पूछ पूछ कर उस घटना के विषय में यथाशक्ति नोट लिए। तब मैं सेदान पहुँचा, और वहाँ के स्थानों से भलीभाँति परिचित होकर मैंने वहाँ के धनिकवर्ग को अपनी कथा में समाविष्ट किया………" इत्यादि।

झोला द्वारा लिखे गए उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि एक ऐतिहासिक उपन्यास में देश और काल से क्या अभिप्रेत है और उनको सचाई और मनोरमता के साथ प्रस्तुत करने में एक कलाकार को कितनी दक्षता अपेक्षित है। जो कलाकार इतिहास के समीचीन आलोडन के बिना ही उस पर अपनी रचना खड़ी करते हैं उनकी रचनाओं में कालव्याघात आदि दोष आ जाते हैं और वे सब प्रकार से भद्र भावित होकर भी सहृदयों

को अखरने लगती हैं। स्कॉट का आइवेंहो नामक उपन्यास—जो आरंभ से अंत तक इस प्रकार के दोषों से भरा पड़ा है, और जिसमें मध्ययुग का चित्र सुतरां विपरीत प्रकार का उतरा है—इस बात का ज्वलंत निदर्शन है। हमारे भारतीय तत्त्वज्ञानियों ने तो मनुष्य और उसके क्रियाकलाप को, ब्रह्मांडमाला की एक तुच्छातितुच्छ कड़ी मानकर उसको कभी लेखबद्ध किया ही नहीं है, जिसका परिणाम आगे चलकर यह हुआ कि संस्कृत की राजतरंगिणी जैसी ऐतिहासिक रचना भी कालव्याघात आदि दोषों में दब गई है और आज उसके इतिहास और कल्पनापक्ष को पृथक् पृथक् करना तत्त्वानुसंधान की एक बड़ी समस्या बन गई है।

संविधान की दो विधाएँ

भौतिक या प्राकृतिक संविधान कहानी को अधिक मार्मिक बनाने, पात्रों को अधिक विशदता देने, एवं जगत् और जीवन की विपुलता का परिचय कराने के लिए किया जाता है। इस विधान का रमणीय उपयोग तब होता है, जब कलाकार अपनी उत्कट रागात्मकता से मानवभावनाओं के साथ प्रकृति का प्रातीप्य अथवा सामीप्य दिखाता है। कभी कभी तो कलाकार मनुष्य के ऊपर विपत्ति-वज्रपात होने पर प्रकृति का सुरम्य विलास दिखाकर मनुष्य के सुखदुःख की ओर से उस की व्यंग्यात्मक उदासीनता का परिचय देता और इस प्रकार पीडित पुरुष की पीडा को और भी अरुंतुद बना देता है; और कभी वह; इसके विपरीत, उसकी

पीडा में प्रकृति को भी पीडित दिखा उसको सांत्वना देता है। मृत पति के शव पर करुण क्रंदन करती हुई बालविधवा के दरवाजे पर सुहागिनों को गुदगुदाने वाली चाँदनी का पदार्पण व्यंग्य नहीं तो और क्या है। इस प्रकार की चुटकियों और चुनौतियों द्वारा कलाकार पीडित पात्र के प्रतीप में अशेष संसार को खड़ा करके उसके रुदन को मर्मांतकारी बना देता है और उसके रुदन में उच्चता के साथ साथ स्थायिता भी भर देता है। जहाँ चतुर कलाकार इस विधि के द्वारा अपने पीडित पात्रों को अपने विरोध में उठे अशेष संसार के साथ युद्ध करने को प्रस्तुत करता है, वहाँ दूसरी ओर वह प्रकृति में समवेदना का भाव प्रकट कर पात्रों और प्रकृति के मध्य स्थापित हुई नैसर्गिक एकता को भी उद्घोषित कर सकता है। संसार के कलाकार अपनी अपनी नृम्ण अथवा सौम्य प्रवृत्ति के अनुसार उचित रीति से दोनों ही विधियों का प्रयोग करते आए हैं।

जीवन की व्याख्या: कलाकार के मन में काम करने वाली दो प्रवृत्तियाँ: *प्रतिभा*

हम ने बताया था कि **कल्पना के चित्रपट पर लिखी हुई मानवकथा का नाम ही उपन्यास है**। इससे यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार साहित्य के कविता तथा नाटक आदि अंगों का संबंध मानवजीवन की व्याख्या से है, इसी प्रकार उपन्यास का संबंध भी मानवजीवन के व्याख्यान से है। किंतु जहाँ **कविता परिवर्तनों की धारावाहिकतारूप समष्टि में बसने वाले जीवन को उसके व्यष्टिरूप किसी**

एक परिवर्तन में, किसी गतिशील सौंदर्यतत्त्व में, केंद्रित करके उसका लाक्षणिक और आवृत्तिमय पद्य में निदर्शन करती है, वहाँ उपन्यास उस जीवन की समष्टि को, उसकी शिथिलित व्यष्टियों के रूप में प्रसारित करके भाषा के शिथिल रूप गद्य में संप्रदर्शित करता है। हमें प्रत्येक कलाकार के मन में दो प्रवृत्तियाँ काम करती दीख पड़ती हैं। पहली प्रवृत्ति अथवा पहला स्तर वह है, जिसके द्वारा वह चेतना की विकसित शक्तिमत्ता से उत्पन्न हुए बाह्य शासन से बचकर अपने आदिम अविकसित अंतस् के भीतर पैठकर वहाँ उठने वाली कल्पनाओं की लहरियों में मस्त रहता है और दिन में उठने वाले स्वप्नों की भाँति जाग्रत में भी अपना ही कुछ उखड़ापुखड़ा, कुछ धुँधला सा जगत् बनाया करता है। दूसरी प्रवृत्ति के वशीभूत हो वह बलवान् प्रभावशाली प्रवृत्तियाँ स्थापित करता है, आचार-संबंधी सौंदर्य का उद्भावन करता है, कल्पक तथा सुखनम्य रूप की ओर, और उसके साथ संबंध रखने वाले विन्यास तथा शिल्पनिर्माण की ओर अग्रसर होता है। विकसित जीवन में एक अवस्थान ऐसा भी आता है, जब ये दोनों प्रवृत्तियाँ, एकीभूत हो, एक ध्येय का रूप धारण करती हैं, जिसकी ओर एक कलाकार अनायास खिंचता चला जाता है। जब ये दोनों प्रवृत्तियाँ साम्यावस्था में स्तिमित हो अपने पूरे वेग से गतिमान होती हैं, तब कला अपने रुचिरतम रूप में निखर कर हमारे सामने आती है। पहली प्रवृत्ति को वश में करने के लिए जितना ही अधिक दूसरी

प्रवृत्ति को गतिमान होना पड़ेगा उतना ही अधिक किसी रचना में सौंदर्य का निखरा रूप मिलेगा। यदि किसी कलाकार में पहली प्रवृत्ति जन्म से ही निश्चेष्ट है तो समझो उसकी रचना नितांत ठंडी, नीरस और निर्जीव रह जायगी।

दोनों प्रवृत्तियों के इस विप्लव को ही हम प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं, और यह प्रतिभा जहाँ कविता के क्षेत्र में अत्यंत ही सूक्ष्म, किंतु सांद्र रूप धारण करके अवतीर्ण होती है, वहाँ उपन्यासपरिधि में अपना पतला, किंतु विस्तीर्णरूप धारण करके गतिमती होती है। कविता और उपन्यास के आंतरिक तत्त्वों के इस भेद से उनके वागात्मक रूप में भी मौलिक भेद आ जाता है, जिस का परिणाम यह है कि जहाँ कविता का पद्य सजीव तथा प्रतिरूपमय शब्दों की लड़ी बन कर खड़ा होता है, वहाँ उपन्यास का गद्य सचेष्ट होने पर भी भावों को, लक्षणा और व्यंजना का अधिक सहारा न लेता हुआ, सीधे प्रकार से व्यक्त करता है।

कविता और उपन्यास के इस मौलिक भेद को छोड़ कर जीवन का व्याख्यान दोनों का समान है, और उसके विषय में हम पहले ही पर्याप्त मात्रा में लिख चुके हैं।

उपन्यास का उद्देश्य, उपन्यास में सत्यता, उपन्यास में वास्तविकता और उपन्यास में नीति आदि, सभी उसके द्वारा किए गए जीवन के व्याख्यान में अनायास आ जाते हैं, और उन सब का विवेचन हम कविता के प्रकरण में जगह जगह कर आए हैं।

कहना न होगा कि जिस प्रकार कविता तथा नाटक जीवन के लिए अभिप्रेत हैं, जीवन उनके लिए नहीं, इसी प्रकार उपन्यास भी जीवन का पृष्ठपोषक है, उससे स्वतंत्र नहीं; और जिस प्रकार जीवन को अपथगामी बनाने वाली कविता और नाटक संसार में सदा के लिए आदरणीय नहीं सिद्ध होते, अपनी घातक प्रवृत्ति में वे स्वयं निहत हो जाते हैं, उसी प्रकार समाज में प्रमाद तथा उच्छृंखलता का संचार करने वाले उपन्यास अपनी घातक गतिमत्ता में स्वयं चूर-चूर हो जाते हैं। इस विषय में बाबू श्यामसुंदरदास का निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य है :—

यदि हम साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि जिस साहित्य अथवा कला से समाज की मानसिक उन्नति अथवा नैतिक कल्याण नहीं होता, उसका अंत मानवजाति आत्मरक्षा के विचार से स्वयं ही कर देती है। जो भाव या विचार मानवजाति की उन्नति के सिद्धांतों के विरोधी अथवा विपरीत होते हैं, उनको वह अधिक समय तक प्रचलित नहीं रहने देती और शीघ्र ही नष्ट कर देती है। अतः किसी भी कला के महत्त्व के लिए यह आवश्यक है कि उसमें नैतिक अथवा मानसिक उन्नति के भाव भी विद्यमान हों। यों तो कलामात्र का उद्देश्य आनंद का उद्रेक करना है, पर प्रत्येक कला से मन में कुछ न कुछ भाव, कुछ न कुछ विचार उत्पन्न होते हैं। इसलिए कला का महत्त्व इसी में है कि उससे हमारे भावों और विचारों में कुछ उन्नति हो, उनका कुछ परिमार्जन हो। मानव-

जाति की वास्तविक उन्नति उसकी नैतिक उन्नति में ही मानी जाती हैं; और इसी लिए मानवजाति सारा उद्योग नैतिक उन्नति के लिए ही करती है; और यही कारण है कि जो कलाकुशल महत्त्व प्राप्त करना चाहते हैं, वे न तो नीति के विरुद्ध चल सकते हैं और न उसकी उपेक्षा ही कर सकते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् जे. ए. साइमंड्स **काव्य जीवन की व्याख्या है इस उक्ति का समर्थन करते हुए लिखते हैं, (और यह बात उपन्यास पर भी वैसी ही लागू होती है जैसी कविता पर) :—**

आज तक यदि साहित्य के इतिहास द्वारा कोई बात निश्चित रूप से सिद्ध हुई है तो वह यह है कि मानवजाति की आत्मरक्षक प्रवृत्ति उस कला का कभी स्वागत नहीं करती, जिसके द्वारा उनकी मानसिक अथवा नैतिक उन्नति न होती हो। उन भावों के साथ, जो उनकी उन्नति के नियमों के विरोधी हैं, वह अधिक काल तक नहीं चल सकती। कला को स्थायी महत्ता प्रदान करने के लिए नीति का प्रयोग आवश्यक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कलाकार को जानबूझ कर उपदेशक बन जाना चाहिए, अथवा उसे बरबस अपनी रचना में नीति का समावेश करना चाहिए। कला और नीति के उद्देश्य भिन्न भिन्न हैं। एक का कार्य है विश्लेषण करना और शिक्षा देना, दूसरी का काम है संकलन करके मूर्तिमान बनाना और आनंदोद्रेक बढ़ाना। किंतु सभी कलाएँ विचारों और भावों की स्वरूपप्रतिष्ठा करती हैं। फलतः सब से महान् कला वह होगी, जो अपने संकलन में विचारों और भावों की गहनतम उलझन का भी समावेश करती हो। मानव-

प्रकृति को समझने की जितनी ही अधिक क्षमता कलाकार में होगी, जीवन की सुव्यवस्थित उलझन जितनी ही पूर्णता के साथ वह उपस्थित कर सकेगा, उतना ही वह महान् होगा। मानवजाति का बर्बरता से संस्कृति की ओर बढ़ने का सारा उद्योग उनका अपने नैतिक गौरव को बनाए रखने और उसे विपुल बनाने का उद्योग है। नैतिक गुणों की रक्षा और उनके भरण पोषण द्वारा ही हम उन्नति करते हैं।

हमने बताया था कि जिस प्रकार कविता में जीवन का व्याख्यान होता है, उसी प्रकार, उससे कुछ भिन्न रूप में, उपन्यास भी जीवन का संप्रदर्शन कराता है। हमारा जीवन, काल की गति के साथ साथ, हमारे अनजाने में ही सदा बदलता रहता है। व्यक्तियों के जीवन में घटने वाला यह परिवर्तन उनके समष्टिरूप समाज तथा राष्ट्र पर भी प्रतिफलित हुआ करता है। समाज तथा राष्ट्र में आने वाले इस परिवर्तन का उसके वागात्मक प्रकाशन रूप साहित्य में प्रतिबिंबित होना स्वाभाविक है। और जिस प्रकार भारत तथा इंगलैंड की कविता में उन दोनों देशों का क्रमिक विकास प्रतिफलित है, इसी प्रकार इनके उपन्यासों में भी हमें एक प्रकार का क्रम प्रवाहित होता दीख पड़ता है।

किंतु स्मरण रहे, भारत में उपन्यास अपने वर्तमान रूप में पश्चिम से आया है। हमारा अपना उपन्यास तो कादंबरी के साथ समाप्त सा हो गया था। इसलिए जहाँ इंगलैंड के उपन्यास में वहाँ की प्रतिभा का आनुक्रमिक विकास अविच्छिन्न रूप से दृष्टिगत होता है, वहाँ भारत की उपन्यासपरंपरा में बहुत बड़े

विच्छेद दीख पड़ते हैं। फलतः हम इंगलैंड की उपन्यासपरंपरा के विषय में कुछ कह कर बाद में हिंदी की उपन्यासपरंपरा पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

बिओवुल्फ, मोर आर्थर आदि रचनाओं में **एकांततः आश्चर्य-**
इँग्लिश उपन्यासों **कथा का रूप धारण कर** हमें लिली की यूफ़ुस
का सिंहावलोकन **नामक रचना में उपन्यास का संबंध रीतिरिवाजों**
के व्याख्यान के साथ प्रकट हुआ दीख पड़ता
है। यूफ़ुस में दीख पड़ने वाले अनेक संस्थानदोषों से बचते हुए डेफो ने अपना प्रसिद्ध रोबिंसन क्रूसो नाम का उपन्यास लिखा, जिस में मानवजीवन का व्याख्यान तो था, किंतु उस व्याख्यान को सार्थक बनाने वाली भावों की विश्लेषणा न थी। रिचार्डसन ने अपनी रचनाओं में, जहाँ अपने समय के वस्तुजात को परखा, वहाँ उसने मनुष्यों के व्यवहार और उनकी प्रवृत्तियों की भी समालोचना की। रिचार्डसन को प्राप्त हुई सफलता से ज्ञात होता है कि **उनके समय में समाज का रुख आश्चर्यमय कथाओं से हट कर शनैः शनैः प्रतिदिन के जीवन में दीखने वाली प्रवृत्तियों को विश्लेषणा की ओर झुक रहा था**। रिचार्डसन के द्वारा गतिमान हुई प्रवृत्ति को फीलिडग ने संपूर्णता प्रदान की और उसने अपने सामाजिक चित्रण में हास्यरस का प्रवेश कर उसमें नवीनता भी उपस्थित की। **वह काम, जो सब से पहले** फीलडिंग **ने निष्पन्न किया, चरित्र-चित्रण था**। फीलडिंग से पहले उपन्यासकारों के पात्रों को हम

उनके विषय में पढ़ कर ही, उनके किसी ही अंश में जान पाते थे; फील्डिंग के पात्रों को हम अपने जैसा अपने सामने खड़ा देखते हैं। स्मौलेट ने फीलडिंग द्वारा चलाई गई प्रथा को आगे बढ़ाते हुए, उपन्यास की घटनाओं को एक सूत्र में बाँधने वाले प्रधान पात्रों को निखार कर दिखाने पर बल दिया और उसके द्वारा प्रवृत्त किए चरित्रचित्रण को और भी अधिक अग्रेसर किया। आइरिश साहित्यिकों ने जब कभी भी इंग्लिश साहित्य में सहसा प्रवेश किया है उन्होंने उसमें हमेशा चार चाँद लगाए हैं। स्टेन और गोल्डस्मिथ ने उपन्यासक्षेत्र में यही काम किया। गोलडस्मिथ का विकर ऑफ वेकफील्ड उपन्याससाहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है।

अठारहवीं सदी के अंतिम दिनों में जनता वास्तववाद से पराङ्मुख हो सौष्ठववाद की ओर बढ़ी। कविता के क्षेत्र में इस प्रवृत्ति ने ऐंद्रिय कविता को जन्म दिया और उपन्यास की परिधि में यह सुदूरस्थित आश्चर्यमय घटनाओं को अपना कर बड़ी ही सजधज के साथ अवतीर्ण हुई। इसके वशंवद हो वेल्पोल ने अपने घटनाजाल को दैनिक जीवन के चित्रपट से उठाकर दूर में लटके हुए मध्य युग के चित्रपट पर अंकित किया। सौष्ठववाद की यह प्रवृत्ति सुदूर अतीत में घटित हुए, किंतु फिर भी सत्यरूप इतिहास में प्रचरित हो, स्कॉट के उपन्यासों में बहुत ही मनोरम तथा उपयोगिनी बन कर सुशोभित हुई।

जहाँ उपन्यास की एक धारा दैनिक जीवन से उपरत हो

सौष्ठववाद में आनंद लेने के लिए सुदूर अतीत की ओर पीछे फिरी, वहाँ साथ ही उसकी अखंड धारा समकालिक जीवन के विस्तीर्ण क्षेत्र में बराबर प्रवाहित होती रही। जेन आस्टेन ने उसकी अखंड धारा का अर्चन करते हुए अपनी रचनाओं में सौष्ठववाद का सक्रिय प्रतिरोध किया और यथार्थवाद के अनुसार जीवन के किसी पटलविशेष के चित्रण का सूत्रपात किया। उन्नीसवीं सदी में उपन्यास को सर्वप्रिय बनाने का श्रेय डिकंस को है, जिसने अतीत कलाकारों के पदचिह्नों पर चलते हुए अपनी व्यापिनी प्रतिभा से तात्कालिक समाज के व्याख्यान को अत्यंत ही व्यापक तथा रुचिर रूप प्रदान किया। रिचार्डसन तथा फील्डिग के द्वारा प्रवर्तित और डिकंस के द्वारा समर्थित हुए यथार्थवाद का पूर्ण परिपाक थैकरे की रचनाओं में हुआ, जिसने उपन्यासकला को दूर रखी सभी वस्तुओं से हटा मुख्य रूप से "मनुष्य" की सेवा में संयोजित किया। थैकरे के दृष्टिकोण में दीख पड़ने वाली निराशा ने उसके चित्र में एक अनूठी करुणा का संचार कर दिया है। चार्लट ब्रॉएटे ने **यथार्थवाद की इस धारा को समाज के विस्तीर्ण क्षेत्र से निकाल व्यक्ति की संकुचित प्रणाली में बहा कर विक्टोरियन साहित्य में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न कर दी।** अब तक यथार्थवाद का ध्येय बाह्य जगत् को चित्रित करना था, अब उसके द्वारा व्यक्ति के अंतरात्मा का निदर्शन किया जाने लगा। जिस प्रकार फील्डिंग तथा थैकरे ने समाज और वस्तुजात का चित्रण करके यथार्थवाद की विस्तृत रूप में अर्चना की, उसी प्रकार ब्रॉएटे ने

अपने आंतरिक जीवन की निगूढ़ अनुभूतियों को चित्रपट पर रख कर यथार्थवाद को **एक जीवन के एक बिंदु में** संपुटित करके उसकी प्रतिष्ठा की। इस बात में जॉर्ज इलियट ब्रॉण्टे के पीछे चलीं, किंतु जहाँ वे विशदता के साथ अपना मर्म दूसरों के संमुख रखने में सफल हुईं, वहाँ उनमें दूसरों के मर्म को मुखरित करने की भी शक्ति थी। ब्रॉण्टे का दृष्टिकोण अपने भीतर बँधा हुआ था; इलियट ने भीतर और बाहर दोनों ओर सफलता के साथ देखा था।

संक्षेप में हम ने देखा कि किस प्रकार उपन्यास अपने आरंभिक रूप में जीवन से दूर भाग आश्चर्यकारी घटनाओं और पात्रों के पीछे छिप गया था; किस प्रकार विक्टोरियन युग के आरंभ में कलाकारों ने इसे वहाँ से हटा कर समाज के निदर्शन में प्रवृत्त किया; इस युग के अंतिम दिनों में किस प्रकार उपन्यास-कारों ने इसे समाज के विस्तृत क्षेत्र से हटाकर वैयक्तिक मनो-विज्ञान के विश्लेषण में अग्रसर किया। किंतु मनोविज्ञान के विश्लेषण के लिए ढूंढे गए इन उपन्यासकारों के व्यक्ति समाज की उस श्रेणी के थे, जो प्राकृतिक जीवन से दूर बह जाने के कारण यथार्थ नहीं कहा सकती और जो अपनी यथार्थता को अपनी बनीठनी वेशभूषा और बनावटी वार्तालाप के पीछे छिपाए रखती है। **इसी बात से असंतुष्ट हो** हार्डी **ने मनुष्य को उसके आदिम रूप में उद्भावना करके, उसे प्राकृतिक शक्तियों के मध्य में खड़ा कर उसका उन शक्तियों के साथ वही निष्ठुर संग्राम कराया है, जिसके दर्शन हमें महाकाव्यों और नाटकों में जगह**

जगह होते हैं। उनके मत में प्रकृति केवल साक्षिरूप वस्तु नहीं है, जिसके संमुख पुरुष और स्त्री अपना अपना पार्ट खेलते हैं। यह एक परिस्थिति है, जो अतिशय कठोर तथा निष्ठुर है और उनके भाग्य का, जैसे चाहे, निर्माण करती है। हार्डी की दृष्टि में प्रकृति एक दयामय आदर्श नहीं, अपितु यह आह्लाद और सौंदर्य को खा जाने वाली एक अटल अंध शक्ति है। अपने भाग्य को न पहचानता हुआ व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार भद्र से भद्र जीवन व्यतीत करता है, किंतु परिणाम सब का, भले और बुरे दोनों का, एक वही विनाश का गहन गह्वर है।

हिंदी उपन्यास का सिंहावलोकन

देखने में तो हिंदी के उपन्यास आधुनिक युग की दाय हैं; किंतु ध्यानपूर्वक देखने पर इनकी परंपरा प्रेममार्गी सूफी कवियों की रचनाओं से ही प्रवृत्त हुई दीख पड़ेगी। कथाओं की जो रूपरेखा हमें सूफियों की आध्यात्मिक रचनाओं में उपलब्ध होती है, वही आगे चलकर, कुछ विभिन्न रूप में, आदि काल के उपन्यासों में लक्षित होती है; "एक नायक, एक नायिका, नायिका के प्रति नायक का अटल प्रेम, प्रेम की बाधा, प्रेमपात्र की प्राप्ति का प्रयत्न, बाधाओं का परिहार और मिलन" संक्षेप में यही ढाँचा आदि काल के अनेक उपन्यासों में अपनाया गया। सैयद इंशा अल्ला खाँ की रानी केतकी की कहानी में वही पुरानी प्रेम की लगन, हृदय की तड़प, और पिया को पाने के करिश्मे हैं और पदमावत की भाँति यहां भी महादेव, मछंदर आदि की सिद्धियाँ प्रदर्शित की गई

हैं। प्रेम की परिचित परिधि के बाहर जीवन के अन्य पक्षों पर पहले-पहल लाला श्रीनिवासदास की दृष्टि गई और इन्होंने अपनी मुख्य रचना परीक्षागुरु अंग्रेजी उपन्यासों का अध्ययन कर उनके आधार पर लिखी। ठाकुर जगमोहनसिंह द्वारा रचे गए, प्राकृतिक सौंदर्य में प्रस्फुटित हुए श्यामास्वप्न के पश्चात् पंडित अंबिकादत्त व्यास के आश्चर्यवृत्तांत और बालकृष्ण भट्ट के सौ सुजान एक अजान के बाद हम हिंदी के उस युग में आते हैं, जब हमें बंकिम, रमेश, हाराणचंद्र रक्षित, शरत, चारुचंद्र, और रवींद्र आदि प्रसिद्ध बांग उपन्यासकारों की सभी उपादेय रचनाओं के अनुवाद अपने यहाँ मिलते हैं। इन के द्वारा हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श ऊँचा उठा। इन अनुवादकों में ईश्वरी-प्रसाद तथा रूपनारायण पांडेय विशेषतया स्मरणीय हैं। इसी बीच में बाबू देवकीनंदन खत्री ने ऐयारी तथा तिलस्म के ऊपर अपनी चन्द्रकांतासंतति को खड़ा करके घटनावैचित्र्य का प्रचुर चित्रण किया; किंतु इसके द्वारा रससंचार, भावविभूति, या चरित्रचित्रण में सहायता न मिल सकी। "चुनार की पहाड़ियों में खत्री महाशय को जो तहखानों की अनंत परंपरा प्राप्त हुई और उनकी कल्पना ने जिनके साथ अनेकानेक वीर-कायर नायक-नायिकाओं तथा उनके सहचरसहचरियों की सृष्टि की, तथा तिलस्म के सभी फन ईजाद किए, उससे हिंदी उपन्यासों का घटनाभंडार तो बढ़ा ही, साथ ही प्रतीक्षा, आशंका आदि भावों को उत्पन्न करके कथानक के विस्तार में पाठकों का मन

लगाए रहने का कौतूहल भी अधिक आया। प्रेम की रूढ कथा और ज्ञात या अनुमित घटनाचक्र के स्थान पर कौतूहलवर्धक अनेक कथाओं की यह संतति अवश्य ही हिंदी उपन्यासकाल के विकास में युगप्रवर्तक मानी जायगी।"

घटनाप्रधान उपन्यासों की ओर बढ़ती हुई जनता की प्रवृत्ति को देख बाबू गोपालराम गहमरी ने हिंदी में जासूसी उपन्यासों का सूत्रपात किया, जो अपने मानवीय क्रियाकलाप के कारण ऐयारी उपन्यासों की अपेक्षा हमारे निकटतर लक्षित हुए। परंतु प्रेम की सरिता फिर भी अखंड बहती रही, जिससे अनुप्राणित हो श्रीयुत किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐयारी, सामाजिक तथा ऐतिहासिक, सभी प्रकार के उपन्यास लिखकर भी उन सब के मूल में कोई न कोई स्त्री ही रखी, चाहे वह चपला, मस्तानी, प्रेममयी, वनविहंगिनी, लावण्यमयी और प्रणयिनी हो अथवा कोई कुलटा। इसके अनंतर हमारे संमुख पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का ठेठ हिंदी का ठाठ, लज्जाराम मेहता के धूर्त रसिकलाल, आदर्श दंपती, आदर्श हिंदू और बाबू व्रजनंदन सहाय के सौंदर्योपासक, राधाकांत और राजेंद्रमालती आदि उपन्यास आते हैं, जिनमें उपन्यासकला सामाजिक सेवा में अग्रसर होने पर भी उपदेश जैसे किसी न किसी प्रकार के भार में दबी ही रही।

अब तक हिंदी के अपने उपन्यास घटनाप्रधान होने के कारण केवल मनोरंजन के साधन थे। इन में से कुछ ने जग-जीवन के निकट पहुँच सामाजिक विश्लेषण की ओर पग बढ़ाया,

किंतु वे मानव चरित्र का मर्मस्पर्शी चित्रण न कर सकने के कारण अपने वर्णन में रसवत्ता न ला सके। इनका जीवन संकुचित था; फलतः इनके द्वारा उपन्यासरूप में किया गया उसका निदर्शन भी एकदेशीय तथा विरल था। मुंशी प्रेमचंद ने उसके इस अभाव को दूर करते हुए कृषिप्रधान भारत के सभी मर्मों को अपनी रचनाओं में मुखरित किया और इस प्रकार उपन्यासधारा को घटनाजाल के संकुचित क्षेत्र से निकाल कर नानामुख समाज के व्यापक क्षेत्र में प्रवाहित किया। उन्होंने आर्त समाज के चिरंतन संघर्षों से खिन्न हो, समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, समाज तथा राष्ट्रशोधन के पावन ध्येय से प्रेरित हो, भारतीय कुटुंब की संकुचित परिधि से लेकर समाज तथा राष्ट्र के विशाल से विशाल पटल पर विचार किया है; और उसमें भी उनकी मार्मिक सहानुभूति तथा समवेदना भारत के उन कोनों में बिशेष रूप से पहुँची है, जहाँ विवश वेश्याएँ, विधूत विधवाएँ, तिरस्कृत भिखमंगे, प्रवंचित किसान और पीडित परिश्रमी सब, एक के ऊपर एक, पड़े हुए आहें भर रहे हैं, एक दूसरे के दुःख को देख मुसीबतभरे दिन टेर रहे हैं।

प्रेमचंद के नेतृत्व में जयशंकरप्रसाद, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, वृंदावनलाल वर्मा, जैनेंद्रकुमार, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभ-चरण जैन तथा बेचन शर्मा उग्र आदि ने उपन्यासक्षेत्र में अच्छा काम किया है और हमें आशा है कि हिंदी साहित्य का यह विभाग भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक उन्नति करता चला जायगा।

गद्यकाव्य—आख्यायिका

आधुनिक साहित्य पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि वर्तमान समय में प्रकाशित होने वाले गीतिकाव्य, निबंध अथवा नाटक, कला के परिष्कार और अनुभूति की सांद्रता की दृष्टि से कितने भी परिष्कृत क्यों न बन रहे हों, साहित्य की प्रधान धारा आज भी उपन्यास और कहानियों में ही प्रवाहित हो रही है।

प्राचीन उपन्यासों में विस्तार अधिक था

यदि हम आधुनिक उपन्यासों की प्राचीन उपन्यासों के साथ तुलना करें तो हमें एक दम यह बात दीख पड़ेगी कि **प्राचीन उपन्यासों की अपेक्षा आधुनिक उपन्यासों में शब्द तथा अर्थ दोनों ही प्रकार की सामग्री का बड़ी मितव्ययिता से उपयोग किया गया है**। इसमें संशय नहीं कि विस्तार, जिस प्रकार वह प्रकृति की परिधि में अभिराम दीख पड़ता है, उसी प्रकार साहित्य में भी रुचिरता उत्पन्न करता है, किंतु विस्तार, जहाँ उचित प्रकार से निहित होकर मनोरम प्रतीत होता है वहाँ अनुचित रूप से फैल कर वह अव्यवस्था तथा अरसिकता का द्योतक भी बन जाता है। हमारे प्राचीन कलाकारों में विस्तार की यह प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक विवृत हुई थी;

और जहाँ हम महाश्वेता जैसे परम पावन पात्रों के लिए बाणभट्ट को शतशः नमस्कार करते हैं वहाँ साथ ही उनके अनेक पृष्ठों को घेरने वाले राजद्वार के वर्णन को पढ़ उनसे कुछ खीझ भी जाते हैं।

आधुनिक उपन्यास की परिमिति के उपकरण

और यद्यपि आधुनिक उपन्यास के परिमिताकार होने में मितव्ययिता की उक्त प्रवृत्ति का पर्याप्त हाथ है, तथापि वह उपकरण, जो इसे अपना वर्तमान रूप देने में सब से अधिक सहायक हुआ है, **कलाकार की अपनी कथा को एकतान्वित बनाने की उत्तरोत्तर बलवती होने वाली अभिलाषा है;** और सचमुच यदि एक उपन्यास भिन्न भिन्न परिस्थितियों और दशाओं में पड़ कर उनके प्रति प्रकट होने वाली अपने पात्रों की प्रवृत्तियों को चित्रित करके अपने पात्रों का संप्रदर्शन कराता है तो उसकी सफलता और प्रभावशालिता उन परिस्थितियों और घटनाओं की संख्या के अनुसार न्यूनाधिक न होगी। इसमें संदेह नहीं कि पात्रों का चरित्रचित्रण परिस्थितियों की बहुता तथा बहुविधता में भी संभव है; किंतु नानामुख परिस्थितियों और घटनाओं की घाटियों में पड़कर यदि फील्डिंग और डिकंस जैसे निपुण कलाकार भी अपनी कथा को भुला सकते हैं तो सामान्य कलाकारों का तो कहना ही क्या। परिस्थितियों के दुर्भेद्य चक्रव्यूह में फँस कर पता नहीं कितने कलाकारों ने अपनी रचनाओं को निर्जीव बना डाला है।

आधुनिक उपन्यास में कथा की एकता पर अधिक बल दिया जाता है

आधुनिक उपन्यासकार ने घटनासमुद्र में अपनी उपन्यास-नौका को एक निर्धारित बिंदु की ओर एक निधारित रेखा पर से ले जाना ही श्रेयस्कर समझा है। किंतु इसका यह आशय नहीं कि प्राचीन उपन्यासकारों की अपेक्षा वह अपनी रचना को कम कठिन समस्याओं के आधार पर खड़ा करता है; नहीं; प्राचीन उपन्यासकारों की अपेक्षा वह न्यून निदर्शनों का उपयोग करता हुआ भी उन से कहीं अधिक प्रभाविता के साथ अपने पात्रों का चरित्रचित्रण करता है। जहाँ वह घटनाओं के विस्तार में अतीत कलाकारों से पीछे है, वहाँ घटनाओं के उचित निर्वाचन में वह उनसे आगे बढ़ गया है और एक बार हस्तगत की गई कतिपय घटनाओं के माध्यम में से ही अभिलषित परिणाम ला उपस्थित करता है। आधुनिक कलाकार को उपन्यास की पहले से कहीं अधिक संकुचित और इसीलिए उससे कहीं अधिक बलवती परिभाषा की परिधि में काम करना पड़ता है। इंगलैंड में लिली के दिन से लेकर और हमारे यहाँ कादंबरी से आरंभ करके अब तक कहानी को दार्शनिक टीका, देशीय चित्रण, इतिहास तथा अन्य प्रकार की अनेक बातों से सुसज्जित करके दिखाया जाता रहा है। कथा के चहुँओर फैली हुई इस घास को नला कर आधुनिक कलाकार ने न केवल अपने ध्येय को ही पहले की अपेक्षा कहीं अधिक निर्धारित तथा परिछिन्न बनाया है, साथ ही उसने उपन्यास में उद्भूत होने

वाली कथा की एकता को भी पहले से कहीं अधिक बलवती कर दिखाया है।

आधुनिक कलाकार का प्रमुख चिंतन अपने निरीक्षण को देशकाल की निर्दिष्ट परिधि में सीमित करना रहता है। इसी उद्देश्य से वह अपनी कथा के विकास के लिए किसी प्रांत, जिला अथवा तहसील को चुनता है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कलाकारों की रचनाओं में भी कहीं कहीं इस प्रकार का नियंत्रण दीख पड़ता है, किंतु जहाँ उनकी रचनाओं में यह नियंत्रण विधिवशात् स्वयमेव आ गया है, वहाँ आधुनिक रचनाओं में इसे सिद्धांतरूप से स्वीकार किया जाता है।

जहाँ प्राचीन रचनाओं में देश काल का व्यापक वर्णन होता था वहाँ आधुनिक उपन्यास में मनोविज्ञान का विस्तार हो रहा है

विशेषज्ञता के इस युग में अनिवार्यरूप से अपनाई गई परिमिति तथा संकोच के कारण ही हमें आधुनिक उपन्यासों में देश और काल के वे विस्तीर्ण, बाल की खाल को चीरने वाले वर्णन नहीं मिलते, जिनसे प्राचीन उपन्यास आद्योपांत भरे रहते थे। **किंतु जहाँ आधुनिक कलाकार मनुष्य के साथ प्रत्यक्ष संबंध न रखने वाली बाह्य प्रकृति के अनावश्यक वर्णन से पराङ्मुख हो चुके हैं, वहाँ उनमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पात्रों का विश्लेषण करने की परिपाटी सी चल पड़ी है;** और मनोविज्ञान का जो विशद विश्लेषण हमें कोनराड और डी. एच. लारेंस की रचनाओं में सूर्य के प्रकाश की भाँति जीवनप्रद

अनुभव होता है, वही सामान्य कलाकारों की अर्धनिर्धारित रचनाओं में अखरने सा लगता है। और जिस सीमा तक आधुनिक कलाकार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा अपनी कथा को विज्ञान के चक्रव्यूह में डाल रहा है, उसी सीमा तक वह उपन्यास के उन आदिम रचयिताओं का समकक्ष बनता जा रहा है, जो देश और काल की सूक्ष्म पच्चीकारी में पड़कर अपनी कथा को भुला दिया करते थे।

वर्तमान उपन्यासों में देशकाल-विधान घटनाओं का सार बन रहा है

आधुनिक कलाकारों ने प्राचीन उपन्यासों में पाई जाने वाली अनावश्यक वृद्धि को काट-छांट कर ही संतोष नहीं किया; उन्होंने तो देशकाल के विधान को अपनी कथा का आंगिक उपकरण ही बना लिया है। यों तो देश और काल दोनों ही प्राचीन उपन्यासों में भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहते थे, किंतु जहाँ प्राचीन उपन्यासों में उनका उपयोग मुख्यतया अलंकारिणी पश्चाद्भूमि (back-ground) के रूप में होता था, वहाँ आजकल के उपन्यासों में इन दोनों का स्वत्व निकाल कर उपन्यास के पात्रों को उसमें रंग दिया जाता है; और आज देशकाल उपन्यासवर्णित घटनाओं की पश्चाद्भूमि न रह उसके पात्रों के अवयव अथवा सार बन कर हमारे समक्ष आते हैं। हार्डी के उपन्यास इस बात के श्रेष्ठ निदर्शन हैं।

उक्त कथन का सार यह है कि **आधुनिक कलाकारों ने**

उपन्यास को चेतन संघटन का रूप देने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार उनके पात्र चेतन हैं और घटनाओं के रूप में अपने आप प्रस्फुटित होते चले जाते हैं, इसी प्रकार उनकी रचना भी चेतन है; वह अनायास ही अपने पटलों में फूटती चली जाती है। संक्षेप में आज उपन्यास का ध्येय हो गया है, कथा कहना और इसे परिमिति के साथ कहना; उपन्यास डरता है देश काल का निदर्शनपत्र बनने से, यात्राचित्रपट का फोटोग्राफ़र बनने से, और मनोविज्ञान का विशेषज्ञ बनने से।

उपन्यास की इसी प्रवृत्ति में छोटी कहानी का आरंभ निहित है

आधुनिक उपन्यासकार की, परिमित से परिमित परिधि में बँधकर कथा कहने की उक्त प्रवृत्ति उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक व्यक्त रूप में हमारे समक्ष छोटी कहानी में आती है। बहुधा कला के इस दाय को लोग भ्रांतिवश उपन्यास के विशाल जगत् को रचने वाले उपन्यासकार का उसके भवननिर्माण से बचा हुआ कठचूरा समझते हैं, जिसे वह कहानी की छोटी गठरी में बाँध उपन्यास लिखने से बचे समय में पाठकों के बाजार में ला पटकता है।

उपन्यास और कहानी में भेद

निःसंदेह उपन्यास और छोटी कहानी में सब से बड़ा भेद उनके आकार का है। सामान्यतया उपन्यास अपने पात्रों को विस्तार के साथ चित्रित करता है। समय की दृष्टि से तो उपन्यास में यह विस्तार होता ही है, किंतु उन घटनाओं और परिस्थितियों का

विवरण भी उसमें भरपूर मिलता है, जिनके बीच में से होकर उसके पात्रों को गुजरना पड़ता है। उपन्यास अपने कथावस्तु और चरित्रचित्रण को मूर्त तथा सारवान बनाता है। दूसरी ओर छोटी कहानी जीवनसमष्टि की एक प्रतिलिपि न हो कर उसके किसी पटलविशेष की प्रतिमूर्ति होती है; वह सारे जीवनभवन को न चमका उसके किसी कोने को हमारे सामने व्यक्त करती है। इसे पढ़ने के उपरांत हमारे मन पर परिपूर्णता का प्रभाव अंकित होना अपेक्षित है; किसी एक परिस्थिति अथवा घटनाविशेष के विवरण में **एकता** का आना वांछनीय है। **छोटी कहानी** इस नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास की अपेक्षा जीवन के प्रति होने वाला इसका दृष्टिकोण घनतर है; जीवन की समष्टि से उभरी हुई घटना अथवा परिस्थितिविशेष में यह अपने आपको केंद्रित करती है; दूसरे शब्दों में अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा यह जीवन के किसी एक बिंदु को निहारती है। किंतु स्मरण रहे, इसके इस निहारण में उत्कटता तथा प्रभावशालिता संनिहित रहती है।

कहानी में वृत्ति की एकता होती है

कथा लिखते समय उपन्यास लिखने के प्रकार को सरल बना दिया जाता है। कथावस्तु में से उसके उन सहायक उपकरणों को निकाल दिया जाता है, जो दीवार पर पड़ने वाली प्रतिछाया के समान हैं, जो शरीर को व्यंजित करने के साधन हैं, जो कथा में घनता तथा गहनता उत्पन्न करते हैं। कहानी लिखते समय क्रिया को

भी सरल बना कर पहले ही से संकेतित किए गए ध्येय की ओर अग्रसर किया जाता है। पात्रों की संख्या छाँट कर निर्धारित कर दी जाती है और उन उपपात्रों को छोड़ दिया जाता है जिन का मुख्य प्रयोजन उपन्यास में पश्चाद्भूमि की शोभा बढ़ाना होता है। कहानी की यह सर्वांगीण परिमिति उसके भीतर व्याप्त होने वाली वृत्ति की एकता से और भी अधिक संकुचित बन जाती है। उपन्यास की प्रधान वृत्ति अथवा रस में—चाहे वह उपन्यास सुखांत हो अथवा दुःखांत—दूसरे प्रकार की वृत्तियों का प्रवेश करके उसकी रुचिरता को दीप्त किया जाता है; किंतु **वृत्तियों की वही विविधता और समन्विति छोटी कहानी के प्रभाव को—जो सदा एक होता है—नष्ट कर देती है।** और क्योंकि एक चतुर कथालेखक बहुधा कुछ घंटों की एक ही बैठक में कहानी को पूरा कर लेता है, इस बात से भी कहानी में वृत्ति की एकता होनी स्वाभाविक है।

आदि से अंत तक कहानी का ध्यान परिणाम पर बँधा होता है

अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि **कहानी का ध्येय जीवन के किसी बिंदु विशेष को उद्भावित करना होता है।** वह अपनी परा कोटि पर पहुँचने के लिए न्यून से न्यून समय लेती है। कहानी का सारा ही ध्यान परिणाम पर केंद्रित रहता है; और वहाँ जल्दी से जल्दी पहुँचने के लिए यह उपन्यास में इस काम को पूरा करने वाले सभी उपायों को सरल और संक्षिप्त बना कर काम में लाती

है। इसका डंक इसकी पूँछ में चमकता रहता है। पाठक यह जानता हुआ कि कहानी का सारा विवरण प्रतिक्षण पराकोटि की ओर उन्मुख है, इसे एक प्रकार की सावधानी से पढ़ता है। वह कहानी के पीठपीछे छिपे हुए भाग्य को देखता है, जो बलात् कहानी को उसकी अपनी धारा में प्रवृत्त किए रहता है। यदि कथालेखक ने कहानी का सारा ही भार पराकोटि पर न डाल दिया तो समझो उसकी कहानी टूट गई। **समस्त कहानी को पराकोटि पर टिका देने की विधि ही कहानी को उपन्यास से पृथक् करती है; क्यों कि उपन्यास में कहानी को सीधा पराकोटि पर न टिका, उसे शनैः शनैः, विविध उपायों द्वारा, नानामार्गों में से ले जाकर, परिणाम की ओर अग्रसर किया जाता है।**

परिपूर्णता के प्रभाव का परिणाम

अपनी इस निर्दिष्ट एकता के कारण ही कहानी अपनी अवेक्षा (interest) को पात्र, चरित्रचित्रण, तथा संविधान इन तीन तत्त्वों में उस प्रकार नहीं बाँटती, जैसे यह काम एक उपन्यास में अनिवार्यरूप से किया जाता है। **परिपूर्णता के प्रभाव** की अवाप्ति के लिए कहानी में इन में से किसी एक का उपयोग ही पर्याप्त है। उदाहरण के लिए, अमेरिका के प्रख्यात कहानीलेखक पो को संविधान की कहानी से प्रेम था; वह चरित्र-चित्रण की ओर पाठक का ध्यान जाने ही न देते थे। उन्हों ने अपनी कहानियों के पात्रों को कुछ धुँधले में ही छोड़ दिया है,

जिससे उनके पाठकों का ध्यान सदा संविधान पर लगा रहता है। इसके विपरीत जहाँ स्टीवंसन ने चरित्रचित्रण पर बल दिया है, वहाँ हेनरी ने कथावस्तु को परिपक्व बनाने में अपनी कला को सार्थक बनाया है।

उत्कृष्ट कहानी लिखना मानो रेल की एक पटरी पर दौड़ना है। जहाँ इसमें एक ओर गति अत्यंत संकुचित रहती है, वहाँ दूसरी ओर पैर फिसल जाने का डर भी प्रतिक्षण बना रहता है। इसमें संशय नहीं कि केवल देशकाल के आधार पर कहानी नहीं लिखी जा सकती, और नहीं यह काम केवल पात्रों के आधार पर ही किया जाता है। **संविधान में पात्रों का होना आवश्यक है, पात्रों का क्रिया के साथ संबंध होना अनिवार्य है, यह क्रिया किसी संविधान में होनी है, और इसका निर्वाह चरित्रचित्रण में होना है। इन तीन तत्त्वों में से एक को प्रमुख बना दूसरे दो को उसका सहायक बनाना कहानी-लेखक की सब से बड़ी शक्तिमत्ता है।**

उपन्यास और कहानी में एक भेद और है

एक बात और; उपन्यास की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसके पात्र सजीव होते हैं। कथावस्तु—चाहे वह कितना भी फलगर्भ क्यों न हो—उपन्यास में जीवन नहीं डालता; यह बात तो केवल पात्रों ही से संपन्न होती है। कहानी के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। संसार के कतिपय कहानीलेखकों ने केवल परिस्थिति को अभिनय का रूप देकर

ही सफलता प्राप्त की है। इसमें संदेह नहीं कि पात्रों को भाग्य अथवा परिस्थिति के हाथ की कठपुतली न बन उनसे कुछ ऊपर उभरना चाहिए; किंतु साथ ही ये पात्र परिनिष्ठित व्यक्ति से कुछ कम विकसित रहते हुए भी हमारे सामने आ सकते हैं। इस दृष्टि से हम उपन्यास के बजाय कहानी को उन प्राचीन गीतों तथा महाकाव्यों की प्रत्यक्ष प्रसूति मानेंगे, जिनमें घटना अथवा क्रिया को प्रधानता देकर पात्रों को, यदि भाग्य के हाथ की निरी कठपुतली नहीं तो मानवजाति के एक प्रतिरूप अथवा टाइप के रूप में उपस्थित किया गया है। कारण इसका प्रत्यक्ष है। हम प्रतिरूप, प्रकार, अथवा पात्रसामान्य को गिनेचुने सजीव शब्दों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं, किंतु व्यक्तित्व का विकास, जिसकी कि पाठक को उपन्यास पढ़ते समय प्रतिक्षण अपेक्षा बनी रहती है, अनिवार्य रूप से प्रसर (space) की अपेक्षा करता है; और इसी लिए उसका संबंध विशाल तथा एकतान्वित कल्पना से रहता है।

उपन्यास में पात्रों पर जोर होता है तो कहानी में परिस्थिति पर

संक्षेप में हम उपन्यास और कहानी के भेद को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि **जहाँ उपन्यास में पात्रों को प्रधानता दी जाती है, वहाँ कहानी में परिस्थिति पर बल दिया जाता है; और इसका निष्कर्ष यह हुआ कि कहानी का प्रभाव उसके कहने के ढंग पर निर्भर है।** विशदता और अभिव्यक्ति का ध्यान उपन्यास की अपेक्षा कहानी में कहीं अधिक

रखना पड़ता है । चतुर कहानीलेखक को यही जान कर संतुष्ट नहीं होना चाहिए कि उसे अपनी कहानी किस दृष्टिकोण से कहनी है; कहानी लिखते समय उसे यह भी जानना होगा कि उस कहानी के लिखने में उसके द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण ही उचित तथा उपादेय दृष्टिकोण क्यों है । इसके लिए उसे अपनी कहानी को मन ही मन अनेक बार दुहराना होगा और उस पर उचित पर्यवेक्षण के वे सब नियम घटाने होंगे, जो किसी रचना को समंजस बनाने के लिए नितांत आवश्यक होते हैं। ज्योंही एक कथालेखक बारूद के फटने पर उड़ने वाले सहस्रों शिलालवों की भाँति कहानी के मुख में से प्रस्फुटित होने वाली नानामुख सामग्री में से किसे लूँ और किसे न लूँ इस दुविधा में पड़ जाता है, त्योंही पाठक के मन में भी तदनुगामिनी दुविधा छा जाती है और कहानी के रस में भंग पड़ जाता है । चतुर कथालेखक को पूरा पूरा अधिकार है कि वह कहानी लिखने के प्रकारों में काटछाँट करके उन्हें चाहे कितना भी परिमित क्यों न कर दे, किंतु उसे यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए, कि वह अवशिष्ट **परिमित,** अर्थात् **न्यून** ही उसके तथा पाठक के बीच के व्यवधान में सेतु का काम देने वाला है।

उपन्या का बल; परिणामकल्पना

नीट्त्शे का कहना है कि **परिणामकल्पना, अर्थात् कला के किसी उत्पाद्य के परिणाम में अनिवार्यता उत्पन्न करना प्रतिभा का काम है** । कथा-साहित्य के क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से

पर अधिक रहता है तो कहानी का अपने आरंभ पर

उपन्यास के उस प्रासाद पर घटती है, जिसकी प्रत्येक ईंट का अपना भार अलग है और अपना एक अलग स्थान है और जिसकी आधार-शिला रखते समय उसके भावी, ऊँचे से ऊँचे, शिखर पर ध्यान रखना अनिवार्य होता है। इसके विपरीत एक कहानीलेखक का प्रमुख चिंतन यह रहता है कि वह अपनी कथा के लट्टू को कहाँ से पकड़ कर, कैसे, और कितने वेग से, भाषाफलक पर फेंके। उपन्यास कला का यह नियम कि उसके अग्रिम पृष्ठ में ही उसका आत्मा संपुटित होना चाहिए, कहानी पर और भी अधिक कठोरता से लागू होता है। जिस प्रकार ढोल के अग्र भाग पर प्रहार होते ही उसका सारा पोल मुखरित हो उठता है, इसी प्रकार कहानी की नोक पर आँख पड़ते ही उसकी समग्र देहयष्टि फड़फड़ा उठनी चाहिए।

पहली पंक्ति में ही कहानी पाठक को पकड़ लेती है

अपनी पहली पंक्ति से ही पाठक को वशंवद बनाने वाली कहानी सूचित करती है कि उसके लेखक ने अपनी अर्थसामग्री पर इतना गहन तथा व्यापक विचार किया है कि वह उसका एक अंग बन गया है; कलाकार के भीतर रहते रहते कहानी की वस्तु उससे मिल कर एक हो गई है। जैसे एक चित्रकार कतिपय रेखाओं के मध्य में किसी वनस्थली को संपुटित कर उसे सर्वात्मना आत्मन्वती कर देता है, इसी प्रकार प्रवीण कथालेखक अपनी कथा को इस प्रकार परिस्थित करता है, कि

उसकी लिखी कहानी की पहली पंक्ति ही अपने अशेष विस्तार को कह चुकी होती है।

एक बार संकेत देते ही कथालेखक का कर्तव्य है कि वह उस संकेत को आगे बढ़ाता जाय। उसकी पकड़ दृढ होनी चाहिए; उसे क्षणभर के लिए भी यह नहीं भुलाना चाहिए कि वह क्या कहना चाहता है, और उसके कथन का क्या महत्त्व है। उसकी इस दृढ पकड़ का, दूसरे शब्दों में यह आशय है कि उसने कथा कहना आरंभ करने से पहले उस पर भरपूर विचार किया है। और क्योंकि कथालेखक के द्वारा अपनाई गई जीवन के व्याख्यान की पद्धति, अर्थात् कहानीकला, उसे अपनी परिमिति के कारण इस बात से रोकती है कि वह चरित्रचित्रण द्वारा अपने कथावस्तु को विकसित करे, **एक कथालेखक के लिए यह और भी अधिक वांछनीय हो जाता है कि वह अपनी घटना** (adventure) **ही को यथार्थ बना कर प्रस्तुत करे।** कहना न होगा कि कहानी जितनी ही अधिक संक्षिप्त होगी और जितना ही उसकी क्रिया को ऊर्जस्वती बनाने के लिए अनावश्यक प्रपंच को उससे दूर रखा जायगा, उतना ही अधिक यह अपने प्रभाव के लिए न केवल उस तथ्य पर निर्भर रहेगी, जो प्रपंच को दूर करने पर शेष रह जाता है, प्रत्युत विधान के उस क्रमिक विकास पर भी आश्रित होगी, जिसके द्वारा कि इसे पाठकों के संमुख प्रस्तुत किया जाता है।

कहानीलेखक घटना ही को यथार्थ बनाकर प्रस्तुत करता है

कहानी आधुनिक उपन्यास के समीप है, तो भी उपन्यासकार सफल कहानीलेखक नहीं बनता

हमने कहा था कि **कहानी में घटना तथा भाव की एकता होनी आवश्यक है**, और एकता की यह आवश्यकता ही कहानी के ध्येय को प्राथमिक उपन्यासों के ध्येय से पृथक् करके उसे आधुनिक उपन्यास के समीप ला रखती है। किंतु यद्यपि आधुनिक कहानी और उपन्यास, दोनों ही समानरूप से कथा की एकता में विश्वास करते हैं, तथापि एक सफल उपन्यासकार के लिए कहानी के क्षेत्र में भी उतना ही सफल होना नितरां कठिन है। उसके लिए नाटक को खड़ा करने वाले उपकरण, अर्थात् कथावस्तु, पात्र, तथा संविधान के मध्य स्थायी रूप से रहने वाली तुला को नष्ट कर देना कठिन होता है; और एक सफल कथालेखक के लिए इस त्याग ही की सब से अधिक आवश्यकता है। उसके लिए चरम कोटि पर अधिक बल देना अवांछनीय होता है, और वह अपनी कथा को अग्रसर करने की सहज प्रवृत्ति को तो छोड़ ही नहीं सकता। उस सारे प्रपंच के लिए, जिसकी उसे उपन्यास लिखते लिखते कुछ टेव सी पड़ गई है, कहानी में कोई स्थान नहीं है; और क्योंकि एक उपन्यासकार इन बातों को सफलता के साथ पूरा नहीं कर सकता, इसलिए उसकी लिखी कहानी बहुधा दूरदर्शन यंत्र में विंधा हुआ उपन्यास सा बन जाती है। इन बातों के अतिरिक्त दृष्टि के केंद्र का प्रश्न भी ध्यान देने योग्य है। और क्योंकि एक उपन्यासकार का दृष्टिकेंद्र बहुधा जीवन के

विस्तृत फलक पर फैला होता है, फलतः उसके लिए जीवन के निभृत कोनों पर अपना दृष्टिकेंद्र जमाना दुःसाध्य हो जाता है। वह विक्टोरिया अथवा नियागारा के विपुल प्रपात पर अपनी दृष्टि अनायास ही जमा सकता है, किंतु उसके लिए उन प्रपातों के किसी एक बिंदु का निरीक्षण करना कठिन हो जाता है।

किंतु जो काम प्राचीन उपन्यासकारों के लिए कठिन था वही काम आधुनिक उपन्यासकारों के लिए, उस सीमा तक सहज हो गया है, जिस सीमा तक उन्होंने जीवन के बिंदुविशेष को अपनी विवेचना का विषय बनाना सीख लिया है; अर्थात् जीवन के पर्यवेक्षण के बजाय उसका निरीक्षण करना अंगीकार कर लिया है। कहना न होगा कि आधुनिक कथासाहित्य का ध्येय जीवन का विस्तृत परीक्षण न रह उसका घन निरीक्षण बन गया है, और इस बात ने आधुनिक उपन्यासकार के लिए अपनी सामग्री में उन गतसंग एकताओं को खोज निकालना सहज बना दिया है, जिन्हें वह कहानी के रूप में ग्रथित कर सकता है। उदाहरण के लिए, जगत् के प्रसृत चित्रपट का अवलोकन करने के उपरांत वेल्स के मन पर उस उन्माद तथा विक्षिप्त-चित्तता का अंकन हुआ था, जो ईर्ष्या से उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। उन्हों ने उसके एक उद्भावबिंदु को छाँट लिया, उसे शेष जगत् से गतसंग कर लिया और उसे दि कोन नामक कहानी की पट्टी पर खचित कर दिया। इसी प्रकार कोनराड ने, अपने अनुभव से उस युवक नाविक की चित्तवृत्ति को भाँप कर, जो

उनके मन में पहली बार पूर्व के जादूभरे सौष्ठव को निरख कर उत्पन्न हुई थी, यह अनुभव किया कि यहाँ है एक ऐसी घटना, जो अपने में किसी भी अन्य पात्र या घटना को मिलाए बिना, स्वयं अपने आप में ही परिपूर्ण है, यह है एक ऐसी संगीतमय भावना, जिसे विस्तृत साहित्यिक रूप से दाबना उस पर अन्याय करना है; और इस एकतान्वित स्मृति से ही उसने यूथ नाम की कहानी को लिख डाला।

जगत् के प्रति हमारी तीन भावनाएँ

हमारे मन में, जिस जगत् में हम रहते हैं, उसके प्रति तीन भावनाएँ हो सकती हैं। पहली यह कि हम जगत् के विधान को, जैसा कि यह हमें दीख पड़ता है, उसी रूप में स्वीकार कर लें और अपने भाग्य की ओर या तो उपेक्षाभाव धारण कर लें अथवा व्यवसायात्मक बुद्धि धारण करके इसमें जुटे रहें। दूसरी वृत्ति क्रियात्मक उत्सुकता की हो सकती है, जिस से प्रेरित हो हम समाज, उद्योग तथा राजनीति में दीख पड़ने वाली समस्याओं पर विचार कर सकते हैं, और हो सके तो, उनमें सुधार करने के लिए सहयोग दे सकते हैं। और तीसरी वृत्ति में अपने चहुँओर की मादक परिस्थिति को देख कर हमारे मन में घृणा, चिड़चिड़ापन और निराशा के भाव उत्पन्न होकर उससे दूर भागने की इच्छा जाग सकती है। धर्म के क्षेत्र में यह तीन प्रवृत्तियाँ प्रथा के अनुसार मंदिर में जाने वाले उत्साही धर्म प्रचारकों और भावयोगी धार्मिकों के रूप में परिणत हुई दीख पड़ती हैं।

जीवन को नियंत्रित करने वाली इन तीन प्रवृत्तियों का इसी विशदता के साथ हमारे साहित्य में प्रतिफलन भी हुआ है । उन बहुत से कारणों से, जिनका यहां विवेचन करना अनावश्यक प्रतीत होता है, यथार्थ के प्रति होने वाली विविध प्रतिक्रियाओं का मुखरण प्राचीन साहित्य की अपेक्षा वर्तमान साहित्य में कहीं अधिक विशद रूप में हुआ है; साथ ही अठारहवीं सदी से यथार्थ तथा सौष्ठव में दीख पड़ने वाला प्रातीप्य उत्तरोत्तर बलवान होता आया है, और इसी के अनुसार इन तीनों वृत्तियों को वहन करने वाली साहित्यिक रचनाओं का पारस्परिक भेद भी उत्तरोत्तर स्पष्ट होता चला आया है।

इन तीन प्रवृत्तियों का साहित्य में प्रतिफलन

वर्तमान जगत् की श्रमभरित यथार्थता से दूर भागने की वृत्ति अपने भिन्न भिन्न रूपों में हमारे कथा-साहित्य में मुखरित हुई है। महाशय वेल्स वैज्ञानिक आविष्कारों की शक्तिमत्ता में सौष्ठव-वाद का आनंद लेते है, तो मारिस ह्यूलेट अतीत घटनाओं के इतिहास में शांति पाते हैं। चैस्टर्टन ने इस बात के लिए इस जगत् को उस रूप में देखा है, जो रूप इसका सिर के बल खड़े होकर इसे देखने वाले पुरुष की दृष्टि में हो सकता है।

पाश्चात्य क़था-साहित्य द्वारा इन तीन वृत्तियों का निदर्शन

यह सब कुछ होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि वर्तमान कथासाहित्य की प्रभविष्णु वृत्ति यथार्थवाद

वर्तमान कथा-साहित्य की प्रमुख वृत्ति यथार्थवाद है

है। यह परिभाषा व्यापक है और इसमें उन सभी कहानियों का समावेश हो जाता है जो किसी न किसी रूप में, उपलभ्यमान जीवन का निदर्शन कराती हैं। इसके भीतर, जहाँ एक ओर उन कहानियों का समावेश है, जो **एकांततः यथार्थवादी** हैं, और जिनमें कथालेखक बिना किसी टीकाटिप्पणी के दृश्यमान जीवन को चित्रपट पर खींच देता है, वहाँ दूसरी ओर वे **कल्पनामय यथार्थवादी कहानियाँ** भी आ जाती हैं, जिनमें सौष्ठववाद के व्यासपीठ पर प्रदर्शित हुए मानवप्रतिरूप के चित्रण द्वारा मानवसमाज की विश्वजनीन वृत्तियों तथा प्रत्ययों को उद्भावित किया जाता है। यथार्थवाद की इन दो प्रतोपी धाराओं के बीच इसकी अन्य बहुत सी परस्पर मिलती-जुलती धाराएँ भी रहती हैं।

यथार्थवाद और सौष्ठववाद का सामंजस्य

वर्तमान कथासाहित्य में यथार्थवाद और सौष्ठववाद का सामंजस्य उसी सीमा तक उभर पाया है, जिस सीमा तक उनके संमिश्रण की हमारे जीवन में आवश्यकता अनुभव हुई है। कल्पना की पीठिका पर उत्तान होने वाला साहित्य हमें अपनी दृश्यमान परिस्थिति से उठा कर कल्पनालोक में पहुँचा सकता है अपने न्यूनातिन्यून रूप, अर्थात् एक जासूसी कहानी अथवा वैज्ञानिक रोमांस के रूप में यह हमारा क्रमविनोदन करके हमें प्रसन्नवदन बना सकता है; अपने उत्कृष्ट रूप में यह हमें किसी ऐसे स्थान

पर ले जा सकता है, जहाँ बैठ हम जीवन के उन उन्नत आदर्शों का पुनर्निर्माण कर सकें, जिन्हें व्यावसायिक विप्लव दिनों दिन धूलिसात् करता जा रहा है। यथार्थवादी कहानियाँ, अपने सामान्य रूप में हमें यह जता सकती हैं कि यह जगत् हमारी अपनी जगती से कहीं बड़ा है; अपने उत्कृष्ट रूप में वे हमें हमारी अपेक्षा अधिक मूर्खता के, बृहत्तर बहादुरी के, और जघन्यतर नीचता के कर्म करने वाले साथियों की प्रवृत्तियों को हृद्गत कराने में सहायता दे सकती हैं।

यथार्थवाद और सौष्ठववाद का कहानीजगत् में संपन्न होने वाला यह सामंजस्य हमारे उस द्वैध व्यक्तित्व की आवश्यकता को पूरा करता है, जिस के रूप में हमें इस शरीर में, और इस निराशापूर्ण जगत् में जीना पड़ता है; और हमारी आँख सदा उन लोकों की ओर लगी रहती है, जो हमारे इस मूर्त जगत् की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी हैं और जिनमें हम सतत प्रयत्न करने पर भी अब तक नहीं पहुँच पाए हैं।

गद्यकाव्य—निबंध

निबंध किसे कहते हैं, इसके उत्तर में महाशय जे. बी. प्रीस्ट्ले ने कहा है **निबंध वह साहित्यिक रचना है, जिसे एक निबंधकार ने रचा हो** । वास्तव में निबंध की यथार्थ परिभाषा करना नितांत कठिन है; क्योंकि निबंध के किसी भी लक्षण को लीजिए, उसमें लोक रचित एस्से ऑन दि ह्यूमैन अंडरस्टैंडिंग और लैम्ब रचित ओल्ड चाइना इन दोनों का समावेश नहीं होता। निबंध हो सकता है एक विवरण, वक्तृता, शास्त्रार्थ, अथवा तर्कवितर्क । निबंध का विषय हो सकता है धार्मिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, अथवा किसी अन्य प्रकार का विषय। किंतु जब हम साहित्यिक चर्चा में निबंध का नाम लेते हैं, तब हमारे मन में उसका एक परिसीमित तथा किसी सीमा तक निर्धारित लक्षण रहता है। तब निबंध से हमारा आशय होता है साहित्य की उस विधाविशेष से, जिसका लक्ष्य साहित्यिक मूल्यविशेष होता है और जो भाषा का, अपनी दृष्टि के अनुसार, जीवन के व्याख्यान के लिए, माध्यम के रूप में उपयोग करती है।

निबंध का प्रमुख लक्ष्य है पाठक को आनंद देना । जब हम अपनी अलमारी में से किसी निबंधरचना को उठाते हैं,

तब हमारे मन में एकमात्र इच्छा उससे आनंद लाभ करने की होती है। निबंध के सभी अंगों तथा उसके सभी उपकरणों का प्रमुख ध्येय यह आनंदप्रदान ही होना चाहिए। निबंध के अग्रिम शब्द के लिए ही आवश्यक है कि वह पाठक पर ऐसा जादू खेल जाय जो उसके अंतिम शब्द को पढ़ने तक उस पर सवार रहे। निबंध के आदि से लेकर अंत तक के समय में पाठक को भाँति भाँति की अनुभूतियों में से गुजरना होता है; इस बीच में उसका आरोचन तथा उद्दीपन हो सकता है, उसके मन में आश्चर्य, प्रेम तथा घृणा आदि के भाव उत्पन्न हो सकते हैं; किंतु इस बीच में उसके लिए **उठना, अर्थात् निबंध से उत्पन्न हुई स्वप्नमुद्रा से जागना अनभीष्ट** है। निबंधरचना के लिए आवश्यक है कि वह उस काल के लिए हमें अपनी गोद में ले ले और हमारे तथा संसार के मध्य एक बड़ी दीवार खड़ी कर दे।

किंतु इस काम को विरले ही निबंधकार पूरा कर पाए हैं। स्वगतभाषण में पाठक के ध्यान को वशंवद बनाए रखना नितांत कठिन है; **और निबंध भी एक प्रकार का स्वगतभाषण ही है**। एक निबंधकार के पास ऐसे साधन बहुत ही न्यून होते हैं, जिनके द्वारा वह पाठक के मन को अपनी रचना में बाँधे रखे। कहने के लिए उसके पास कहानी नहीं होती, जिसके द्वारा वह पाठक के मन में उत्सुकता बनाए रखे; गाने के लिए उसके पास स्वर, ताल तथा लय नहीं होते, जिनके द्वारा वह पाठक को मंत्रमुग्ध बनाए रखे। उसका वातावरण बहुत अधिक संकुचित

होता है; उसमें ध्वनि और गति के लिए अवकाश होता ही नहीं है। अपने काम में उसे अत्यंत सावधान रहना पड़ता है; यदि वह उस काम में तनिक भी चूका, यदि उसने अपनी रचना में जरा भी प्रमाद किया तो समझो उसकी रचना बालू में बह गई, आनंद नौका डूब गई, और पाठक निबंध पढ़ने से खीझ गया।

किंतु यथार्थ निबंध का, अर्थात् साहित्य की उस विधा का, जिसका सूत्रपात मोन्तेन्ज के द्वारा उसकी, मार्च १५७१ में प्रकाशित हुई, एसेस (Essaies) नामक रचना के रूप में हुआ था, लक्ष्य **व्यक्तित्व को प्रकाशित करना अथवा निवेदित करना है। एसे**—जिसका उपयोग मोन्तेन्ज ने साहित्य की नई विधा को रचने के लिए किए जाने वाले प्रयत्न के अर्थ में किया था—गद्यमय साहित्य के द्वारा रचयिता तथा पाठक के मध्य उत्पन्न होने वाला सब से अधिक प्रत्यक्ष संबंध है। मोन्तेन्ज के ये शब्द कि **ये मेरी अपनी भावनाएँ हैं; इनके द्वारा मैं किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता; इनके द्वारा मैं अपने आप को पाठकों की सेवा में अर्पित करता हूँ** सभी निबंधकारों पर समान रूप से लागू होते हैं। लैम्ब का अपने विषय में यह कहना कि **उसकी समस्त रचना उसके अपने आपे से ओतप्रोत है; वह उसके व्यक्तित्व से अनुस्यूत है** निबंध की परिभाषा की दृष्टि से सुतरां यथार्थ है।

निबंध की सफलता के लिए व्यक्तित्वप्रतिफलन की सब

से अधिक अपेक्षा है । सर टामस ब्राउन के अनुसार एक निबंध-कार का जगत् उसके अपने आपे का प्रसारमात्र होता है; यह उसके अपने आपे का सूक्ष्म प्रपंच होता है, जिसे वह अपनी आँखों से देखता और दूसरों के संमुख रखता है। एक उपन्यास-कार अथवा नाट्यकार के लिए वांछनीय है कि वह अपनी रचना को अपने व्यक्तित्व से किसी सीमा तक अछूती रखे। वह अपने उपन्यास अथवा नाटक में आने वाले सब पात्रों से पृथक् रहता हुआ भी उन सभी के रूप में परिणत हो सकता है; उनमें से किसी के भी मुँह अपनी आपबीती कहा सकता है। **किंतु निबंधकार तो अनिवार्यरूपेण एक ही पात्र का रूप धारण करता है; उसकी रचना में तो उसी एक का अपना आपा प्रतिफलित होना अनिवार्य है** । हो सकता है कि जिस व्यक्तित्व से आविष्ट हो वह अपनी रचना को प्रस्तुत करता है, वह पूर्ण रूप से उसका अपना न हो, किंतु उस व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है कि वह चारों ओर से परिपूर्ण हो। हम जानते हैं कि एलिया, चार्ल्स लैम्ब का परिपूर्ण आपा नहीं है, इसी प्रकार स्पेक्टेटर भी एडिसन का सारा आपा नहीं है, किंतु दोनों में से प्रत्येक एक परिपूर्ण तथा भलीभाँति पहचान में आने वाला व्यक्ति अवश्य है। हम उन दोनों के आस पास घूम सकते हैं; दोनों को अपने घर का करके पहचान सकते हैं। निबंधकार के साथ हमारी इस मित्रता की स्थापना होनी आवश्यक है; **निबंधकला की प्रमुख विशेषता है ही इस**

परिचिति अथवा सांनिध्य में। निबंधकार को अपनी समस्त रचना में वही एक बन कर रहना है, और हमें भी पल भर के लिए उससे पृथक् नहीं होना है। अपनी रचना में चाहे वह कितने और कैसे भी व्यक्ति, परिस्थितियाँ अथवा वातावरण क्यों न प्रस्तुत करे, वह उसमें किसी भी पुस्तक, चित्र अथवा पात्र का विवेचन क्यों न करे, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह हमें प्रतिक्षण यह स्मरण कराता रहे कि उन सब बातों की पीठ-पीछे दृष्टि उसकी अपनी है। निबंध को पढ़ते समय हमारा मन सहज ही निबंध के विषय से हट कर, उस रचना के अंतस्तल में प्रवाहित होने वाले उसके रचयिता के व्यक्तित्व पर आकृष्ट हो जाता है। **इस विधायक आत्मनिवेदन में ही निबंधकला की इतिकर्तव्यता है।** देखने में तो यह बात सामान्य प्रतीत होती है, किंतु इसकी परिपूर्ति विरले ही कलाकारों के हाथों हो पाई है।

अलेक्ज़ेंडर स्मिथ के अनुसार निबंध और विषयिप्रधान रचना का इस बात में ऐक्य है कि दोनों ही की कीली किसी एक स्थायी भाव पर टिकी होती है। यह स्थायी भाव निबंधकार के हस्तगत हुआ नहीं कि आरंभ से अंत तक उसकी रचना का शब्द शब्द उस भाव की अभिव्यक्ति में समर्पित होता चला जाता है।

निबंध के इस विवरण में उसके निर्माताओं के विषय में कुछ कहना असंगत न होगा। मोन्तेन्ज की मृत्यु १५९२ में हुई और बेकन के पहले १० प्रबंध पाँच वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुए। इंगलैंड

में प्रकाशित होने वाले सब से प्रथम निबंध यही थे। १६१२ में उसके निबंधों की संख्या ३८ हुई, जो आगे चलकर १६२५ में ५८ हो गई। इसमें संदेह नहीं कि निबंधलेखन की कला को बेकन ने मोन्तेन्ञ से सीखा था, तथापि दोनों की रचना के अपने अपने स्थायी भाव एक दूसरे से नितरां भिन्न थे। हम कह सकते हैं कि निबंधरचयिता के स्वभाव की दृष्टि से मोन्तेन्ञ आदर्श व्यक्ति था; वह था सहृदय, हास्यप्रिय, प्रेमास्पद और मनोवैज्ञानिक सत्य की खोज में अत्यंत उन्मुख, जब कि बेकन ने साहित्य की इस नवोदित विधा का उपयोग किया था संसार के ऐसे प्रकाशन में, जैसा कि यह उसके अपने स्वभाव के अनुरूप उसे दीख पड़ता था। मोन्तेन्ञ था उष्ण रुधिर और मांस का पुतला; वह व्यग्र था अपने उस आसन पर जिसके चहुँ ओर मोटे अक्षरों में खुदा था **मैं नहीं समझता; मैं रुकता हूँ, और परीक्षा करता हूँ**। दूसरी ओर बेकन है प्रज्ञा और वैदग्ध्य की एक प्रतिमूर्ति, जो विचक्षण न्यायाधीश के समान मानवजीवन पर मनचाही टीकाटिप्पणी करता है, किंतु फिर भी उस टिप्पणी से किसी सीमा तक पृथक् रहता है। उसका विषय सुतरां निर्धारित तथा भली प्रकार प्रस्तुत किया गया होता है, किंतु साथ ही यह सुतरां बाह्य तथा सामान्य रहता है। यह सारे का सारा बेकन के द्वारा भली प्रकार अनुशीलित तो रहता है, किंतु इसका उसने स्वयं अनुभव नहीं किया होता।

१६६८ में कौउले के निबंध प्रकाशित हुए और उन्हीं के साथ

अंग्रेजी प्रबंधों में मोन्तेन्ञ की छाया दीख पड़ी । कहना न होगा कि कौउले की प्रतिभा संकुचित थी, उसका व्यक्तित्व संकीर्ण और अपरिपूर्ण था; उसकी रचनाओं में उसकी एक ही नाडी धमधमाती है, किंतु उस एक नाडी में ही कौउले की सारी जान है। उसके ऑफ माइसेल्फ नामक निबंध में ऐसा उत्कट सांनिध्य तथा आत्मा की इतनी गहरी कूक पैठी है कि वह पढ़ते ही बनता है; वह आदि से अंत तक ऋजुता और स्वाभाविकता से ओत प्रोत है।

सर विलियम टेम्पल के निबंधों में भी किसी सीमा तक यही बात दीख पड़ती है, किंतु निबंधों को अभिलषित लोकप्रियता की प्राप्ति समाचारपत्रों के सूत्रपात होने पर ही हुई । समाचार-पत्रों के द्वारा निबंधों को मारकीट मिली, जो तब से अब तक उन्हें प्राप्त है । इनके द्वारा निबंधकारों को पाठकों का ऐसा केंद्र प्राप्त हुआ जो उन्हें अपना चिरपरिचित सा दीख पड़ा और जिसके संमुख वे मित्र की भाँति अपना आपा प्रस्तुत कर सके। इस केंद्र से निबंधकारों को ऐसे विषयों पर निबंध लिखने के लिए प्रोत्साहन मिला, जो निबंधरचना के उपयुक्त थे—यथा, निबंधलेखक को अपने चहुँ ओर दीखने वाला सामान्य जीवन, ऐसा जीवन जो अमूर्त तथा अप्रत्यक्ष न हो प्रत्यक्ष, वैयक्तिक तथा चिरपरिचित था, जो उनके तथा उनके पाठकों के लिए समान रूप से सुनिर्धारित तथा सुसंव्यक्त था । १२ एप्रिल, १७०९ को धनियों के प्रातराश टेबल पर और नगर के काफेस में

टेटलर नामक पत्र के दर्शन हुए; तब से लेकर १८वीं सदी के अंत तक निबंधों की भरमार रही। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक पाठकों के लिए ये निबंध रुचिकर न होंगे, किंतु अठारहवीं सदी के पाठकों का उन से यथेष्ट चित्तरंजन हुआ। इन निबंधों में चारित्रिक समस्याओं का विवरण रहता था; किंतु उनके नीरस होने का कारण उनका चारित्रिक समस्याओं के साथ होने वाला यह संबंध नहीं, अपि तु चारित्रिक समस्याओं को व्याख्या करने का उनका अपना प्रकारविशेष था। जैसे अतीत में, वैसे ही वर्तमान में भी, विचारशील व्यक्तियों के जीवन का केंद्र चरित्र रहा है; और निबंध में भी चारित्रिक समस्याओं का विश्लेषण कोई अवांछनीय बात नहीं है। किंतु जिस प्रकार साहित्य की अन्य विधाओं में उसी प्रकार निबंध में भी इन समस्याओं पर प्रत्यक्ष तथा अवैयक्तिक रूप से प्रकाश नहीं डाला जाना चाहिए; क्योंकि जहाँ साहित्य की दूसरी विधाओं में व्यक्तित्व प्रतिफलन वांछनीय है, वहाँ निबंध की तो जान ही व्यक्तित्व प्रतिफलन में है।

रॉबर्ट लुई स्टीवंसन अपने समय का ख्यातनामा निबंधकार हो चुका है, किंतु आज उसकी लोकप्रियता अक्षुण्ण नहीं रही। उपन्यास लिखने में वह दूसरी कोटि का लेखक था, किंतु निबंध लिखने में उसकी कोटि निःसंदेह पहली थी। आजीवन उसे एक दारुण व्याधि से संग्राम करना पड़ा; किंतु बड़े ही आश्चर्य की बात है कि उस यातना से निरंतर सताए जाने पर भी उसकी

वृत्ति में चिड़चिड़ापन न आकर उसका व्यक्तित्व बहुत ही भव्य तथा मनोहारी संपन्न हुआ और यह अभिराम व्यक्तित्व ही उसके निबंधों में प्रतिपंक्ति और प्रतिपद फूटा पड़ता है। कहना न होगा कि स्टीवंसन ने भी जगह जगह मानवीय चरित्र पर प्रकाश डाला है, किंतु उसका चरित्रप्रकाशन सत्रहवीं सदी के निबंधकारों के चरित्र प्रकाशन से सुतरां भिन्न प्रकार का है; उसमें चरित्र का परंपरागत नीरस प्रदर्शन नहीं है। इसमें हमें चारों ओर से छँटे, नपे-तुले, दक्ष, उत्साहसंपन्न तथा भावनामय व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।

गोल्डस्मिथ तथा हैज़लिट के पश्चात् अंग्रेजी निबंधलेखकों में चार्ल्स लैंब का नाम आता है, जिनके विषय में दो-एक शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। लैंब रचित ओल्ड चाइना की हैज़लिट के माइ फर्स्ट एक्वेंटेंस विद पोयट्स के साथ तुलना करने पर कहा जा सकता है कि दोनों कलाकार पूरी सफलता के साथ सजीव मूर्तियों का निर्माण करते और दोनों ही अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अतीत को वर्तमान के साथ मिलाकर एक कर देते हैं। किंतु जहाँ लैंब सुखभरित भावना से प्रेरित होकर लिखता है, वहाँ हैज़लिट आँख खुलने पर पैदा हुए झुरमुट में कलम चलाता है। अपने निबंधों में लैंब नाटकीय प्रकार से काम लेता है तो हैज़लिट वर्णन के द्वारा सफलता लाभ करता है; किंतु रचना दोनों ही की समानरूप से फलगर्भ बन आई है। यह सब कुछ कह चुकने पर भी मानना पड़ेगा कि **निबंधलेखन**

की कला में लैंब परिपूर्णता का दूसरा नाम है। यह परिपूर्णता किसी अंश तक उसके अद्वितीय स्वभाव से, किसी सीमा तक उसके अद्वितीय पठनपाठन तथा अनुशीलन से, और किसी हद तक निबंधकला पर प्राप्त किए उसके पूर्णाधिपत्य से विकसित हुई थी। उसकी सफलता का प्रमुख गुण उसकी प्रत्यक्षता तथा प्रकटता है। वह जिस जगत् को रचता है, उससे वह भली-भाँति परिचित है; वह जगत् उसका कई बार का देखा-भाला है। उसकी रचनाओं में उसके मित्र तथा सहचारी गरदन उठाए खड़े हैं; उसका अशेष जीवन ही सवाक् होकर हमारे संमुख आया दीख पड़ता है। उसके द्वारा संकेतित की गई उसके व्यक्तित्व की रूपरेखा इतनी मनोज्ञ संपन्न हुई है कि उसमें उसके वे भाग भी झलक आए हैं, जिन्हें वह हमसे छिपाना चाहता है। उस रूप रेखा के द्वारा हम उसे ऐसा पहचान गए हैं, जैसा कि संभवतः अपने आपे को वह अपने आप भी न जान पाया हो। हैमलिट की नाईं वह अपने विषय में प्रत्यक्षरूप से कुछ नहीं कहता; हम नहीं जानते कि अपने विषय में उसके क्या विचार थे; बस इसी बात में उसकी अनुपम विशेषता है।

संसार के निबंधकारों में इने-गिने ही ऐसे होंगे जिनके द्वारा उद्भावित किए गए व्यक्तित्व की लैंब के व्यक्तित्व के साथ तुलना की जा सके। इनमें से कतिपय निबंधलेखक अपनी रचनाओं में प्रकारवाद को खड़ा करते हैं, जिसके द्वारा हम उन्हें एकदम पहचान लेते हैं; कुछ—जैसे मैकाले, पैटर, तथा जी. के. चैस्टर्टन—

की मनोभंगी एक विचित्र ही प्रकार की होती है, जो, जिसे भी वह छू जाती है उसी पर अपनी मुद्रा लगा देती है; किंतु इन बातों में तथा विशुद्ध निबंधकार की विधानमय अहंभावना (egotism) में बहुत अंतर है। आधुनिक निबंधकारों में यदि कोई व्यक्ति लैंब की कोटि को छू सका है तो वह है बीरबोह्म। निःसंदेह इसके निबंधों में लैंब की रचनाओं का विस्तार और विविधता नहीं आ पाई; उसकी रचनाओं में लैंब का व्यापक अनुशीलन भी नहीं दीख पड़ता; वह उसकी वासनाभरित नाडी से और उसकी सहज मानवीयता से भी वंचित है। किंतु यह सब कुछ न होने पर भी वह है गतसंग, चरम कोटि का सरल, अपने हास्य तथा उपहास में वक्र और गंभीर। उसकी रचनाओं में उभरी हुई एकता विविध भावों की एक व्यक्तित्व में अनुपतित होने वाली एकता नहीं है; वह तो अशेष व्यक्तित्व का एक भाव में उन्मुख होने वाला अनुपात है। उसकी वाणी के नाद में परिवर्तन नहीं आता; उसकी वाणी एक है और इसमें एक प्रकार की चमक और विविक्तता है।

अंग्रेजी निबंधलेखकों का दिग्दर्शन यहाँ इस लिए कराया गया है कि हिंदी में निबंधलेखन की प्रथा अपने वर्तमान रूप में अंग्रेजी साहित्य से आई है; और हमारी भाषा में वह आज भी अपनी शैशवावस्था में लड़खड़ा रही है। अंग्रेजी की भाँति निबंध की विविध शैलियों का विकास धीरे धीरे हिंदी में भी हो रहा है। भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके समसामयिक निबंधकार इस

कला की विशेषता से अपरिचित थे। उनके निबंधों का आरंभ ऐसे वाक्यविन्यासों से होता था, जिनका निबंध के साथ प्रत्यक्ष संबंध न होता था। निरर्थक भूमिका बाँधने की परिपाटी सब को प्यारी थी; रूढ़िगत धार्मिकता और भावुकता की सब पर धाक थी। निबंधों के क्षेत्र में सब से पहले सबल लेखक पंडित प्रतापनारायण मिश्र हुए, जिनमें स्वगत भावों को स्पष्ट और स्वाभाविक रूप से कहने की क्षमता पर्याप्त मात्रा में दीख पड़ी।

निबंध की गंभीर शैली को अपनाने वाले लेखकों में पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, पंडित रामचंद्र शुक्ल तथा बाबू श्यामसुंदरदास स्मरणीय हैं। पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित अंबिकादत्त व्यास तथा पंडित माधवप्रसाद मिश्र के निबंध या तो भाषा के अलंकरणभार में दब गए हैं, अथवा साधारण कोटि की भावुकता और धार्मिकता का द्योतन करते हैं। उच्च कोटि के भावनासंवलित निबंध लिखने वालों में श्रीयुत पूर्णसिंह तथा गुलाबराय जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

गद्यकाव्य—जीवनचरित

मोन्तेन्ञ ने कहा है कि :—

मैं उन लेखकों की रचनाओं को अधिक रुचि से पढ़ता हूँ जो जीवनचरित लिखते हैं; क्योंकि, सामान्यतया मनुष्य, जिसके पहचानने के लिए मैं सदा प्रयत्नशील रहा हूँ, साहित्य की अन्य सभी विधाओं की अपेक्षा जीवनचरित में कहीं अधिक विशद तथा परिपूर्ण होकर प्रकट होता है; साथ ही उसकी आंतरिक गुणावलियों की यथार्थता तथा बहुविधता, उन उपायों की, जिनके द्वारा वह संश्लिष्ट तथा सुसंबद्ध रहता है, और उन घटनाओं की, जो उस पर घटती हैं, बहुविधता मुझे जैसी जीवनचरित की परिधि में संपन्न होती दीखती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं।

किंतु आधुनिक युग के पाठकों को मोन्तेन्ञ की समकालिक जीवनियों में वे बातें बहुत ही न्यून मात्रा में प्राप्त होंगी, जिनकी दृष्टि से उसने उनकी प्रशंसा की है और जिनकी प्राप्ति के लिए उसने उनका अनुशीलन वांछनीय बताया है। हो न हो, इनमें से बहुत सी बातों का उद्भावन—और स्मरण रहे, इनमें से बहुत सी बातें उस समय की जीवनियों में नहीं मिलती थीं—जीवनियाँ पढ़ते समय मोन्तेन्ञ को अपने मन से करना पड़ता था; क्योंकि हम जानते हैं कि

उसके समय में जीवनचरित (Biography) **यह परिभाषा ही न बन पाई थी।** सबसे पहले इसका प्रयोग १६८३ में हुआ, जब ड्राइडन ने प्लूटार्क की रचनाओं के वर्णन के लिए इसका आविष्कार किया। चरितलेखकों को मोन्तेन्ञ **ऐतिहासिक** कहकर पुकारता है; उसके समय में **जीवनचरित** साहित्य की यह विधा स्वतंत्र होकर अपने पैरों न खड़ी हो पाई थी। मनुष्य के आंतरिक गुणों की विविधता का वर्णन और उसको संश्लिष्ट करने वाले उपायों की बहुविधता का संप्रदर्शन उसके समय में ऐतिहासिक शृंखला की एक कड़ी थी; इसका निदर्शन ऐतिहासिक तथ्य का संप्रदर्शन करने में एक साधनमात्र था।

और सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि नवजनन (Renaissance) के युग में—जिसके उदय होने पर यूरोप में साहित्य तथा अन्य कलाओं का एक बहुमुखी स्रोत बह निकला था—मनुष्य का ध्यान अपना चरित लिखने पर न गया। उन दिनों के इंगलैंड में साहित्यिकों का ध्यान कविता तथा नाटकों पर केंद्रित हुआ; और यद्यपि उस काल में कतिपय जीवनियाँ भी प्रकाशित हुईं—जिनमें जॉर्ज कैवेंडिश रचित कार्डिनल वूल्ज़्ले की जीवनी अच्छी बन पड़ी—साहित्य की यह विधा जनता को अपनी ओर न खींच सकी। सत्रहवीं सदी में जीवनियों ने विशेष उन्नति नहीं की, यद्यपि जॉन औब्रे द्वारा महान् पुरुषों के विषय में एकत्र की गई कथाकहानियों ने इसके विकास में अच्छा काम किया। किंतु सत्रहवीं सदी के अंतिम भाग में जॉहन बनियन ने

ग्रेस श्रबाउंडिंग टु दि चीफ ऑफ सिनर्स लिखकर साहित्य की इस विधा को पहले से कहीं अधिक आगे बढ़ाया।

अठारहवीं सदी में जीवनियों को यथेष्ट प्रगति मिली। शीघ्रता के साथ बढ़ने वाले पठितवर्ग का, एलीभावीथन युग में दीख पड़ने वाली जीवन की तड़क-भड़क के साथ प्रेम न था; फलतः उस समाज के लिए लिखे गए साहित्य में उस तड़क-भड़क के चित्र भी नहीं खड़े किए जाते थे। शनैः शनैः नेताओं का ध्यान सामान्य जनता की ओर केंद्रित हो रहा था; उन्हीं की भलाई और बुराई का वर्णन करने वाले निबंध और उपन्यासों में उनकी रुचि बढ़ रही थी। जिस दृष्टि से प्रेरित हो उस समय के समाज ने जीवित मानव से प्रेम करना सीखा था, उसी दृष्टि ने उसे मृत मानव का चरित्र चित्रण करने की ओर प्रेरित किया, जिसका फल यह हुआ कि राजर नॉर्थ ने १७४०–४४ के मध्य अपने तीन भाइयों की जीवनी लाइव्ज ऑफ नार्थ्स, जॉहंसन ने १७४४ में लाइफ ऑफ सेवेज, और १७७४ में मेसन ने लाइफ एंड लेटर्स ऑफ ग्रे जैसी रुचिर जीवनियाँ जनता के संमुख रखीं।

जब पहले-पहल मोन्तेन्ज ने मनुष्य के चरित में अपनी रुचि प्रकट की थी, उसके कथन से प्रतीत होता था कि उसकी रुचि का प्रधान विषय उन जीवनियों का कथनीय विषय है, और यह बात सचमुच है भी ठीक; क्योंकि जीवनियों का—जैसा मोन्तेन्ज के समय में, वैसा ही आज भी—प्रमुख ध्येय मनुष्य की आत्मविषयक उत्कंठा को पूरा करना है। और इस उद्देश्य

से किसी भी जीवनी का चरम सार इस बात में है कि उसका विषय एक ऐसा जीवन है जो सारवान् है और जिसे जनता के संमुख रखने में विश्व का कल्याण होना संभव है। यदि एक चरितलेखक का कथनीय विषय ऐसा न हुआ तो उसकी रचना निर्जीव रह जायगी; क्योंकि अपनी रचना को फलगर्भ बनाने के लिए उसे किसी प्रकार भी अपने कथनीय विषय से बाहर जाने का अधिकार नहीं है। एक उपन्यासकार को यह अधिकार है कि वह किसी सामान्य व्यक्ति को अपनी रचना का नायक बना कर उसे रुचिकर बनाने के लिए अपनी इच्छा के अनुसार तदनुकूल सामग्री तथा वातावरण जुटा ले। किंतु एक चरितलेखक साहित्य के क्षेत्र में उपलब्ध होने वाली इस स्वतंत्रता से सुतरां वंचित है। उसे तो अपने नायक की कथा कहनी है; उस कथा में अमूल तथा अनपेक्षित तत्त्वों को संमिलित करने का उसे अधिकार नहीं है। **फलतः चरित की कथनीय वस्तु के लिए आवश्यक है कि वह सचमुच कथनीय हो; वह यथार्थ में सामान्यवर्ग से अनूठी हो।**

चरित की अर्थसामग्री के विषय में इतना कह चुकने पर आगे बात रह जाती है उसके कहने के प्रकार की, उसकी शैली, और कला की दृष्टि से उसकी रमणीयता की। हेरल्ड निकल्सन के अनुसार जीवनी लिखने के लिए एक विशेष प्रकार के बुद्धि-कौशल की अपेक्षा है; और संसार में ऐसी कोई भी जीवनी नहीं है, जिसकी रचना किसी अनूठी प्रतिभा ने की हो। किसा

अंश में यह कथन सत्य है; क्योंकि एक चरितलेखक को अपना नायक घड़ने की आवश्यकता नहीं है; उसका साँचा तो पहले ही से प्रस्तुत है; उसे तो अपने नायक के विषय में प्राप्त होने वाले लिखित तथा अलिखित तथ्यों को अपने सांचे में केवल ढाल देना है। इस काम के लिए उसे एक उपन्यासकार अथवा नाट्यकार की सफलता के मूलाधार तत्त्व, अर्थात् विधायिनी प्रतिभा की विशेष अपेक्षा नहीं है। और सचमुच कोई भी व्यक्ति, जिसे जीवन से यथार्थ प्रेम है, जीवन की उस वृत्ति को पसंद नहीं करेगा, जो वर्तमान काल में उसने धारण कर रखी है, जिसमें नायक की घटनावलि के विषय में सत्य और असत्य का विवेक नहीं रहा और जिसमें हमारे लिए इस बात का निर्णय करना कठिन हो गया है कि नायक के चरित में आने वाली बातों में से कौन सी उसने स्वयं कहीं अथवा की हैं और कौन सी जीवनी के लेखक ने अपने मस्तिष्क से उस पर आरोपित की हैं। और यदि चरितलेखक का प्रमुख लक्ष्य अपने नायक के विषय में सत्य बातों का समाहार करना है तो उसके लिए संचित सामग्री में से अपेक्षणीय तथ्यों का संश्लेषण, विश्लेषण, निर्वाचन तथा संस्थापन करना ही प्रधान कर्तव्य रह जाता है'। किंतु यह सब कुछ होने पर भी कार्लाइल के अनुसार एक सफल चरित का लिखना इतना ही कठिन है, जितना एक सफल जीवनी का अपने जीवन में निबाह ले जाना। इतना ही नहीं, हमारी समझ में तो यह काम उससे भी कहीं अधिक कठिन

है; क्योंकि जॉहंसन रचित लाइफ ऑफ सेवेज के पश्चात् दो सौ बरस के अंतर में हमें सफल जीवन तो अनेक मिलते हैं, किंतु सफल जीवन के विषय में लिखी गई सफल जीवनियाँ अंगुलियों पर गिनी जाने योग्य ही बन पाई हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि वे कौन से उपकरण हैं, जिनके समवेत होने पर जीवनी अपना प्रसन्न रूप धारण करती है; इसके उत्तर में हम कहेंगे कि **चरितलेखक के लिए सब से अधिक आवश्यक उपकरण है समुचित संक्षेप—अर्थात् किसी भी अनावश्यक बात को अपनी रचना में न आने देना और किसी भी अपेक्षित तथ्य को आँख से न बचने देना। इसके साथ ही दूसरा उपकरण है समस्त रचना में अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखना।**

जीवनी में किसी भी अनपेक्षित तथ्य को न आने देने और किसी भी अपेक्षित तथ्य को न छोड़ने का सार है **उसमें एकता की रक्षा करना**, अर्थात् नायक की जीवनी के अंगों को उसकी जीवनसमष्टि के साथ समीचीन रूप से बैठाना। इसी बात को दूसरे शब्दों में हम यों व्यक्त कर सकते हैं कि जीवनचरित्र की प्रतिपंक्ति में उसका नायक खड़ा हुआ चमकता रहना चाहिए; उसमें उसका व्यक्तित्व दीपक की भाँति सतत प्रकाशवान् बना रहना चाहिए। कहना न होगा कि इस काम के लिए कलाकार को अत्यंत ही प्रवीण तथा प्रौढ बनना पड़ता है; उसे अपने विषय का पारदर्शी होना होता है। सभी जानते हैं कि हम में से तुच्छा-

तितुच्छ व्यक्ति की सत्ता भी बहुमुखी संकुलता (complexities) से संकीर्ण है; हममें से प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण जीवन की नानामुखी धाराओं में बहता रहता है। एक सफल चरित के लिए आवश्यक है कि वह अपने विषय के यथार्थ तथा अशेष रूप को दृष्टि में रखता हुआ उसकी सामान्यतम रेखाओं पर भी ऐसा प्रकाश डाले कि उनमें से हर एक रेखा, फड़कती हुई, चित्र की परिपूर्णता में सहायक बनकर, उसके अशेष रूप को एक तथा अखंड बनाकर पाठकों के संमुख प्रस्तुत करने में सहकारिणी बने। उसकी रचना में नायक के जीवन की प्रत्येक घटना, उसके विषय का प्रत्येक प्रमाण, उसकी बौद्धिक, हार्दिक तथा व्यावहारिक सभी प्रकार की अनुभूतियाँ--जो उसने अपने जीवन में एकत्र की हैं--उसका प्रत्येक भाव तथा व्यापार, प्रत्येक विचार तथा (मनुष्यों के साथ होने वाला प्रत्येक) संसर्ग--जिसका कि लेखक को ज्ञान है--सभी का अपने अपने महत्त्व के अनुसार उसकी जीवनसमष्टि में जटित होना अपेक्षित है। समय तथा स्थान, अवस्था तथा वातावरण, इस रचना में सभी का उभरे रहना आवश्यक है; और जिस प्रकार ये, उसी प्रकार सभी प्रकार के बौद्धिक विचारों तथा सहकारी व्यक्तियों का सिर उठाए खड़े रहना वांछनीय है। किसी न किसी प्रकार भाँति-भाँति की अनुभूतियों का उनके उपादानसहित संप्रदर्शन किया जाना अपेक्षित है। साथ ही इस बात को कौन नहीं जानता कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति एक ही समय में नानामुख और नानाधी बना रहता है; एक

व्यक्ति होता हुआ भी वह अनेक पात्रों में परिवर्तित होता रहता है। एक में समवेत होने वाले इन सब नानामुख पात्रों का निदर्शन होना आवश्यक है; और यह सब कुछ औचित्य तथा समंजसता के साथ; अपने अपने महत्त्वके अनुसार। संक्षेप में **एक चरित-लेखक को बहुविधता के संकुल में से एकता को जन्म देना होता है; व्यस्तता में से विन्यास का उद्घाटन करना होता है; स्वतंत्र लयों और तालों के संकर में से स्वरैक्य का उत्थापन करना होता है।**

जीवनी में किसी अनपेक्षित तथ्य के न आने देने और किसी भी अपेक्षित तथ्य के न छुटने देने में संघटन की वह सारी ही प्रक्रिया आ जाती है, जिसके द्वारा विकीर्ण सामग्री के संघ में से एक परिपूर्ण व्यक्ति की एकता तथा सजीवता का उद्भावन किया जाता है; इसे हस्तगत करना चरित्रलेखक का प्रथम कर्तव्य है। चरित्रलेखक की **दूसरी आवश्यकता है अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखना**। स्ट्रेची के अनुसार इसका आशय है; उसे अपने नायक का अंधा पुजारी न बन कर उसके विषय में ज्ञात हुए सभी तथ्यों को पाठकों के संमुख रखना।

आज हम स्ट्रेची के उक्त कथन के महत्त्व को सहज ही भूल जाते हैं; क्योंकि इस विषय में चरितलेखकों की सामान्य मनो-वृत्ति, १९१८ में, जब कि उसने अपने एमिनेंट विक्टोरियंस के उपोद्घात में उक्त शब्द लिखे थे, आज की मनोवृत्ति से भिन्न प्रकार की थी। उन दिनों के जीवनचरितों में सत्य का अंश

बहुत कुछ लुप्त हो चुका था और लेखक अपने नायक की जीवनी को ऐसे रूप में लेखबद्ध करते थे, जैसा कि उन्हें और उनके पाठकों को भाता था।

किंतु जीवनचरित के विषय में स्ट्रेची द्वारा स्थापित किए गए सिद्धांत में एक बात है, जिसे हमने अब तक बिना टिप्पणी के छोड़ रखा है और वह है **अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखना; जीवनविषयक तथ्यों को प्रदर्शित करना, किंतु उन्हें इस प्रकार प्रदर्शित करना जैसा कि लेखक ने उन्हें समझा है।** सब जानते हैं कि साहित्य की इतर विधाओं की भाँति चरित में भी कथनीय विषय और कथन करने वाले रचयिता के मध्य एक प्रकार की सहकारिता होती है; जिस का परिणाम यह होता है कि कला, रचयिता के व्यक्तित्व में रंगी जाती है। और इस दृष्टि से देखने पर हम जीवनियों के दो विभाग कर सकते हैं; एक वह जिस का आविष्कार मेसन ने किया था और जो आगे चलकर बोसवैल में परा कोटि को प्राप्त हुई। वर्तमानयुग में इस श्रेणी का निदर्शन आमी लोवेल रचित कीट्स की जीवनी और डी. ए. विल्सन द्वारा रची गई कार्लाइल की जीवनी हैं। जीवनियों की दूसरी सरणि वह है, जिस का सूत्रपात स्वयं जॉहंसन ने किया था और जिस का भव्य निदर्शन लिटन स्ट्रेची की रचनाएँ हैं। ध्येय दोनों का समान रूप से नायक के व्यक्तित्व को सजीव बनाना है। दोनों ही उसके विषय में ज्ञात हुई सामग्री का समुचित उपयोग करती हैं; किंतु उस सामग्री का उपयोग करने के

प्रकार दोनों के अपने अपने भिन्न भिन्न हैं। **पहले प्रकार की अपने विषय की ओर पहुँच अवैयक्तिक है, और दूसरे की वैयक्तिक**। बोसवैल ने बड़ी धीरता के साथ उस सभी सामग्री का संचय किया था जो उसे अपने नायक के विषय में उपलब्ध हो सकी थी; उसके आधार पर उसने अपने नायक का ऐसा सर्वांगपूर्ण प्रतिमान खड़ा किया, जिसे वह प्रतिक्षण अपने मन और हृदय में धारण किए रहता था। बस यहीं पर उसने अपने व्यक्तित्व की इति कर दी है। उसने अपने प्रतिमान को पाठकों के संमुख प्रस्तुत करते हुए उनके सामने वह दृष्टिकोण नहीं रखा, जिसके द्वारा वह उसे देखता था; उसने अपनी अर्थसामग्री में अपने व्यक्तित्व की पुट भी नहीं दी। जीवनी को सूत्रबद्ध करते समय बोसवैल का ध्यान अपने व्यक्तित्व पर था ही नहीं; उसने जानबूझ कर अपने व्यक्तित्व को जॉहंसन की जीवनी में नहीं संनिहित होने दिया। उसके पास एक प्रच्छद पट था, जिसे खोल कर उसने जनता के संमुख रख दिया; यह जनता पर निर्भर है कि वह उस पट को किस दृष्टिकोण से देखती है। इसका यह आशय नहीं कि लाइफ ऑफ सैमुअल जॉहंसन में बोसवैल का व्यक्तित्व है ही नहीं; वह है, किंतु है अनजाने में, अपने आप; इतना, जितना कि एक कलाकार का उस की कला में होना सर्वथा अनिवार्य है। उसने निष्पक्ष हो अपने नायक की भली-बुरी सभी बातें पाठकों के संमुख रख दी हैं। बोसवैल ने अपनी रचना के उपोद्घात में लिखा है कि वह

अपनी रचना में अपने नायक को इतने परिपूर्ण तथा सर्वांगीण रूप में दिखाएगा, जितने में आज तक कोई भी व्यक्ति नहीं दीख पाया—और उसने अपने इस दावे को शतशः पूरा करके दिखा भी दिया है। क्यों कि आज तक बोसवैल की रचना के काँटे पर संसार की दूसरी जीवनी नहीं उतर पाई। उसने अपनी प्रतिभा के द्वारा चरितरचना के उस प्रकार का आविष्कार किया, जो आगे चल कर इस कोटि की रचनाओं के लिए आदर्शरूप संपन्न हुआ। क्योंकि जॉहंसन की सत्ता जनता के मन में एक महान् लेखक अथवा तत्त्वज्ञ के रूप में नहीं थी; उसे लोग किसी जातीय कला के उत्थापक के रूप में भी नहीं देखते थे; उनकी दृष्टि में वह एक महान् पुरुष था, एक मूर्त सत्ता थी, जिसे वे लोग सुनते थे और देखते थे, जो उनकी दृष्टि को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था; और ठीक एक महान् पुरुष के रूप में ही वह बोसवैल पृष्ठों में संनद्ध हुआ खड़ा है और सदा खड़ा रहेगा। बोसवैल ने उसकी यथार्थता को अपनी रचना में संपुटित कर दिया है; अपनी प्रतिभा द्वारा उस व्यक्ति को निर्जीव मुद्रण में कील दिया है, जो विल्कीस के साथ भोजन करता था, जो सोते बच्चों के हाथों में पैसे पकड़ाता था, जो संतरे के छिलकों को एकत्र करता था, जो मृत्यु के नाम से कांप जाता था, जो अपनी गोद में बैठ कर उसे चूमने वाली महिला से कहता था, "एक बार मुझे फिर चूमो, चूमते चले जाओ, देखें तुम पहले थकती हो या मैं।"

किंतु जीवनचरित की बोसवैलद्वारा स्थापित की गई सरणि

सब विषयों में समानरूप से सफल नहीं हो सकती। हम कह सकते हैं कि इसकी सफलता का प्रमुख कारण यह है कि यह जीवनी जॉहंसन के विषय में लिखी गई है, जब कि जॉहंसन रचित लाइफ ऑफ सेवेज की सफलता का प्रधान कारण यह है कि वह जॉहंसन द्वारा लिखी गई है। पहली में उसका कथनीय विषय महान् है, जो, चाहे जिस प्रकार कहा जाय, फब जाता है; दूसरी में विषय का कहने वाला महान् है, जो, चाहे जिस प्रकार के विषय पर हाथ डाले, उस पर अपने महत्त्व की मुद्रा अंकित कर देता है। बोसवैल के समान जॉहंसन ने भी अपनी कथनीय वस्तु के विषय में यथासंभव सभी कुछ एकत्र किया था; किंतु उसने उसे पाठकों के संमुख उस रूप में रखा, जिस रूप में वह उसे समझता था, देखता था; उसने उसे अपने व्यक्तित्व के रंग में रंग कर जनता के सामने प्रस्तुत किया; उसके ऊपर मनचाहे मूल्य की तख़्ती लगा कर दर्शकों को दिखाया। इसी का परिणाम है कि उसके रचे लाइफ ऑफ सेवेज में हम प्रतिपद जॉहंसन की अपनी जीवनी को पढ़ सकते हैं, उसके प्रति संदर्भ में हमें सेवेज के पीछे स्वयं जॉहंसन खड़े हुए दीख पड़ते हैं।

लिटन स्ट्रेची ने अपनी रचना में इसी सरणि को अपनाया है, जिसकी अनुकृति हमें आंद्रे मोर्वा तथा हेरल्ड निकल्सन की रचनाओं में दीख पड़ती है। अपनी रचना में यथासंभव अपने कथनीय विषय से विश्लिष्ट रहने का प्रयत्न करने पर भी स्ट्रेची अपने हृदय में चरित्र का व्याख्याता है; और उसने अपने

सभी पात्रों को उसी दृष्टिकोण से पाठकों के संमुख रखा है। जब तक पाठक उसके साहचर्य में रहता है उसके संमुख वही एक दृष्टिकोण तना खड़ा रहता है; उसे स्ट्रेची के पात्रों को उसी एक दृष्टिकोण से देखना पड़ता है।

इसमें संशय नहीं कि जीवनी की इस सरणि ने स्ट्रेची की सफलता को किसी सीमा तक संकुचित कर दिया है; किंतु जहां इसके द्वारा उसकी व्यापकता में प्रतिबंध आया है, वहां साथ ही उसकी संकुचित सफलता में तीव्रता तथा गंभीरता भी भर गई है। क्योंकि व्यक्ति के सभी विवेचनों में तद्विषयक तथ्यों का एक पटलविशेष होता है, प्रतिमूर्ति खिंचाने के लिए बैठने वाले का एक आसनविशेष होता है, जिसमें उसकी अशेष वास्तविकता केंद्रित होकर संपुटित हो जाती है। यदि चरित-लेखक ने किसी प्रकार अपने नायक के इस आसन को पकड़ लिया, यदि उसने उसकी इस परिछिन्न मुद्रा को हस्तगत कर लिया तो समझो उसके द्वारा उतारा गया नायक का चित्र अत्यंत ही भव्य तथा मनोज्ञ संपन्न होगा; बस स्ट्रेची की रचना में हमें यही बात निष्पन्न हुई दीख पड़ती है।

कहना न होगा कि जीवनी की उक्त सरणि भी दोषों से सर्वथा स्वतंत्र नहीं है और सभी जीवनियों पर समान रूप से सफलता के साथ इसका उपयोग भी नहीं किया जा सकता। हमने ऊपर कहा था कि एक ही व्यक्ति के एक ही समय में अनेक रूप हुआ करते हैं; एक ही समय में उसके अनेक मत तथा दृष्टि-

कोण रहा करते हैं। उन सब मतों तथा दृष्टिकोणों को एक ही दृष्टि में देख लेना और उन में से उस एक दृष्टिकोण को छांट लेना, जिसमें उस व्यक्ति का अशेष व्यक्तित्व प्रतिफलित तथा कीलित हुआ है, शेक्सपीअर जैसी विश्वमुखीन प्रतिभाओं ही का काम है; और संभव है जिन पात्रों को स्ट्रेची ने अपने द्वारा उद्भावित किए दृष्टिकोणविशेष में प्रतिबद्ध किया है, वह उनका सच्चा तथा स्थायी दृष्टिकोण न हो और इस प्रकार स्ट्रेची ने उनके यथार्थ आत्मा को किसी और ही रूप में हमारे संमुख रख दिया हो। उत्कृष्ट जीवन के लिखने में इस प्रकार की अनेक कठिनाइयां लेखक के संमुख आया करती हैं; इन सब से बचना और प्रभावशालिता के साथ यथार्थ रूप में अपने नायक की जीवनी को पाठक के संमुख रखना, इसी बात में इस कला की इतिकर्तव्यता है।

कुछ भी हो, स्ट्रेची की सरणि ने साहित्य की इस श्रेणी में स्वतंत्रता का संचार करते हुए इसे प्रशंसा करने का साधन न रहने देकर नायक की यथार्थ आत्मा का उपासक बनाया। एमिनेंट विक्टोरियंस के प्रकाशन से ११ वर्ष पहले फादर एंड सन नाम की रचना निकली, जिसके ऊपर उसके लेखक का नाम नहीं था, किंतु जिसे लोग एडमंड गोस्स की रचना बताते थे। जीवनचरित के सामान्य अर्थ में फादर एंड सन एक जीवनी नहीं थी। इसके द्वारा साहित्य की एक नवीन ही विधा का सूत्रपात हुआ था। अपने तथा अपने पिता के रूप में गोस्स को मरते हुए पवित्रतावाद और उदीयमान होने वाले तर्कवाद के

मध्य होने वाला संघर्ष दीख पड़ा था। किंतु भिन्न भिन्न विचारों वाले दो युगों के मध्य होने वाले संघर्ष के साथ साथ इस रचना में दो व्यक्तियों के मध्य होने वाला संघर्ष भी प्रतिफलित हुआ है। फादर एंड सन् का नाम लेते ही ग्रेस अबाउंडिंग के साथ इसकी तुलना फुर जाती है; क्योंकि फादर एंड सन में भी हम एक व्यक्ति को उसी प्रकार के ज्वलंत तथा मूर्त मत में विश्वास करता हुआ पाते हैं जैसा कि बनियन के मन में था। किंतु जहां बनियन रचित ग्रेस अबाउंडिंग में एक आत्मा का संघर्ष वर्णित है, वहां फादर एंड सन में दो आत्माओं का संघर्ष चित्रित किया गया है। इसका केंद्रीय विषय दो स्वभावों का पारस्परिक व्याघात है। बनियन ने अपनी रचना में आत्मा तथा परमात्मा का पारस्परिक सामंजस्य ढूंढा है तो गेस्स ने अपनी कृति में दो आत्माओं को परस्पर मिलाया है। फादर एंड सन को हम एक प्रकार की आत्मकथा कह सकते हैं।

दूसरों के द्वारा लिखे गए जीवनचरितों के साथ साथ कुछ लेखकों ने अपने जीवन अपने आप भी लिखे हैं। इनमें कला की दृष्टि से इनेगिने ही परिष्कृत बन पाए हैं। कारण इस कठिनाई का यह है कि आत्मवेदन कला का सब से प्रबल घातक है और आत्मकथा में आत्मवेदन ही की प्रधानता रहती है। जब कोई व्यक्ति अपनी कथा लिखने बैठता है, तब वह स्वभावतः बाह्य जगत् को भूल अपने आपे में समाहित हो जाता है और अपने आत्मा को दूसरों के संमुख गुणान्वित दिखाने और

अपनी रचना को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से बहुधा अपने आप को ऐसे रूप में वर्णित करता है जैसा वह वास्तव में होता नहीं है। इस प्रकार की कठिनाइयों के होते हुए भी रूसो ने अपने कंफेशंस में वर्णनीय सफलता प्राप्त की है। उसने अपनी जीवनी में मानवीय स्वभाव के सत्य का उद्‌घाटन किया है और उसका विश्वास है कि इस रचना के पढ़ने के उपरांत कोई भी पाठक अपने आपको उसके लेखक की अपेक्षा श्रेयान् नहीं कह सकता; और सचमुच यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि रूसो द्वारा दिए गए इस आत्मचित्र को देखकर भी लोग उसके इतने भक्त तथा प्रेमी कैसे बने और बनते रहे हैं। साहित्य की इस श्रेणी में सेंट आगस्टिन के कंफेशंस, बनियन की ग्रेस अबाउंडिंग, न्यूमैन की अपोलोजिया और बेंजामिन रोबर्ट हेडन की आत्मजीवनी ध्यान देने योग्य हैं। हाल ही में महात्मा गांधी तथा पंडित जवाहरलाल द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं ने इस क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

निबंध के समान जीवनचरित लिखने की प्रथा भी हिंदी में अंग्रेजी से आई है; इसीलिए हमने जीवनचरित के उपकरणों का विवरण करने के लिए ऊपर अंग्रेजी के चरितलेखकों का दिग्दर्शन कराया है। हिंदी में चरितलेखनकला अभी अपने शैशव में है। कहने को तो हिंदी में महान् पुरुषों के अनेक चरित्र प्रकाशित हुए हैं, किंतु कला की दृष्टि से हम उन्हें उत्कृष्ट साहित्य में नहीं गिन सकते। कल्याण मार्ग का पथिक जैसी रचनाएँ हिंदी में इनी गिनी हैं। महात्मा गांधी तथा पंडित जवाहरलाल की आत्म-कथाओं के हिंदी में अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

गद्यकाव्य — पत्र

पत्रों में लेखक का आत्मा प्रत्यक्षरूप में संपुटित होता है; इसी लिए उनकी अपील पाठक के मन में घर कर जाती है। पत्रलेखक का ध्यान कला की ओर नहीं जाता; वह लोकप्रियता के लिए भी अपने हृदय के उद्गारों को कागज पर नहीं रखता; अपनी रचना के लिए वह अनोखी भूमिका भी नहीं बाँधता। उसके हृदय में एक आवेग होता है; जब वह आवेग बाँध तोड़ कर बहने लगता है, तभी उसकी लेखनी कागज पर चलने लगती है। **इस निर्व्याजता, सरलता, तथा स्वाभाविकता में ही पत्र की महत्ता संनिहित है।**

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह एकांत से भागता और अपने साथियों की संगति में आनंदलाभ करता है। अपने साथियों के साथ स्थायी संसर्ग उत्पन्न करने के लिए उसने साहित्य की अनेक विधाओं का आविष्कार किया है। इन सभी विधाओं में उसे जीवन की समष्टि अथवा उसके किसी एक विस्तृत पटल पर ध्यानावस्थित होना पड़ता है। इसके विपरीत पत्र में उसका कोई एक पटल प्रकाशित होता है; उसके जीवन का कोई पक्षविशेष उद्दीपित होता है। जिस प्रकार बिजली बादल के एक देश को चमका कर उसमें घुस जाती है, इसी प्रकार पत्र

भी लेखक की वृत्ति के एक अंश को प्रदीपित कर बहुधा नष्ट हो जाता है; और कभी कभी, भाग्य हुआ तो, सुरक्षित भी बच जाता है।

अंग्रेजी में डोरोथी ओस्बोर्न के द्वारा अपने पति सर विलियम टेंपल को लिखे गए पत्र प्रसिद्ध हैं। इनमें जहाँ डोरोथी का आत्मा अपने साररूप में प्रवाहित हुआ है, वहाँ साथ ही टेंपल के स्वभाव का भी अत्यंत ही भावुक चित्रण संपन्न हुआ है। ये पत्र १६५२ से १६५४ तक लिखे गए थे।

चरित्र की दृष्टि से लोगों ने प्रेमपत्रों पर आक्षेप किए हैं। उन आक्षेपों के रहते हुए भी मनुष्य ने इस कोटि के पत्रों में जो रसास्वादन किया है वह अन्य प्रकार के साहित्य में दुष्प्राप्य है। इन पत्रों में मनुष्य की प्रेमवृत्ति एक धारा में समृद्ध होकर बहती है; उसका आत्मा प्रेमी से संश्लिष्ट हो उसके कान में प्रेमालाप करता है। **इस समृद्धि तथा विविक्तता में ही इन पत्रों की अमरता का स्रोत है।**

स्विफ्ट के द्वारा स्टेला को, और कीट्स द्वारा फैनी ब्राउन को लिखे गए प्रेमपत्रों में हमें प्रेम का वह विविक्त तथा परिपूत प्रवाह दीख पड़ता है जो साहित्य की अन्य किसी भी रचना में स्यात् ही मिल सके। जेन कार्लाईल के द्वारा अपने प्रेमी के प्रति लिखे गए पत्रों में उद्भूत हुए प्रेम में कहीं कहीं शारीरिकता का अंश आवश्यकता से अधिक व्यक्त हो गया है। इस प्रकरण में होरेस वेलपोल तथा जेन आस्टन के प्रेमपत्र भी स्मरणीय हैं।

और जहाँ हम पत्रसाहित्य में उनके लेखकों का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, वहाँ साथ ही हम उन्हें प्रतिदिन की छोटी से छोटी, किंतु प्रेमियों के लिए सब से अधिक महत्त्वशाली, बातों में संलग्न हुआ भी पाते हैं। यहाँ हम टेंपल को अपनी प्रेमिका डोरोथी के लिए पेयविशेष खरीदता हुआ देखते हैं, और स्विफ्ट को स्टेल्ला के लिए चोकोलेट भेजता हुआ पाते हैं। यहाँ हमें ये लोग एक दूसरे के लिए पैसा पैसा जोड़ते और खर्च करते दीख पड़ते हैं; हम यहाँ होरेस वेलवोल को स्ट्रावेरी हिल वाले मकान में फर्निचर जुटाता हुआ देखते हैं। यहाँ हमें ये लोग ठीक उसी वेषभूषा में दीख पड़ते हैं, जिस में ये रहते थे; उनकी सारी ही घरेलू बातें यहाँ हमारे सामने आ जाती हैं; यहाँ तक कि उनका सारा आपा ही हमारे सामने विवृत हो जाता है।

इसके साथ ही पत्रों के द्वारा हमें किसी सीमा तक अतीत का ज्ञान भी होता है। जिस बात को हम इतिहास के पृष्ठों में नीरसता के साथ पढ़ते हैं वही पत्रों की परिधि में आ सरस बन जाती है और हम अनायास ही इतिहास की कुक्षि में सरक जाते हैं। जहाँ हमें इन पत्रों में प्रेमी लोग हाथ में हाथ मिलाए खड़े दीख पड़ते हैं वहाँ साथ ही हमें इनसे उनके समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा व्यावहारिक परिस्थिति का भी किसी अंश तक बोध हो जाता है। इन पत्रों के द्वारा हमें अनजाने ही पता चलता है कि किस प्रकार जॉहन एवलिन जैसे सुसभ्य तथा सुसंस्कृत नागरिक भी यंत्रणा में फँसे हुए व्यक्तियों

को देखने जाते थे; किस प्रकार गिस्कार्ड के शरीर को निर्जीव बना कर उसे, दो पैसे की फीस रख कर, प्रेक्षकों को दिखाया जाता था। लंडन में लगने वाली आग हमारी आँखों के सामने फिर से नाचने लगती है, जब हम पेपीस में पढ़ते हैं कि वहाँ के कबूतरों ने अपने घोंसले तब तक नहीं छोड़े, जब तक कि उनके पंख अधजले नहीं हो गए। अठारहवीं सदी के लंडन का आयाम और व्यायाम एकदम हमारे सामने आ जाता है जब हम स्विफ्ट को स्टेला के प्रति यह लिखता हुआ पाते हैं कि आज उसने लंडन और चेल्सिया के बीच पड़ने वाले घास वाले खेतों की सैर की। इसी प्रकार उस समय के भोजन का परिमाण और उसकी व्यवस्था, उस समय के थियेटरों की दशा, उस समय के हाउस ऑफ कामंस तथा उसके सदस्यों की वृत्तियाँ, सभी बातें इन पत्रों को पढ़ कर हमारी आँखों के आगे आ खड़ी होती हैं।

जिस प्रकार पत्र लिखने वालों का, उसी प्रकार पत्रों का भी अंत नहीं है। पत्र लिखने की कोई विशेष कला भी नहीं है, क्योंकि भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न भिन्न प्रकार के पत्र लिखे हैं। किंतु सब प्रकार के पत्रों के अंतस्तल में एक कला काम करती है; और वह है यह, कि पत्र की परिधि में उसका लिखने वाला सचमुच पत्रमय हो जाता है; पत्र लिखते समय सारे संसार को त्याग वह अपने विविक्त व्यक्तित्व को अपने प्रेमी के संमुख रखता है; **बस उसकी कला का सार इसी बात में है।**

हिंदीजगत् में पत्रों के महत्त्व को अभी तक नहीं पहचाना

गया है; और नहीं पत्रों को साहित्य की किसी विधा में ही प्रविष्ट किया गया है। हमारे यहां पत्रों को सुरक्षित रखने की प्रथा भी नहीं चली है। हां, महात्मा गांधी द्वारा दक्षिण अफ्रीका से अपने कुटुंबीय जनों को लिखे गए पत्र प्रकाशित हो चुके हैं और साथ ही पंडित जवाहरलाल द्वारा अपनी पुत्री इंदिरा कुमारी को ऐतिहासिक परिज्ञान के लिए लिखे गए पत्र भी हिंदी में आ गए हैं।

वर्तमान जगत् और आलोचक

साहित्य की प्रत्येक रचना, इतिहास के युगविशेष में होने वाली परिस्थितिविशेष में जीने वाले व्यक्तिविशेष के आत्मीय अनुभवों का वागात्मक प्रकाशन है; फलतः इसमें रचयिता के व्यक्तित्व का प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। किंतु अब प्रश्न यह है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व पर उस समाज का, जिसमें कि वह जीता है, कहां तक प्रभाव पड़ता है; दूसरे शब्दों में हम पूछ सकते हैं कि साहित्य का उस युगविशेष के आत्मा के साथ और एक कलाकार का अपने समसामयिक जगत् के साथ क्या संबंध है।

इतिहास के प्रत्येक युग का आत्मा भिन्न होता है

इसमें संदेह नहीं कि इतिहास के प्रत्येक युग का आत्मा पृथक् ही होता है, जो उस युग में प्राणित होने वाली सामाजिक तथा बौद्धिक शक्तियों से उत्पन्न होता है। मान लीजिए, हम भारतीय इतिहास के वैदिक युग पर दृष्टिपात करते हैं; इस युग का नाम लेते ही नृम्ण भावों से विभूषित आर्य जाति इस देश को अभ्युदय की ओर अग्रसर करती हुई हमारी आंखों

में बस जाती है और हमें वे दिन याद आ जाते हैं जब प्रातः और संध्या काल के समय नदियों के तट वैदिक मंत्रों के गान से मुखरित हो उठते थे और दिन का शेष समय वीरता तथा साहस के कृत्यों में व्यतीत हुआ करता था। इसी प्रकार जब हम बौद्धयुग पर दृष्टिपात करते हैं तब धर्म कर्म में दीक्षित हुए बौद्ध भिक्षुक, संघों में विभक्त होकर देश विदेशों में बुद्ध भगवान् का संदेश सुनाने के लिए कटिबद्ध हुए हमारे सामने आ जाते हैं और हमें भारत का वह स्वरूप स्मरण हो आता है जब निःश्रेयस तथा निर्वाण लाभ के लिए लालायित हो इसने ऐहिक अभ्युदय की ओर से आंख मीच ली थी। इसी प्रकार जब हम इंगलैंड के विक्टोरियन युग को स्मरण करते हैं, तब हमारे मन में नाना प्रकार के नये प्रतिरूप और प्रत्यय भर जाते हैं और बड़े बड़े विशालकाय, लंबी दाढ़ी और भारी सिरों वाले मानव हमारे संमुख आ खड़े होते हैं, जिनमें से कुछ स्वांतः-सुख को देने वाली और कुछ उद्योग, उदात्तता और पवित्रता के भावों को व्यक्त करने वाली कविता रचते दीख पड़ते हैं; और कुछ की लेखनी राजनीतिविषयक गद्य में व्याप्त होती दीख पड़ती है। कतिपय मनस्वी उदात्त ध्येय, प्रौढ शिक्षण, गृह-निर्माण, निर्वाचनाधिकार तथा इसी प्रकार के अन्य सामाजिक सुधारों में रत हुए दीख पड़ते हैं और किन्हीं का मस्तिष्क विज्ञान के विश्लेषण में संलग्न हुआ दृष्टिगत होता है।

इसके विपरीत जब हम वर्तमान जगत् पर दृष्टि डालते हैं,

अतीत युगों के चित्र परिपूर्ण थे जब कि वर्तमान युग के चित्र अपूर्ण हैं

तब हमें आधुनिक युग का एक भी चित्र परिपूर्ण नहीं दीख पड़ता। वैदिक युग के ऋषि को ज्ञात था कि उसका जीवन एक है और उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी एक है। उसे उस बात का बोध था, जिसकी, कला के क्षेत्र में उसे आवश्यकता थी। इसी प्रकार जब हम इंगलैंड के विक्टोरियन युग में संपन्न हुए उपन्यास, कविता, नाटक, तथा सामाजिक इतिहास को पढ़ते हैं तब भी हमारे संमुख उस समय के इंगलैंड की सभ्यता तथा संस्कृति का एक ठोस तथा परिपूर्ण चित्र आ विराजता है। किंतु आधुनिक जगत् की सभ्यता को मूर्त रूप में पाठकों के संमुख रखने के लिए हमारे पास एक भी परिपूर्ण चित्र नहीं है।

सदा से ही मनुष्य अपने वर्तमान से असंतुष्ट रहता आया है

संसार के इतिहास में ऐसा काल कभी नहीं आया, जब कि समालोचकों ने अपनी समसामयिक सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना न की हो और जब कवियों ने अपने युग की निंदा करके अतीत में आनंद की उद्भावना न की हो। सन् १८०० में हम वर्ड्सवर्थ को तात्कालिक समाज में दीख पड़ने वाली बाह्यवृत्तिता की कटु आलोचना करता पाते हैं तो अपने यहां वैदिक काल में भी हम ऋग्वेद के संकलयिता ऋषियों को अपने से पुरातन ऋषियों का यशोगान करता देखते हैं। मनुष्य का कुछ स्वभाव ही ऐसा है कि वह

कभी भी वर्तमान से संतुष्ट नहीं होता और सदा अतीत को मंगलमय समझा करता है। उसकी सदा से यही परिदेवना रही है कि उसके काल में उन्नति बहुत धीमी है, यौवन बहुत अस्थायी है, प्रतिभा अत्यंत संकुचित है और आचार में बहुत उच्छृंखलता है।

वर्तमानयुग के विशेष गुण

इस प्रकार की परंपरागत परिदेवना पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देना वृथा है; किंतु इसमें संदेह नहीं कि आज हमारा युग विघटन (disintegration) का युग है। इसमें हमें किसी भी जगह किसी भी प्रकार का विधान अथवा संघटन नहीं दीख पड़ता। आज मनुष्य के ऊपर किसी भी प्रकार के कर्तव्यों का अभिनिवेश नहीं रहा। विज्ञान ने इसकी धार्मिक श्रद्धा को डुला दिया है; उसने उसे बता दिया है कि विश्व के प्रपंच में किसी भी दैवीय शक्ति का हाथ नहीं है। उसके जीवन में कोई संक्लृप्ति अथवा अनुसंधान नहीं है। राजनीतिकदृष्ट्या वह एक गतसंग व्यक्ति है; वह अपने आप को किसी भी ऐसी धार्मिक अथवा राजनीतिक श्रेणी का सदस्य नहीं समझता, जिस को कि उसके चहुँ ओर के व्यक्ति श्रद्धेय मानते हों। आज वह अपने आपको नीति तथा अर्थ की प्राचीन व्यवस्था के भग्नावशेषों पर खड़ा हुआ पाता है; और उन्नीसवीं सदी में सचेष्ट हुई सामाजिक सुधार की इच्छा से उसके मन में किसी भी प्रकार की गतिमत्ता नहीं संचरित होती।

सामाजिक क्षेत्र में भी आज आचारव्यवहार की चिरंतन नियमावलि टूट चुकी है। आज मनुष्य की दृष्टि में पाप कोई वस्तु नहीं रह गया है। मनुष्यरचनाशास्त्र ने उसे जता दिया है कि आचारशास्त्र का एकमात्र आधार रीतिरिवाज हैं; जीव-विद्या तथा मनोविज्ञान ने उसके ब्रह्मचर्यसंबंधी विचारों में परिवर्तन ला दिया है और आज उसे समाज के संघटन के पीछे एकमात्र स्वार्थ तथा अर्थलिप्सा के भाव काम करते दीख पड़ते हैं।

आज के आत्मिक जगत् में सब से अधिक खलने वाली वृत्ति यह है कि आगे या पीछे एक न एक दिन आत्मा को शरीर के संमुख झुक जाना है; जल्दी या देर में सभी आत्माओं को रुग्ण तथा भग्न शरीर द्वारा पराभूत होना है; आज या कल ऐसा समय अवश्य आना है, जब विचार नहीं होंगे; एकमात्र उत्साद, अनुताप, उच्छ्वसन और अंतिम निद्रा होगी। वर्तमान जगत् में आत्मा का कोई मूल्य ही नहीं रह गया है। वह एकतामयी उदात्त भावना, जिस के अनुसार प्रत्येक निर्माण में क्रम और एक प्रकार का संतुलन दीख पड़ता था, मनुष्य और विश्व एक दूसरे से संबद्ध और एक दूसरे के आश्रित दीख पड़ते थे, वह व्यापक **ऋत**, जिसमें हर वस्तु के लिए एक निश्चित स्थान था और जिस के वंशवद हो हर वस्तु अपने निश्चत ध्येय की ओर अग्रसर रहती थी, आज प्रभाववादियों द्वारा खींचा गया भग्नावशेषों की राशि का उखड़ा-पुखड़ा चित्र बन गया है; और

मनुष्य अपनी रक्षा तथा वस्तुजात के चरम निर्माण में अपना कोई निश्चित स्थान न देख सकने के कारण स्वर्गधाम से दूर जा पड़ा है। उसका चिरपरिचित जगत् उसके लिए अपरिचित सा बन गया है।

ऐसी अवस्था में इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है कि इन सब बातों का साहित्य के साथ क्या संबंध है; और निःसंदेह साहित्य का प्रत्यक्ष रूप से इन बातों से कोई संबंध है भी नहीं। कला की प्रत्येक रचना में एक तत्त्व ऐसा होता है जिस का मनुष्य के चिरसहचर मनोवेगों के अतिरिक्त और किसी बात से संबंध नहीं होता; और कविता तो विशेष रूप से देश काल की परिधि से बाहर रहती आई है। विश्व के महान् कलाकारों में एक ऐसी व्यापक शक्तिमत्ता होती है, जिस के द्वारा वे अपने चहुँओर के वातावरण में रह कर भी उससे ऊपर उभरे रहते हैं, और अपनी रचनाओं में उन्हीं तत्त्वों का संकलन करते है, जिन की प्रसूति उनकी निगूढ मनःस्थली से होती है। हमारे यहाँ वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास ऐसे ही कलाकार हुए हैं। इंगलैंड में शेक्सपीअर, मिल्टन और वर्ड्सवर्थ इसी कोटि के कलाकार थे।

विश्वप्रतिभाएँ देशकाल की परिधि से बाहर होती हैं

किंतु ज्यों ही हम इस बात को अंगीकार करते हैं कि विश्व-प्रतिभाएँ सामान्य वातावरण में रह कर भी उससे ऊपर रहती हैं, त्यों ही हम इस बात

देशकाल की परि-

को मान लेते हैं कि उन पर भी सामान्य वातावरण का प्रभाव पड़ा करता है और वे भी अपने समय की प्रभविष्णु वृत्ति से प्रभावित हुआ करती हैं। देश और काल के ये तत्त्व, अनजाने ही, उनके रचनातंतुओं में आ विराजते हैं और उनकी प्रतिभा को ऐसे राजपथों पर डाल देते हैं, जिन के दोनों ओर देश काल के नानाविध तत्त्वों की प्रदर्शिनी लगी रहती है। उनकी रचना में जीवन की परिपूर्णता ही तब आती है, जब वे शाश्वत में अपने समय के अशाश्वत को भी संमिलित कर दें। अपने यहाँ कालिदास की रचनाओं में यही बात दीख पड़ती है; और **शाश्वत तथा अशाश्वत के इस संविधान में ही विश्वजनीन कवियों की इतिकर्तव्यता है।**

धि से बाहर रहने पर भी विश्वप्रतिभाओं पर इनका प्रभाव पड़ता है

किंतु वर्तमान जगत् की परिस्थिति कुछ विपरीत सी हो रही है। आजकल की प्रभविष्णु वृत्ति सुतरां निषेधात्मक है, और हमें आधुनिक साहित्य में जो कुछ भी थोड़ा बहुत विधेयात्मक अंश मिलता है, वह एकमात्र शा, वेल्स और प्रेमचंद जैसे प्राचीन युग के पुजारियों की देन है। आधुनिक लेखकों में दीख पड़ने वाली प्रतिभा की न्यूनता का एक कारण यह भी है कि वे अपने चहुँओर दीख पड़ने वाले चारित्रिक नियमों का प्रत्याख्यान करते हैं; और स्मरण रहे, इन गठे हुए चारित्रिक नियमों में ही प्राचीन काल की बहुसंख्यक रचनाओं का

साहित्य का चरित्र से संबंध है; उस चरित्र का वर्तमान काल में अभाव है

मूल निहित है; और कौन कह सकता है कि यदि चरित्र के विषय में बनाए गए ये नियम न होते, तो आज हमारे साहित्य की क्या गति होती और उसका परिमाण कितना निर्बल रहा होता। संसार के साहित्य का आधे से अधिक भाग चरित्र के नियमों में ही आविर्भूत हुआ है।

किंतु साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य सदा से विश्व के साथ संबंध जोड़ कर शांति ढूँढता आया है। उसकी इच्छा यही रही है कि वह समष्टि का अंग बन कर रहे। चिरंतन काल से वह इस प्रकार के आयोजन में आस्था रखता आया है, जिसमें हर व्यक्ति संघ का अवयव बन कर रहता हो। मनुष्य की इस अभिलाषा को पूरा करने के लिए ही आनुक्रमिक सभ्यताओं ने पौराणिक जगत में देवताओं की और दृश्यमान जगत में सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं की आयोजना की है; और यह सचमुच बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि वर्तमान काल के साहित्यिक पुरुषों का जीवन अपने चहुँ ओर दीख पड़ने वाले धर्म, समाज और नीति के खँडहरों में बीत रहा है, और उन में मनुष्यजाति को संघटित करने वाले किसी संघ को स्थापित करने की न तो इच्छा ही रह गई है, और न उत्साह ही है।

और ठीक इसी अवस्थान पर पहुँच कर आधुनिक पाठक और लेखक दोनों ही ने, विश्वव्यापी एकतान को उपलब्ध करना असंभव समझ, वैयक्तिक शरीर की वृत्ति को अपनी

विवेचना का विषय बनाया है। अतीत के सभी कलाकारों ने मनुष्य का, उसके चहुँ ओर फैली हुई प्राकृतिक शक्तियों के साथ संबंध स्थापित करके उसे देखा है। क्या हिंदू, क्या ग्रीक, क्या हीब्रू और क्या ईसाई, सभी धर्मों ने प्रकृति की इन मूक शक्तियों को सजीव बना कर देखा है; उन्हें हमारे समान शरीरधारी बनाकर उनके विषय में कथाएँ घड़ी हैं, जिन को लेकर ही प्राचीन काल की साहित्यिक रचनाएँ संपन्न हो पाई हैं। किंतु आधुनिक कवि के लिए जहाँ परंपरागत देवीदेवता चल बसे हैं, वहाँ उसकी दृष्टि में उनकी कथाकहानियों का भी कोई मूल्य नहीं रह गया है। आज हम उन कथाओं को अपनी रचना का आधार भले ही बना लें, किंतु हमें उनमें होने वाली घटनाओं का हार्दिक अनुभव नहीं होता। यदि वर्तमान काल का लेखक धर्मसंबंधी रचना करने बैठता है, तो उसे अपने मनोवेगों के लिए निजू प्रतीक घड़ने पड़ते हैं। आजकल के बहुसंख्यक कलाकारों के लिए आत्मा अचेतन बन गया है, और पुराणकथित जगत् निरर्थक रह गया है।

आधुनिक कलाकारों की पौराणिक तत्त्वों में आस्था नहीं है

और यहाँ हम, वर्तमान साहित्य "अहं" की अभिव्यक्ति के लिए कौन कौन से उपाय काम में लाता है इस विषय में कुछ न कह केवल यह बताएँगे कि सांप्रतिक साहित्य और समाज वर्तमान काल के पाठकों और समालोचकों को किस प्रकार प्रभावित करता है।

सभी जानते हैं कि समालोचक भी, कलाकार के समान, एक व्यक्ति ही है, और प्रत्येक व्यक्ति की अपनी रुचि पृथक् ही हुआ करती है। प्रत्येक व्यक्ति का साहित्यरसास्वाद अपनी अपनी आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार विशिष्ट प्रकार का होता है। साहित्यिक रचना के रसास्वादन में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अवस्था चित्तवृत्ति, तथा अनुभव साथ दिया करते हैं।

जिस प्रकार साहित्यरचना में, उसी प्रकार समालोचना में भी देश और काल का जागरूक रहना स्वाभाविक है। क्यों कि साहित्यकार के समान समालोचक भी इतिहास के किसी युग-विशेष में जीता है और उसकी भी अपनी एक परिस्थिति और वातावरण हुआ करता है। और यह बात प्रत्यक्ष है कि प्रत्येक युग अपनी आवश्यकता और अपने दृष्टिकोण के अनुकूल ही कला के उत्पाद्यों पर विचार किया करता है।

किंतु यह सब कुछ होने पर भी वर्तमान युग के प्रतिरूप-विशेषों को घड़ने वाले फैशन तथा विचारों की अंतस्तली में जीवन का वही चिरंतन तान छिपा हुआ है जो हमें पौराणिक रचनाओं में सुनाई पड़ता है। हमारे अपने आशाव्याघातों के पीछे भी चिरंतन काल के विश्वास और आशाव्याघात छिपे बैठे हैं। हमारे मनोविश्लेषण के मूल में अतीत सदियों के अगणित मनोभाव तथा इच्छाभंग संनिहित हैं और हमारी अचेतन की खोज के पीछे आदि काल से चला आने वाला मानव-हृदय का ज्ञान छिपा हुआ है।

इस प्रकार की परिस्थिति में पूछा जा सकता है कि **सच्चा समालोचक कौन है और उसका क्या कर्तव्य है ?** उन लोगों के प्रति उसका क्या उत्तर होना चाहिए, जो उससे पूछते हैं कि **उन्हें कौन सी पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ और वे उन्हें किस प्रकार पढ़ें ?**

समालोचक के लक्षण

प्रथम प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं। महाशय टी. एस. ईलियट के मत में **विचारवान् समालोचक वह है, जो कला की वर्तमान समस्याओं में रत रहता हो और अतीत की शक्तियों को उन समस्याओं के हल करने में जोड़ता हो।** समालोचना की इस परिभाषा के मूल में निःसंदेह समालोचक कलाकार बन कर बोल रहा है। एफ. आर. लेविस के अनुसार **सफल समालोचक वह है, जो विधायी संनिवेश** (situation) **में सहायता देता हो।** मैक्स ईस्टमान के मत में समालोचना को भी वैज्ञानिक बनाया जा सकता है, और उनकी दृष्टि में समालोचना के अनेक रहस्यों को सहज ही हल किया जा सकता है, यदि हम अपने मन को भलीभाँति पहचान जाएँ। यह बात कहने में सहज प्रतीत होती है; और इसमें संदेह नहीं कि जब विज्ञान यह बता चुकेगा कि जीवन क्या वस्तु है, समालोचना के भी बहुत से रहस्य प्रकट हो जाएँगे। किंतु इस बीच में, जब तक कि वैज्ञानिक जीवन का निरूपण न कर उसका भूत और शक्ति इन शब्दों के द्वारा वर्णन करते रहेंगे, तब तक एक साहित्यिक समा-

लोचक भी—उत्पत्तिप्रक्रिया को मनोविज्ञान के द्वारा निरूपित न कर सकने के कारण, अपने अनुभवों के द्वारा ही इसके परिणाम का वर्णन करता रहेगा।

प्रोफेसर आई. ए. रिचार्ड्स—जिन्होंने कलासंबंधी अनुभव का मनोविज्ञान द्वारा व्याख्यान करने का सूत्रपात किया था—अब भाषाविज्ञान के द्वारा उसकी उपपत्ति मानने लगे हैं। अब उन्हें समालोचना का भविष्य भाषाविज्ञान के गहन तथा अब तक उपेक्षा की दृष्टि से देखे गए क्षेत्र में दीख पड़ता है। क्योंकि शब्दों के अर्थ और उनकी वृत्ति के विषय में प्रश्न करना, दूसरे शब्दों में, मनुष्य के आत्मप्रकाशन के अशेष उपकरण-समवाय पर विचार करना है। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान द्वारा हम ने बाह्य परिस्थिति पर अधिकार प्राप्त किया है, इसी प्रकार शब्दविद्या द्वारा हम अपनी मानसिक वृत्तियों पर अधिकार स्थापित कर सकेंगे।

कहना न होगा कि उक्त प्रकार का अनुशीलन गिने-चुने विशेषज्ञों का काम है। इसके लिए इतने अधिक मानसिक विकास और मनोविज्ञान के इतने अधिक गहन परिज्ञान की आवश्यकता है कि जिसका प्राप्त करना सामान्य जनता के लिए असंभव है। इस कोटि के समालोचकों द्वारा किए गए साहित्य-विवेचन को सुन कर जनता के यह कह उठने का भय है कि इसमें समालोचक समालोचना नहीं कर रहा, अपि तु वह अपनी व्युत्पत्ति और विदग्धता प्रदर्शित कर रहा है।

एक बात और। बहुधा हमें ऐसे समालोचक मिलते हैं, जिनका प्रत्यक्ष संबंध साहित्यिक इतिहास से होता है, अथवा जो समाज, मनोविकास अथवा पुस्तक-संपादन से संबंध रखते हैं। निश्चय ही ये बातें सदा साहित्य के अध्ययन तथा अनुशीलन के लिए अनिवार्य रहेंगी; क्योंकि ज्ञान के बिना रुचि में दृढता नहीं आती; **और पाठकों की रुचि का परिष्कार ही समालोचना का प्रमुख लक्ष्य है।**

समालोचना का प्रमुख ध्येय पाठकों की रुचि का परिष्कार है

प्रतिभा वह शक्ति है, जो सौष्ठव को जन्म देती है; रुचि वह शक्ति है, जो प्रतिभा द्वारा उत्पन्न किए गए सौष्ठव को—अधिक से अधिक दृष्टिकोणों से, उसके गहन से गहन स्तर तक पहुँचकर, उसके अधिक से अधिक परिष्कार, वैशिष्ट्य तथा संबंधों को ध्यान में रखती हुई,—देखती है। संक्षेप में हम प्रतिभा के उत्पादों से समीचीनतया प्रभावित होने की शक्ति को रुचि कहते हैं।

हैज़लिट के अनुसार **समालोचना का काम कलान्वित रचनाओं के विशेष गुणों को पहचानना और उनका लक्षण करना है।** दूसरे शब्दों में उनके अनुसार **समालोचना साहित्य का विवरण ठहरती है।** समालोचना के द्वारा रुचि पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। पुस्तकों के साथ होने वाले घनिष्ठ परिचय से ही साहित्य**चर्वण** की शक्ति का उपलाभ होता है।

समालोचना का ध्येय

समालोचना के निर्विकल्प नियम कोई नहीं हैं; और कोई भी संमति, चाहे वह कितने भी बल के साथ पद्य या गद्य में घोषित की गई हो, सब के लिए सर्वदा मान्य नहीं होतीं। कला के समान समालोचना भी वैयक्तिक होती है। किंतु स्मरण रहे, वैयक्तिक संमतियों के पीछे एक मापदंड रहता है, जो एकांततः नित्य न होने पर भी इतना ही अविचल तथा अव्यय होता है, जितना कि किसी युग में दीख पड़ने वाले बुद्धिचापल्य के पीछे संनिहित हुआ अशेष युगों का पौनःपुनिक सार। महाकवि गोइटे ने कालिदास रचित शकुंतला की समालोचना करते हुए कहा था कि यह रचना सामान्य तथा अविछिन्न रूप से मानव जाति का आदरपात्र रहती आई है। **बस समालोचना का सब से अधिक स्थायी मापदंड यह स्थिरता ही है। जो रचना सामान्यतया संस्कृति, सौष्ठव तथा रुचि की परिपोषक हो, समझिए वही रचना वास्तव में अमर है, और वह सदा साहित्यिकों के मन में रससंचार करती रहेगी।** एकांत सौष्ठववाद की समस्याएँ, अमूर्त तत्त्वों का अनुशीलन करने वाले विचारकों को सदा अपनी ओर आकृष्ट करती रहेंगी; किंतु साहित्य का आस्वाद तो मानवजाति का सामान्य दाय है। इसमें संदेह नहीं कि साहित्यरसन पर भी, मानव स्वभाव में अविभाज्य रूप से संनिविष्ट हुई कठोरता तथा पक्षपातों का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है, तथापि समालोचनकला की बहुत अंशों में जीवन-

कला के साथ समानता है। **जिस प्रकार हमारे जीवन में निषेधात्मक तत्त्वों की अपेक्षा विधेयात्मक तत्त्वों का अधिक महत्त्व है, इसी प्रकार समालोचना में भी सदा से विधेयात्मक दृष्टिकोण का ही महत्त्व स्थापित रहता आया है।** कौन नहीं जानता कि कटु भावनाओं की अपेक्षा समवेदना और सहृदयता के भाव अधिक मंगलमय हैं, केवल बुद्धि की अपेक्षा मन तथा मनोवेग दोनों को संस्कृत करना श्रेयस्कर है, घृणा की अपेक्षा प्रेम करना कहीं अधिक कल्याणकारी है। प्रत्येक समालोचना में ज्ञान का होना आवश्यक है, किंतु यही ज्ञान एक रुचिसंपन्न समालोचक की देन बन कर उसे मानसिक विदग्धता में रंग देता है, इस पर विवेक और भद्र भावना की कूंची फेर देता है, जीवन की व्यापक परिधि की नानामुखता तथा विस्तार को पहचानने की शक्ति से भूषित कर देता है, और इस प्रकार मन के अनुभवों का, उन्हें मनोवेग तथा इंद्रियतत्त्वों के साथ मिला कर व्याख्यान करता है। उसकी दृष्टि में जीवन तथा साहित्य, स्मृति तथा ऐशोन्मेष (revelation) साथ साथ चलते हैं। ज्यों ज्यों वह मनुष्य के ज्ञान और जीवन के अनुभवों को हृद्गत करता है, त्यों त्यों साहित्य के प्रति उसकी प्रतिक्रिया अधिकाधिक पूर्ण तथा बलवती होती चली जाती है, और ज्यों ज्यों उसका साहित्यपरिशीलन बढ़ता जाता है, त्योंत्यों साहित्य के प्रति उसका अनुराग भी द्विगुणित होता चला जाता है।

और यद्यपि हम आज आशाभंगों के वर्तमान नास्तिक युग

में जी रहे हैं, तथापि रसिक पाठक के संमुख, चाहे वह अपने सिद्धांतों तथा नियमों को किसी फलक पर उत्कीर्ण हुआ न भी देख सके, जीवन की गरिमा का एक मापदंड विद्यमान है, जिसे वह अपनी हड्डियों में अविचल तथा अपरिवर्तनीय रूप से संनिहित हुआ अनुभव करता है। अपनी आँखों के संमुख भग्न होने वाले मंतव्यों के बीच में, आर्थिक, सामाजिक तथा चारित्रिक आदर्शों के गिरने की तड़ातड़ में, विज्ञान तथा व्यवसाय द्वारा द्विगुणित हुई मृगतृष्णा की ज्वाला में, राजनीति के घातक दावपेंचों में, तानाशाही के निरंकुश प्रसर में, विघटन, विभंग तथा विछेद के संक्रामक संकुल में, यह काम एक मनस्वी समालोचक ही का है कि वह व्याकुल समाज को जीवन का सरल, स्पष्ट तथा कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करे।

समालोचक का महत्त्व

ऐसा समालोचक घोषित कर सकता है कि राम और सीता के पावन चरित की अव्ययता में उसका पूरा विश्वास है। शकुंतला की प्रेमोच्छ्वसित सरल गरिमा में उसकी अटल आस्था है। उसकी दृष्टि में हैमलेट, प्रोमेथियस, एस्मंड सदा अक्षय बने रहेंगे। उसकी आस्था है रामायण, महाभारत और पैरेडाइज लॉस्ट की गरिमा में, शकुंतला तथा गैदर यी रोजबड्स की मसृणता में, सूरसागर की मार्मिक मधुरिमा में, भूषण और लाल के वीररस की लहरों में, और रामचरितमानस की सर्वतोमुखी एकतानता में। वह कह सकता है कि उसका विश्वास

है शेक्सपीअर तथा टाल्स्टाय की विश्वजनीनता में, कविवर रवींद्र की घनता तथा तत्त्वज्ञता मे, शा की मानसिक निर्व्याजता में, और वेल्स की मानसिक उत्सुकता में। वह घोषित कर सकता है कि उसकी श्रद्धा है चासर, फीलिंडग, टाल्स्टाय, बाल्झक और प्रेमचंद की व्यापिनी तथा वेदनाशील सुस्थता में और शेक्सपीअर के कवित्व की गरिमा, प्रभुता और प्रभाव में।

यह विश्वास, यह आस्था और यह अभिनिवेश ऐसे हैं, जिनके समर्थन में रसिक समालोचक को कभी भी नतमस्तक नहीं होना पड़ता। चतुर समालोचक अतीत और वर्तमान दोनों ही पर व्यापक दृष्टि रखता हुआ इनको गतिमान तथा बलवान बना सकता है। उसका ध्येय होना चाहिए, समवेदना के साथ साहित्य का व्याख्यान करना; यहाँ उसे क्रोध, ईर्ष्या, असूया तथा मत्सर का परित्याग करना होगा; अपनी परिधि में न उसे किसी का उपहास करना है और न किसी की अनुचित रूप से पीठ ठोकनी है। उसका प्रमुख कर्तव्य है साहित्य को समझना और उसे समवेदना के साथ समझना।

आलोचना के उपकरण

आलोचना के मर्म का निदर्शन हो चुका; अब उसकी प्रक्रिया पर कुछ विचार करना है। स्पिगर्न के अनुसार सफल समालोचक को निम्नलिखित छः प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए—

१. विवेच्य रचना के लेखक ने क्या करने का प्रयत्न किया है।

२. उसने इसको किस प्रकार पूरा किया है ?

३. वह क्या व्यक्त करना चाहता है ?

४. उसने इसे किस प्रकार व्यक्त किया है ?

५. उसकी रचना का मुझ (समालोचक) पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

६. मैं (उस समालोचक) अंकन को किस प्रकार व्यक्त कर सकता हूँ ?

ध्यान रहे, ऊपर लिखी प्रश्नावलि में वैयक्तिक प्रतिक्रिया को पहला स्थान न देकर पांचवें नंबर पर रखा गया है। क्रोस के अनुसार आज समालोचना में वैयक्तिक प्रतिवचन का यही स्थान है।

प्रोफेसर मिडल्टन मरे समालोचना की तुलनात्मक प्रक्रिया का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

सब से पहले एक समालोचक को अपनी समालोच्य रचना के अशेष प्रभाव को, अर्थात् उसकी विशिष्ट अपूर्वता को व्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे, पीछे की ओर चल कर, उसे इस प्रकाशन को अनिवार्य बनाने वाली अनुभूति के अपूर्व गुण का निरूपण करना चाहिए। तीसरे, उस अनुभूति के निर्धारक कारणों को प्रतिष्ठित करना चाहिए। चौथे, उसे उन उपायों का विश्लेषण करना चाहिए, जिनके द्वारा इस अनुभूति का अभिव्यंजन किया गया है; (इसी को हम दूसरे शब्दों में रचनाशैली आदि का परीक्षण करना कहते हैं।) पाँचवें; उसे उस रचना के किसी संदीपक उद्धरण का, अर्थात् ऐसे

उद्धरण का, जिसमें लेखक की अनुभूति जगमगा उठी हो, ध्यान से परीक्षण करना चाहिए। समालोचना के पाँचवें अवस्थान में समालोचक फिर पहले अवस्थान पर जा पहुँचता है; भेद इतना होता है कि इस अवस्थान में संगत सामग्री को क्रम देकर उसे पाठक के संमुख रख दिया जाता है।

किंतु समालोचक शब्द का एक दूसरा अर्थ इससे भी कहीं अधिक व्यापक है। इसके अनुसार समालोचक एकमात्र उसे ही नहीं कहते, जो किसी एक कविता अथवा कवितावलि पर अपनी संमति प्रकट करे। बहुधा हमें किसी एक लेखक की उसकी समष्टि के रूप में, अथवा किसी एक युग की उसकी समष्टि के रूप में आलोचना करनी होती है। तब हमें यह पूछना होगा कि क्या समालोचक के पास तदपेक्षित दृष्टिकोण विद्यमान है। क्योंकि उत्कृष्ट आलोचना का महत्त्व समालोचक की संमतिविशेष में नहीं, अपि तु उसके दृष्टिकोण की उचितता में होता है। इस उचित दृष्टिकोण को उन समालोचकों में ढूंढना वृथा है, जो साहित्य को तुला के बट्टों से तोलते हैं। **सच्चा समालोचक वह है, जो साहित्य को एक संस्था न समझ उसे सजीव शक्ति समझता हो; उसे जीवित मानव के उपयोग की विकासमयी वस्तु मानता हो।**

समालोचक में राग और ज्ञान दोनों ही का होना आवश्यक है। उसे साहित्य की प्रचलित समस्याओं में पारंगत होना चाहिए और अतीत की शक्तियों को इन

समस्याओं के विवृत करने में व्याप्त करने वाला होना चाहिए। यद्यपि केवल ज्ञान अथवा तीव्र से तीव्र स्मृति भी यदि उनके साथ समालोचना के अन्य उपकरण न जुड़े हों तो निरर्थक हैं, तथापि समालोचना के अन्य उपकरणों के साथ मिला हुआ ज्ञान समालोचक को पारस्परिक विरोध तथा विसंवादिता जैसे दोषों से बचा देता है। इतिहास के किसी एक युग में प्रवीणता लाभ करके भी समालोचक इतिहास के अन्य युगों से सुतरां अपरिचित रह सकता है। **आदर्श समालोचक का कर्तव्य है कि वह सभी युगों से परिचय प्राप्त करे और साथ ही समालोच्य युग में पूरी पूरी प्रवीणता उपलब्ध करे।** उस युगविशेष में प्राप्त की गई प्रवीणता से उसे उन सब धार्मिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक परिस्थितियों का परिज्ञान हो जायगा, जिनकी समष्टि में से उसकी उस समालोच्य रचना का आविर्भाव हुआ है।

समालोचक के लिए अपेक्षित तत्त्व

समालोचक के वे दो प्रधान उपकरण, अर्थात् विश्लेषण और तुलना, रुचि (taste) **के बिना निरर्थक से हैं।** रुचि-प्रकाशन के लिए सत्यवृत्ति ताथ साहस अपेक्षित हैं; क्यों कि एक न्यायप्रिय समालोचक को अपने समसामयिक रीतिरिवाजों तथा वेशभूषाओं पर ध्यान न देते हुए अपने विचार प्रकट करने हैं। उसे, चाहे उसका समालोच्य लेखक कितना भी महान् क्यों न हो—उसके उन बिंदुओं को देखना और प्रकाशित करना

है, जो किसी लेखक को **महान्** से **अच्छे** में परिवर्तित कर देते हैं।

सच्चे समालोचक में जोष (gusto) **होना अपेक्षित है।** उसमें अपनी प्रसन्नता तथा अनुराग को दूसरों पर संक्रमित करने की क्षमता होनी चाहिए। उसकी तीक्ष्णता संक्रामक होनी चाहिए। हम चाहते हैं कि वह हमें अपने उत्साह और विरक्ति दोनों में संमिलित करे। समालोचना की शैली मधुमती होनी चाहिए और उस से पाठक को आनंद मिलना चाहिए। समालोचक, जितने ही अच्छे प्रकार से अपनी कला को प्रकाशित करता है, उतने ही अधिक चाव से हम उसकी रचना के पृष्ठों को उलटते हैं।

समालोचना के दो प्रकार

हम अपेक्षा करते हैं एक समालोचक से—समालोचना के शरीर के रूप में, गरिमान्वित समालोच्य सामग्री की; इस शरीर को प्रकाश तथा पुष्टि प्रदान करने के लिए स्फुटता और सुनिश्चितता की; उसे अनुप्राणित करने के लिए उत्साह की; और इन सब को उसमें एकतान्वित करने और उसके स्वाद को दूसरों तक पहुँचाने के लिए वर्चस्वी व्यक्तित्व की। इन उपकरणों का किसी एक समालोचक में एक साथ मिलना दुर्लभ होता है। कतिपय आचार्य तो समालोचकों से इससे भी कहीं अधिक आशा करते हैं। इस प्रसंग में डे लेविस का कथन है कि समालोचना के महत्त्वशाली दो ही वर्ग हो सकते हैं। पहले वर्ग में पाठक

के मार्ग में उसके मार्गप्रदर्शन के लिए केवल निदर्शनचिह्न लगाए जाते हैं; कठिन घाटियों में उसका हाथ पकड़ कर उसे सहारा दिया जाता है और उसे समझाया जाता है कि यह यात्रा करने योग्य है अथवा नहीं। समालोचना का दूसरा, अर्थात् विधायक प्रकार, अन्य विधायक रचनाओं की भाँति दुर्घट है। जब कोई समालोचक किसी लेखक का परिशीलन कर चुका होता है, पर्याप्त समय तक उसके साथ उसी की चित्तवृत्तियों में लीन रह चुका होता है, उससे अतिसिक्त हो चुका होता है, तब उन दोनों में एक प्रकार की सजातीयता उत्पन्न हो जाती है, जिससे कि आचार्य की कुछ शक्ति शिष्य पर संक्रमित हो जाती है। एलिस मेनल ने समालोचक के गुणों की एक लंबी-चौड़ी सूची तैयार करके अंत में उसके लिए ये बातें वांछनीय बताई हैं; सुनिश्चितता—और उसके असाधारण सहचर, स्वातंत्र्य, उत्प्लुति, उदात्तता, उत्साह, अवकाशबोध, सामीप्यबोध, आत्मिक अनुभूति के लिए संनद्धता, और एकांतवासी पाठक की अशेष गंभीरता तथा व्यवसाय।

समालोचना के विषय में रीड का मत

हाल ही हमारा ध्यान साहित्य के सामाजिक समन्वय (implication) की ओर आकृष्ट हुआ है। प्रो. हर्बर्ट रीड ने कहा है कि **सच्ची साहित्यिक समालोचना वह है जो कला के उत्पाद्य का प्रादुर्भाव व्यक्ति के मनोविज्ञान और समाज के आर्थिक संस्थान में ढूँढती हो।** इस उक्ति का मूल हमें

उस विश्वास में निहित हुआ प्रतीत होता है, जिसके अनुसार साहित्य मनुष्यों के जीवन का एक यथार्थ अंग है। समालोचना के इस नवीन सिद्धांत के अनुसार हाल ही में अंग्रेजी साहित्य का एक इतिहास, वहां के समाज को ध्यान में रख कर लिखा गया है। इस प्रणाली में सब से बड़ा दोष यह है कि इसमें लेखकों को समाज के ऐतिहासिकों द्वारा गढ़े गए, ढांचे में बलात् कहीं न कहीं ठोका जाता है और उनकी रचनाओं के वे भाग, जिनका अपने समसामयिक समाज के साथ कोई संबंध नहीं होता, अनालोचित रह जाते हैं। इस प्रवृत्ति की परा कोटि से हम यही परिणाम निकाल सकते हैं कि साहित्य और उसके समालोचक दोनों को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनका समाज के साथ गहरा संबंध है।

हमें समालोचक का आदर करना चाहिए

हो सकता है कि हमें आदर्श आलोचक के कभी दर्शन ही न हों; यह भी संभव है कि हम कभी, आदर्श आलोचक को भूषित करने वाले कौन से उपकरण हैं, इस पर भी एकमत न हो सकें। किंतु हमारे मध्य इस विषय में कभी मतिद्वैध नहीं होना चाहिए कि आलोचकों ने हमारे ऊपर उपकार किए हैं, और उनकी रचनाओं का भी अपना एक विशेष महत्त्व है। हमें उन्हें चेकोव के इस कटाक्ष से कि **समालोचक तो घोड़े की वह मक्खी है, जो उसे हल चलाने से रोकती है** और सिबेलियस के इस आक्षेप से कि **स्मरण रखो समालोचक के लिए कभी**

किसी ने कोई स्मारक नहीं खड़ा किया बचाना चाहिए। वर्तमान युग के समालोचक को स्मारक की आवश्यकता नहीं है, और कौन जानता है कि भविष्य में मानवसमाज उसे कितने आदर की दृष्टि से देखेगा।

समालोचना पर लिखने वाले आचार्यों ने समालोच्य सामग्री और समालोचनाप्रणाली के अनुसार उसके अनेक वर्ग किए हैं; हम यहाँ उनमें न पड़कर संक्षेप में पाश्चात्य तथा भारतीय आलोचना का दिग्दर्शन करेंगे।

पश्चिमीय आलोचना

पश्चिम का सर्वप्रथम साहित्याचार्य प्लेटो है। उसने साहित्य का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करते हुए कला और सत्य का अटूट संबंध दर्शाया है। उसके मत में काव्य द्वारा जो कुछ प्रतिपादित अथवा अभिव्यक्त किया जाय वह सत्य होना चाहिए; अपने आधारभूत प्राकृतिक सत्य से मेल खाता हुआ होना चाहिए। इस प्रकार सत्य के निश्चित आदर्श को सामने रख कर कला और काव्य की परीक्षा करने वाले प्लेटो की यथार्थवाद पर जोर देने वाली समालोचनापद्धति को हम आदर्शवादी कह सकते हैं।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु के यथार्थवाद को स्वीकार किया; किंतु जहाँ प्लेटो ने काव्य को सत्य की प्रतिमूर्ति माना था, वहाँ अरस्तू ने उसे **अनुकरण** मानते हुए कला तथा विज्ञान का भेद बता कर काव्यसाहित्य और सामान्यसाहित्य में भेद निदर्शित किया।

ईसा की तीसरी शताब्दी में लांगीनस (Longinus) नाम का प्रख्यात विवेचक हुआ, जिसने दि सब्लाइम नाम के प्रसिद्ध प्रबंध में काव्य तथा कला पर अच्छा विवेचन किया।

अर्वाचीन काल में एडिसन ने आलोचना के क्षेत्र में कल्पना का सूत्रपात करके, मनोविज्ञान के आधार पर कल्पना और कल्पनाजन्य सुख का वर्णन किया। "इस प्रकार इस काल में सत्य, सुषमा और कल्पना के आधार पर आलोचना के तीन तत्त्व स्थिर हुए : वस्तु, रीति, और सुखानुभव कराने की योग्यता।"

साहित्यिक इतिहास के कतिपय युग आदर्श समालोचना के लिए प्रोत्साहक सिद्ध होते हैं। एलिझाबेथ के समय में समालोचकों के संमुख समालोचना का परिछिन्न मापदंड उपस्थित न था, और उन्हें अपने देशवासियों की रचनाओं का विवरण ग्रीक तथा लैटिन साहित्य के नियमों के अनुसार करना पड़ता था। सत्रहवीं शताब्दी के इंगलैंड में यह आवाज उठी कि इंगलैंड का अपना साहित्य फरांसीसी साहित्य से नीची श्रेणी का है। ड्रायडन ने इस आक्षेप का प्रत्याख्यान करते हुए अपने देशवासियों को अपनी मातृभाषा की सेवा में दत्तचित्त किया। अठारहवीं सदी में नियमानुसारिता—अर्थात् साहित्य-शास्त्र के नियमों पर चलने की परिपाटी पर बल दिया गया। इस सदी के अंतिम भाग में भी हम रेनल्ड्स (Reynolds) को नियमों की पूजा करते हुए देखते हैं। उसके अनुसार एक

कलाकार का सब से बड़ा गुण महाकवियों के पदचिह्नों पर चलना है। उन्नीसवीं सदी के प्रथमार्ध में राजनीतिक दृष्टिकोण ने समालोचना के विकास में बाधा डाली। दि एडिनबरा रिव्यू, दि कार्टर्ली और ब्लेकवुड्स में प्रकाशित होने वाली समालोचना का दृष्टिकोण लेखक के राजनीतिक दृष्टिकोण से संबद्ध रहता था, और बहुधा अच्छे से अच्छे लेखकों को उनके वैयक्तिक राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण दुतकार दिया जाता था। इस युग में जैफ्रे (Jeffrey) ने समालोचना क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की। मैकाले ने बताया कि समालोचना के परिशीलन में भी रसानुभव हो सकता है; इसके अनुशीलन में भी उत्तेजना तथा उद्दीपन हो सकते हैं। आर्नल्ड ने सामान्य कोटि की रचनाओं का पराभव करके लेखकों को उत्कृष्ट रचनाओं की ओर अग्रसर किया। कार्लाइल ने ग्राम्यता तथा परिसीमितता का प्रत्याख्यान करते हुए अपने युग के कवियों को जर्मन साहित्य का अनुशीलन करने की ओर प्रवृत्त किया।

बीसवीं सदी के साथ हमारे संमुख फिर वही प्राचीन समस्या आती है, और हम **विधायी अंगीकार** (constructive acceptance)—जो कि निर्माण करने वाले कलाकारों का राजपथ है—और **क्रांति**, जिस पर साहसी मार्गप्रदर्शक चलते आए हैं, इन दोनों सिद्धांतों में से किसे ग्रहण करें और किसे छोड़ें इस दुविधा में फंस जाते हैं। प्रजातंत्रवाद से प्रसूत हुई प्रचुर साक्षरता के युग ने, देश के नगर नगर, ग्राम ग्राम और

कोने-कोने में बसने वाले पतिपत्नियों के अवकाश के समय को अनायास गुजारने के उद्देश्य से पुस्तकों को इतनी विपुल संख्या में जन्म दिया है कि जिसका वर्णन करना कठिन है। इसके साथ ही इन पुस्तकों के ढेरों में से ग्राह्य पुस्तकों को चुनने के प्रधान उपकरण समालोचनासाहित्य को, और समाचारपत्र तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली समालोचनाओं को भी यथेष्ट प्रगति मिली; किंतु दुःख है कि अव्यवस्था तथा अस्त-व्यस्तता के वर्तमान युग में, जब कि उत्कृष्ट कोटि के समालोचना-साहित्य की सब से अधिक आवश्यकता थी, उसका बहुत ही न्यून मात्रा में विकास हो पाया है।

अंग्रेजी समालोचनाक्षेत्र में चॉसर, सिडने, बेन जॉन्सन, ड्रायडन, पोप, एडीसन, जॉहंसन, हैज़लिट, लैंब, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, कीट्स, आर्नल्ड, हार्डी, गाल्ज़वर्दी, ईलियट, रीड, और ऑडन के नाम स्मरणीय हैं।

भारतीय समालोचनाशास्त्र

जिस प्रकार हमने संक्षेप में पाश्चात्य समालोचना का सिंहावलोकन किया है, उसी प्रकार भारतीय समालोचना पर भी एक दृष्टि दौड़ानी है। भामह के काव्यालंकार, दंडी के काव्यादर्श, मम्मट के काव्यप्रकाश, आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक, विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण और राजशेखर के काव्यमीमांसा आदि ग्रंथों को सभी जानते हैं, और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय आचार्यों ने शब्द, अर्थ और रस की जितने विस्तार और जितनी

गहनता के साथ विवेचना की है, उतनी अन्य किसी भी देश के आचार्यों ने नहीं की। पाश्चात्य समालोचकों के सभी सिद्धांत किसी न किसी रूप में हमारे आचार्यों ने यूरोपीय समालोचकों से कहीं पहले बता दिए हैं; यहाँ तक कि उन्होंने अपनी उत्कट विवेचनाशक्ति के द्वारा समालोचना को काव्यक्षेत्र से ऊपर उभार विज्ञान और दर्शन की परिधि में पहुँचा दिया है।

कहना न होगा कि जिस प्रकार अन्य अंगों में, उसी प्रकार समालोचना में भी, हिंदी साहित्य संस्कृत साहित्य का अनुगामी रहा है; और जिस प्रकार रस तथा अलंकार आदि काव्योपकरणों पर हमें संस्कृत में अगणित ग्रंथ मिलते हैं, इसी प्रकार हिंदी साहित्य में भी इन पर प्रचुर विचार किया गया है। हिंदी समालोचना के इस पटल को छोड़ हम उसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं: इतिहास, तुलना, भूमिका, और परिचय। हिंदी साहित्य के कतिपय इतिहास लिखे जा चुके हैं। कतिपय कवियों का तुलनात्मक आलोचन भी हो चुका है। प्राचीन तथा नवीन कवियों की भूमिकाएँ लिखी गई हैं, और पत्रपत्रिकाओं में परिचय के रूप में छोटी-मोटी आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। किंतु अभी दो आवश्यक अंग अछूते पड़े हैं: कवियों की सर्वांगीण समालोचना और आलोचनाशास्त्र का निर्धारित रूप। दोनों ही क्षेत्रों में यत्न हो रहा है, किंतु अभी उल्लेखयोग्य कार्य नहीं हो पाया है।

पद्य+गद्य: दृश्यकाव्य — नाटक

साहित्य का निरूपण करते हुए हम ने उसे दो विधाओं में विभक्त किया था: एक श्रव्य और दूसरा दृश्य । श्रव्य काव्य का वर्णन हो चुका; प्रस्तुत प्रकरण में दृश्य काव्य, अर्थात् नाटक का विवेचन किया जायगा।

उपन्यास के प्रकरण में हम उन सभी तत्त्वों पर विचार कर आए हैं जो उपन्यास के समान नाटक के निर्माण में भी उपकरण बनते हैं, जैसे—**कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, देश-काल और जीवन का व्याख्यान**। किंतु इन तत्त्वों के समान होने पर भी नाटकीय कलाकार की कार्यपरिस्थिति उपन्यासकार की परिस्थिति से सुतरां भिन्न प्रकार की होती है, और इसी कारण दोनों अपनी अपनी अर्थसामग्री को भिन्न भिन्न प्रकार से उपयोग में लाते हैं। फलत: कला की दृष्टि से उपन्यास तथा नाटक में मौलिक भेद है, यह मौलिक भेद ही हमारे वर्तमान विवेचन का मूलाधार है।

नाटक के विषय में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि वे बातें, जिन्हें हम नाटकीय विधान के सिद्धांत अथवा नाटकीय कला के नियमों के नाम से पुकारते हैं, नाटक की उन आवश्यकताओं

तथा अपेक्षाओं से उत्पन्न होते हैं, जो एक नाटक के लिए, उसकी अपनी सत्ता के कारण, आवश्यक बन जाते हैं। हम जानते हैं कि प्राचीन महाकाव्य सुनाने के लिए रचा गया था; और आधुनिक उपन्यास का उद्देश्य पढ़ना है, जब कि एक नाटक का लक्ष्य कथानक की घटनाओं को विकसाने वाले व्यक्तियों के प्रतिनिधीभूत पात्रों के द्वारा अभिनय करना है। इसी कारण जब कि महाकाव्य और उपन्यास की मौलिक वृत्ति वर्णन करना है, नाटक का काम अभिनय और कथोपकथन के द्वारा अनुकरण करना है; और अनुकरण की इस वृत्ति के लिए अनिवार्यरूपेण आवश्यक होने वाले तत्त्वों पर ध्यान देते हुए ही नाटक के तत्त्वों पर विचार करना लाभदायक होगा।

नाटक रंगमंच का खेल है

कहना न होगा कि उपन्यास तथा नाटक के मध्य दीखने वाले प्रमुख भेद को सिद्धांत की दृष्टि से कूत लेने पर भी उसका स्पष्ट रूप से पहचानना दुष्कर है; इस लिये इस विषय में यहां किंचित् विस्तार में जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

उपन्यास अपने आपे में परिपूर्ण होता है; अर्थात् एक उपन्यासकार अपनी परिधि में उन सब बातों का समावेश करता है, जिन्हें वह अपनी कथनीय वस्तु को विकसाने के लिए आवश्यक समझता है। दूसरी ओर एक नाटक—जैसा कि यह मुद्रित होकर हमारे संमुख आता है और जिस रूप में हम इसे पढ़ते हैं—उपन्यास के समान अपने आपे में परिपूर्ण नहीं होता। पद

पद पर इसे उन बाह्य संकेतों की अपेक्षा रहती है, जो मुद्रित रचना में नहीं आने पाते। वस्तुतः जिस नाटक को हम पुस्तक के रूप में पढ़ते हैं वह तो कथानक की रूपरेखामात्र है, अर्थात् यह उस वस्तु का कच्चा ख़ाका है, जिसे हमने पात्रों के क्रियाकलाप द्वारा अभी भरना है; यह तो रंगमंच पर दिखाए जाने वाले अभिनय की—जिसके उचित विधान पर नाटकीय कलाकार की सफलता निर्भर है—एक साहित्यिक अथवा लेखात्मक संकेतधारा है। फलतः नाटक के पढ़ने में हमें बहुत सी असुविधाओं तथा न्यूनताओं का सामना करना पड़ता है; क्योंकि हम पर होने वाले नाटकीय प्रभाव का अधिकांश, हमारी कल्पना के प्रति की जाने वाली उन अपीलों के, उन वर्णनों के, उन व्याख्यानों तथा वैयक्तिक टीकाओं के अभाव में—जिनके द्वारा हम पात्रों को समझते और उनके ध्येयों तथा उनके क्रियाकलाप के चारित्रिक महत्त्व को पहचानते हैं—नष्ट हो जाता है। इसी कारण साहित्य के रूप में एक नाटक का समझना हमारे लिए उपन्यास को समझने की अपेक्षा कहीं अधिक दुःसाध्य हो जाता है। नाटक को पढ़ते समय हमें उन सब बाह्य परिस्थितियों की—जिनमें नाटक का आत्मा संपुटित रहता है—अपनी ओर से ऊहा करनी पड़ती है; वास्तविक अभिनय की कला को भी हम अपनी ओर से पूरा करते हैं। संक्षेप में विस्तार की उन सभी बातों को, जिन्हें हम रंगशाला में बैठ पात्रों को अपनी आंखों के आगे काम करता हुआ देख कर सहज ही हृद्गत कर लेते हैं, नाटक को पुस्तक के रूप में पढ़ते समय

अपनी ओर से पूरा करते हैं। फलतः नाटकीय रचना को पढ़ते समय हमारी कल्पना इतनी तीव्र होनी चाहिए कि ज्यों ज्यों हम नाटक को पढ़ते जायं त्यों त्यों उसके भिन्न भिन्न दृश्य हमारी आंखों के सामने इस प्रकार उघड़ते चले जायं, मानो हम उन्हें नाटक में बैठे देख रहे हों। सामान्यतया, कालिदास और शेक्सपीअर के नाटकों को पढ़ते समय—जिन्हें हम आज रंगमंच पर खेलने आदि के अभिप्राय से लिखे गए न समझ विशुद्ध साहित्य, अर्थात् कविता आदि के रूप में मानने लगे हैं—हम इस प्रकार की अत्यंत आवश्यक नाटकीय बातों को भूल जाते हैं। फलतः इस बात पर बल देना अभीष्ट प्रतीत होता है कि किसी भी नाटक के अनुशीलन के समय हमें उसके लिए अनिवार्यरूपेण आवश्यक होने वाली नाटकीय परिस्थितियों को अपने संमुख लाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि नाटकीय रचना को पढ़ते हुए भी हम उसमें रंगमंचीय अभिनय का आनंद ले सकें। **क्योंकि नाटक को लिखने का प्रमुख लक्ष्य ही अभिनय के द्वारा प्रेक्षकों का चित्तरंजन करना है।**

कहना न होगा कि साहित्य की अन्य विधाओं के समान नाटक भी जीवन का व्याख्यान करता है; और इस काम के लिए वह भी उपन्यास के समान **कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन** आदि तत्त्वों पर खड़ा होता है। किंतु अपनी कथावस्तु के उत्थान में एक नाटककार को उपन्यासकार की अपेक्षा कहीं अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उपन्यासकार

अपनी रचना को, जितना चाहे, विस्तृत बना सकता है और उसी के अनुरूप वह अपनी रचना में, जितनी चाहे, सामग्री भी एकत्र कर सकता है। किंतु इन दोनों ही बातों में नाटककार के ऊपर अनेक प्रतिरोध हैं। हम जानते हैं कि उपन्यास एक ही बैठक में पढ़ने के उद्देश्य से नहीं लिखा जाता; इसे पढना प्रारंभ करके हम बीच में उठा कर रख सकते हैं और अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार जहां से इसे छोड़ा था, वहां से फिर आरंभ कर सकते हैं। इसका पढ़ना कई दिनों और कई सप्ताहों तक चल सकता है। **उपन्यास की प्रमुख विशेषता ही यह है कि इसकी कथनीय वस्तु में हमारी रुचि ऐसी बनी रहे कि हम इसे जब चाहें पढ़ लें।** दूसरी ओर, अरस्तू के **अनुसार एक नाटक को एक ही बैठक में समाप्त हो जाना चाहिए;** और क्योंकि प्रेक्षकों की सहनशक्ति की एक सीमा है, और किसी निश्चित सीमा तक पहुँच जाने पर अच्छे से अच्छे दृश्यों को देखने से भी प्रेक्षकों का मन ऊब जाना स्वाभाविक है, इसलिए **नाटक में उसकी दर्शनीय वस्तु का संक्षिप्त होना सब से अधिक आवश्यक है।** और इसी कारण एक उपन्यासकार की अपेक्षा नाटककार को कहीं अधिक संकुचित परिधि में काम करना पड़ता है; और इसी उद्देश्य से उसे अपनी सामग्री को काट-छांट कर नपी-तुली बनाना होता है; उसमें से उन सब वस्तुओं को, जिनके बिना उसका काम चल सकता है, निकाल देना पड़ता है, और अपनी रचना में एक-

मात्र उन्हीं महत्त्वशाली घटनाओं तथा परिस्थितियों को अपनाना होता है, जिनके समावेश के बिना उसकी कथा आगे सरक ही नहीं सकती। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए अरस्तू ने कहा था कि **एक नाटककार को अपनी दुःखांतकथा महाकाव्य के प्रसार में नहीं कहनी चाहिए**, अर्थात् उसे अपनी रचना का विषय ऐसी कथा को नहीं बनाना चाहिए, जिसके गर्भ में अनेक कथाओं का आना स्वाभाविक हो, जैसा कि रामायण, महाभारत, इलियड और ओडेसी की कथाएं। और यही बात लागू होती है किसी बड़े उपन्यास के वस्तुतत्त्व पर; क्योंकि एक महाकाव्य के समान विशाल उपन्यास की कथा को भी सफलता के साथ नाटक के रूप में नहीं बदला जा सकता। इस में संदेह नहीं कि इस संक्षेप और संकोच की उपलब्धि में एक नाटककार को रंगमंच से संबंध रखने वाली भांति भांति की परिभाषाओं से पर्याप्त सहायता मिलती है; क्यों कि वे बहुत सी बातें, जिनका एक उपन्यासकार को वर्णन करना पड़ता है, नाटक में ऐतिहासिक परिज्ञान पर छोड़ दी जाती हैं, जब कि रंगमंच का अपना विशेष प्रकार का विधान नाट्यकार को वागात्मक वर्णन की आवश्यकता से किसी सीमा तक मुक्त कर देता है। किंतु इस संकुचित परिधि में काम करते हुए भी अपनी कथनीय वस्तु को स्पष्टता के साथ व्यक्त करने की आवश्यकता एक नाटककार की निर्माणशक्ति पर भारी दबाव डालती है, और उसकी उपपाद्य वस्तु के इसी महत्त्वशाली पटल पर हमें सब से पहले विचार करना है।

नाटकीय विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जहां एक उपन्यासकार, प्रसंग प्रसंग पर उठने वाली छोटी-बड़ी सभी बातों को अपनी रचना में स्थान देता हुआ विस्तार के साथ अपनी कहानी कहता है, वहां प्रवीण नाटककार गौण बातों को नाटक में आने वाले उन दृश्यों द्वारा दिखाया करता है, जो बहुधा कथा की कड़ियों को जोड़ने का काम करते हैं। किंतु इस विषय में भी रंगमंच की रूपरेखा में परिवर्तन हो जाने के कारण प्राचीन नाटकों तथा नवीन नाटकों में भारी भेद आ गया है। और जब हम इस दृष्टि से शेक्सपीअर तथा इब्सन के नाटकों का सांमुख्य करते हैं तब हमें इब्सन की अपेक्षा शेक्सपीअर का कथनप्रकार बहुत कुछ महाकाव्यों के कथनप्रकार से मिलता दीख पड़ता है; क्योंकि महाकवियों के समान शेक्सपीअर भी बहुधा अपने कथा-वस्तु को गौण दृश्यों की परंपरा के मध्य में से आगे सरकाते हैं। कहना न होगा कि उनकी इस प्रक्रिया का मूल किसी सीमा तक उनके समसामयिक रंगमंच की खुली स्वतंत्रता में है।

कथावस्तु को जन्म देने वाला तत्त्व

नाटकीय अभिनय का सार उसकी गतिशीलता में है। दूसरे शब्दों में नाटक का प्रमुख ध्येय है **प्रेक्षकों के मन में प्रगति** (progression) **उत्पन्न करना**। इसी लिए नाटक में गतिशून्य तत्त्वों को आवश्यकता से अधिक स्थान नहीं दिया जाता। विद्वान् मानते आए हैं कि **इस गतिशीलता के लिए—और यही है नाटक का आत्मा—आवश्यक है कि यह उस विरोध**

अथवा विग्रह में परिणत हो, जो नाटकीय अनुभूति का सर्वस्व है । इस बात में किसी अंश तक अत्युक्ति है; क्यों कि स्वयं चेखोव के **नाटक** ही इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि नाटक के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि उसमें **परा-कोटि** और **परिणाम** से अनुगत **विरोध** अथवा **विग्रह** अवश्य हो; जैसा कि ग्रीक नाटकों में पाया जाता है। किंतु, क्यों कि सभी प्रकार की आनंदप्रद नाटकीय अनुभूति का आधार **पात्रों का व्यापार में** प्रदर्शन करना है, इसलिए हमारी समझ में नाटक की उत्पत्ति तब तक असंभव है, जब तक कि पात्रों का संबंध किसी प्रकार के ऐसे संकरण (complication) से न हो, जो अनिवार्यरूप से दो विरोधी व्यक्तियों, भावनाओं, परिस्थितियों अथवा विचारों में दीख पड़ने वाले प्रातीप्य में परिणत हो जाया करता है । यह विरोध दो व्यक्तियों का विरोध हो सकता है, जैसा कि ओथेलो और इयागो का; कभी यह विरोध चरित्र और परिस्थिति के मध्य दीख पड़ने वाले वैमुख्य के रूप में प्रकट होता है; कभी एक ही पात्र में दीख पड़ने वाली दो विरोधी वृत्तियों के वैमुख्य के रूप में हमारे संमुख आता है, जैसा मैकबेथ में; और कभी एक ही पात्र में एकत्र हुई अनेक प्रतीपी वृत्तियों के वैमुख्य में, जैसा कि हैमलेट में । यह वैमुख्य कभी इच्छा तथा ध्येय के मध्य दीख पड़ने वाले विरोध का रूप धारण कर सकता है; कभी एक प्रकार के जीवन की दूसरे प्रकार के जीवन से होने वाली टक्कर में परिणत हो जाता है ।

कभी कुछ तथ्यों का दूसरे तथ्यों से, कभी तथ्यों का सिद्धांतों से और कभी आत्मिक विभूति का यंत्रकला से विरोध भी देखा गया है।

दो विरोधी शक्तियों के इस पारस्परिक विग्रह ही में नाटकीय कथावस्तु की उत्पत्ति होती है; और इस कथावस्तु की वृत्ति—और यही है नाटक का सब से सारवान् स्वत्व—है परिस्थिति के ऐसे संस्थान की ऊहा में, जिस में पकड़े जाने पर पात्रों की परीक्षा हो जाय; और उन परिस्थितियों के द्वारा, जिन में वे फँस गए हैं, उनका अपना आपा हमारे सामने फड़क जाय। सफल नाटक के पात्र बहुधा बड़ी स्पष्टता तथा गहनता के साथ हमारे मन में घर कर लेते हैं, किंतु यह सब किस बात के आधार पर; एकमात्र उन घटनाओं तथा व्यापारों के आधार पर, जिन के बीच में नाटक ने उन्हें, उनके अपने आपे को विवृत करने के लिए, धंसा दिया है। घटनाओं की यह परंपरा ही पात्रों की उस आत्मवत्ता तथा वृत्ति को उद्घाटित करती है, जिसे हम **चरित्र** इस नाम से पुकारा करते हैं और जो प्रत्येक पात्र की उस यथार्थता को बनाए रखती है, जिसमें कि एक नाट्यकार उसे संपुटित करना चाहता है। फलतः प्रत्येक पात्र नाटक में ठीक ऐसा ही उतरता है, जैसा कि नाट्यकार उसे अपनी रचना में उद्भावित करना चाहता है, जैसा कि वह नाटक कहाने वाली रचना में व्यापार करता है; और नाटक में दीख पड़ने वाले इसी तत्त्व के द्वारा हम उसके दूसरे तत्त्व, अर्थात् **चरित्र-चित्रण** पर आते हैं।

जहाँ कथावस्तु के प्रबंध की दृष्टि से नाटक और उप-

चरित्रचित्रण **न्यास में वैधानिक भेद है, वहाँ चरित्र के प्रदर्शन की दृष्टि से इन दोनों में और भी बड़ा अंतर है।**

कभी कभी लोग भ्रमवश यह मानने लगते हैं, कि, क्योंकि रंगमंच का संबंध अनिवार्य रूप से बहुत कुछ व्यापार के साथ है, इस लिए चरित्रचित्रण का उसमें विशेष महत्त्व नहीं हैं। इसी विचार को मन में रख कर आज बहुत से नाटक लिखे जा रहे हैं। किंतु स्मरण रहे, चरित्रचित्रण की जितनी विपुल महत्ता उपन्यास में है उतनी ही नाटक में भी है। इसी बात को मन में रख कर हेनरी आर्थर जोंस ने लिखा है कि **मेरे विचार में थियेटर में जाने वाले जनसामान्य की माँग एक नाटकलेखक से वही होगी, जो एक बच्चे की होती है, अर्थात् "मुझे कहानी सुनाओ।"** और यहाँ हम कथा का कथा के रूप में महत्त्व कम न बताते हुए यह कहेंगे कि नाटक में कथा, घटना और परिस्थति, जब तक कि इनका पात्र के साथ संबंध नहीं जुड़ता, किसी सीमा तक वृथा और निरर्थक रहती हैं। वस्तुतः नाटक के ये सब उपकरण चरित्रचित्रण के ही रूपविशेष हैं। **किसी भी नाटक के मौलिक महत्त्व का आधार उसमें निष्पन्न होने वाला चरित्रचित्रण है।** इस सिद्धांत को हृद्गत करने के लिए हमें कालिदास द्वारा किया गया शकुंतला का चित्रण और शेक्सपीअर द्वारा किया गया उनके अनेक पात्रों का चित्रण देखना

चाहिए। कोई भी वेदनाशील पाठक इस बात से सहमत नहीं होगा कि इन दोनों साहित्यिक महारथियों की नाटकीय जगत् में दीख पड़ने वाली अमरता का आधार उनकी रचनाओं की कथा-वस्तु है। वह बात, जिसने उनकी रचनाओं को शाश्वत बनाया है, नर और नारियों का उनके द्वारा किया गया चरित्रचित्रण है। शकुंतला की अमरता दुष्यंत के द्वारा शकुंतला के प्रत्याख्यान और उनके पुनर्मिलन में नहीं, अपि तु कालिदास द्वारा खींचे गए शकुंतला और दुष्यंत के सर्वांगपूर्ण चरित्र में है। शेक्सपीअर के मैकबेथ नाटक की गरिमा लेडी मैकबेथ द्वारा किए गए नृशंस नरपात में नहीं, अपि तु शेक्सपीअर द्वारा उद्घाटित किए गए मैकबेथ के रोमहर्षण चरित्र में है। इसी प्रकार उनके रचे मर्चेंट ऑफ वेनिस की रुचिरता उस नाटक में घटने वाली घटनाओं की परंपरा में नहीं, अपि तु उन घटनाओं को जन्म देने वाले पात्रों की मनोज्ञता में है। एकमात्र कथावस्तु की दृष्टि से विचार करने पर शेक्सपीअर का हैमलेट नाटक ऐसा खूनी दुखांत अथवा "प्रतिक्रिया-नाटक" ठहरेगा, जो एलीझाबीथन युग के इंगलैंड की कठोर वृत्ति को भरपूर सहलाता था; किंतु शेक्सपीअर ने अपनी अलौकिक निर्माणकला द्वारा इसी रुधिराक्त सामग्री में से हैमलेट जैसे अभूतपूर्व नानामुखी नाटक की सृष्टि कर दी, और यह सब उसने संपन्न किया उस तत्त्व के आश्रय पर, जिसे हम आजकल की भाषा में **मनोवैज्ञानिक तत्त्व** के नाम से पुकारा करते हैं। और मार्मिक विश्लेषण की दृष्टि से विचार करने पर

सभी नाटकों की स्थायी महत्ता का आधार यह मनोवैज्ञानिक तत्त्व ही दीख पड़ेगा।

चरित्रचित्रण में संक्षेप

जिस प्रकार कथावस्तु के क्षेत्र में उसी प्रकार चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में भी चतुर नाट्यकार को संक्षेप और संकोच से काम लेना पड़ता है। आवश्यकता से अधिक विस्तार वाले उपन्यासों के प्रसार को न्यायसंगत बताने के लिए हम कहा करते हैं कि उनके ध्येय के उचित प्रदर्शन तथा उनके भीतर संमिलित हुए पात्रों के अभिलषित निदर्शन के लिए इतना अधिक विस्तार वांछनीय है। किंतु एक नाट्यकार को अपने ध्येयप्रदर्शन तथा चरित्रचित्रण के लिए इने-गिने दृश्यों की परिधि में ही रहकर काम करना पड़ता है; और साथ ही उसे इन्हीं दृश्यों में अपनी कहानी को भी आगे सरकाना होता है। जब तक कि नाटक के अंगीभूत इस तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान विशेष प्रकार से आकृष्ट नहीं किया जायगा वे इसकी सारवत्ता को भलीभाँति नहीं समझ सकेंगे। और इस उद्देश्य से यदि हम कालिदास अथवा शेक्सपीअर की रचनाओं में से किसी एक का निदर्शन देकर इस तथ्य को स्पष्ट करें तो कुछ अप्रासंगिक न होगा। संयत क्रियानिदर्शन की दृष्टि से कालिदास का शकुंतला नाटक अलौकिक संपन्न हुआ है। साथ ही उसमें चरित्रचित्रण भी अत्यंत ही संक्षिप्त तथा गतिमान् बन पड़ा है। इसमें संदेह नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से शकुंतला और दुष्यंत दोनों ही का संघ-

टन अनुपम सिद्ध हुआ है, तथापि बाजीगरी की वे चोटें, जिन के द्वारा कालिदास ने उनको घड़ा है, अंगुलियों पर गिनी जाने वाली हैं, पर जितनी हैं, हैं सचमुच बड़े ही मारके की। नाटक के आरंभ में ही हम शकुंतला को एक निष्कलंक सौंदर्य के लोक में अवतीर्ण होती देखते हैं। वहाँ वह सरल आनंद के साथ अपनी सखियों तथा तरुलताओं से मिली-जुली है। उस स्वर्ग में छिपे-छिपे पाप ने प्रवेश किया और वह सौंदर्य कीटदष्ट कुसुम की भाँति विशीर्ण और स्रस्त होगया। इसके अनंतर लज्जा, संशय, दुःख, विछेद और अनुताप आए और सब के अंत में स्फीततर, उन्नततर अमरावती में क्षमा, प्रीति और शांति का अवतरण हुआ; बस, शकुंतला नाटक का सार यही है। कालिदास ने शकुंतला के चरित्र का जो वर्णन किया है वह अत्यंत ही संक्षिप्त, किंतु पराकोटि का मनोज्ञ तथा भावनासंवलित है। अरण्य की आर्जवपूर्ण मृगी की भाँति, तपोवन के निर्झरों की जलधारा के समान पंक के संपर्क में रहने पर भी उन्हों ने बिना प्रयास ही शकुंतला को अपनी नैसर्गिक निर्व्याजता तथा स्वछता में शोभाय-मान होते दिखा दिया है। अपने अनुपम रचनाकौशल से उन्होंने अपनी नायिका को लीला तथा संयम, स्वभाव तथा नियम और नदी तथा समुद्र के ठीक संगम पर खड़ा कर दिया है। उसके पिता ऋषि और माता अप्सरा हैं; व्रतभंग से उसका जन्म, और तपोवन में उसका भरणपोषण हुआ है। तपोवन एक ऐसा स्थान है जहाँ स्वभाव और तपस्या, सौंदर्य और

संयम का संयोग हुआ है; वहाँ समाज का कृत्रिम विधिविधान नहीं; वहाँ धर्म के कठोर नियम विराजमान हैं। **बंधन और अबंधन के संगम पर गतिशील होने ही से** शकुंतला **नाटक में एक अपूर्व विशेषता आ झलकी है।** उसके सुख दुःख, संयोग और वियोग, सभी कुछ इन्हीं दोनों के घातप्रतीघात हैं। कालिदास ने शकुंतला को तपोवन का एक अंग बना कर उसके मर्म को बड़ी ही अपूर्वता से विवृत किया है। लता के साथ फूल का जो संबंध है, वही संबंध तपोवन और शकुंतला का बता कर उन्होंने शकुंतला के सरल सौंदर्य को कहीं अधिक मनोरम बना कर प्रस्तुत किया है। तपोवन, मृग, तापस सखियां, ऋषि, आश्रम का ऋजु क्रियाकलाप, इन सब के मध्य में विराजमान हुई तापस बाला और उसके मनमंदिर में खिलने वाला प्रेम-प्रसून, प्रणयी के द्वारा उसका मर्दन, उस मर्दन में भी शकुंतला का धैर्य, इन सब बातों ने शकुंतला के चरित्र को इतना अधिक मनोज्ञ तथा मार्मिक बना कर हमारे संमुख प्रस्तुत किया है कि कालिदास को उसके चरित्रचित्रण में कोई बाह्य प्रयास करना ही नहीं पड़ा। उन्होंने व्यापार के कतिपय चमकते हुए बिंदुओं में ही शकुंतला के अशेष चरित्र को खचित करके रख दिया है; इस काम के लिए उन्हें अपनी जिह्वा से कुछ भी नहीं कहना पड़ा। जिस प्रकार कालिदास ने शकुंतला को उसी प्रकार शेक्सपीअर ने मैकबेथ और उसकी महिषी को अपनी लोकोत्तर प्रतिभा से सजीव बनाकर रंगमंच पर ला रखा है। लेडी मैकबेथ

के जिस चरित्र को विशद करने के लिए एक उपन्यासकार को अपनी रचना के पृष्ठ के पृष्ठ रंगने पड़ते उसी को उस लोकोत्तर कलाकार ने इने-गिने घातों से घड़ कर हमारे संमुख ला खड़ा किया है। इस दृष्टि से यदि हम उस नाटक के प्रथम अंक का अनुशीलन करें तो हमें नायकनायिका की भलाई और बुराई की ओर होने वाली सबल प्रवृत्तियों का अत्यंत ही परिपूर्ण निदर्शन दीख पड़ेगा। मैकबेथ का शारीरिक उत्साह, युद्धक्षेत्र में उसका शौर्य, दूसरों का उसमें विश्वास, उसके अंतरात्मा में नीचता का तांडव, उसका कल्पनाप्रवण किंतु अंधविश्वासी स्वभाव; लेडी मैकबेथ का सामर्थ्य, उसका चारित्रिक उत्साह, अपने ध्येय में उसकी एकनिष्ठता, अपने पति पर उसका निर्णायक प्रभाव, इन सभी बातों की रूपरेखा हमारे संमुख खिंच जाती है, और हमें अनुभव होने लगता है कि हम इन दो दारुण व्यक्तियों के साथ सर्वात्मना संसर्ग में आ चुके हैं। किंतु आकार की दृष्टि से यह अंक कठिनता से ही २५ मुद्रित पृष्ठों का होगा और इसमें लेडी मैकबेथ २५ बार के लगभग बोलती है और मैकबेथ कोई छब्बीस बार। जब हम किसी नाटक का इस प्रकार विस्तार के साथ विश्लेषण करते हैं तब हमें उसके मार्मिक सौंदर्य का ज्ञान होता है और तभी हम इस बात को अवगत करते हैं कि कालिदास और शेक्सपीअर की लोकोत्तर रचनाओं के बीज किन उपकरणों तथा उपायों में संनिहित हैं।

कहना न होगा कि नाटकीय चरित्रचित्रण के लिए अनिवार्य

रूप से अपेक्षित संक्षेप रूप तत्त्व के विद्यमान होने पर नाट्यकार का ध्यान पात्रों की उन वृत्तियों पर खचित होना स्वाभाविक है, जिन्हें वह मुख्य रूप से व्यक्त करना चाहता है। फलतः उपन्यास की अपेक्षा नाटक में कथोपकथन के प्रत्येक शब्द को कहीं अधिक सजीव बनाना पड़ता है; नाटक की समष्टि को ध्यान में रखते हुए नाटकीय अंगों का विवरण करना होता है, और इन सब बातों के लिए अनपेक्षित वार्तालाप को त्याग देना होता है। इस नियम के अनुसार कि प्रत्येक पात्र का निदर्शन इतना परिपूर्ण होना चाहिए कि वह, उन सभी बातों को पूरा करने में क्षम हो, जिनकी नाटकीय कथावस्तु को उससे अपेक्षा है, यह बात स्वयमेव मान ली जाती है कि एक कलाकार को अपने नायक अथवा अन्य पात्रों की, केवल उन्हीं बातों को उभारना चाहिए, जो नाटकीय व्यापार पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हों, और इसी कारण, जिनका गुप्त रखना, अनुपयुक्त हो। और नाटकीय अभिनय के लिए सब से अधिक आवश्यक संक्षेप रूप तत्त्व पर ध्यान देते हुए यह बात दीखती भी है सर्वांशेन समुचित। किंतु कभी कभी हम चतुर से चतुर नाट्यकार को कथावस्तु की आवश्यकता तथा अनावश्यकता पर ध्यान न देते हुए केवल चरित्रचित्रण के लिए चरित्रचित्रण करता हुआ पाते हैं। और जब हम इस दृष्टि से शेक्सपीअर के नाटकों का अनुशीलन करते हैं तब हमें उनके चरित्रचित्रण में अनेक स्थलों पर यही वृत्ति काम करती दीख पड़ती है। उदाहरण के लिए,

हैमलेट के चित्रण में ऐसी बहुत सी बातें आती हैं, जिनका कथावस्तु के साथ किसी प्रकार का भी प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

व्यक्तित्वमुद्रण का अभाव

चतुर नाट्यकार को अपने चरित्रचित्रण में संक्षेप की भी अपेक्षा इस बात पर अधिक ध्यान देना चाहिए कि **उसकी रचना में व्यक्तित्व का आवश्यकता से अधिक प्रतिफलन न होने पावे**। हम जानते हैं कि एक उपन्यासकार स्वतंत्रता के साथ अपने पात्रों के साथ मिल सकता है, वह उनका इच्छानुसार विश्लेषण कर सकता है, वह उनके विचारों, भावनाओं तथा इच्छाओं को हमारे सामने रख सकता है, और अंत में उन सब पर अपना मत प्रकाशन कर सकता है; किंतु ये सभी बातें एक नाट्यकार के लिए निषिद्ध हैं। अपनी कला को निष्कलंक बनाए रखने के उद्देश्य से उसे अपनी रचना से पृथक रहना पड़ता है; और इस बात में भी नाट्यकार की अपेक्षा उपन्यासकार का ही हाथ ऊँचा रहता है, विशेषतया उन प्रसंगों में, जहां कि चरित्र में संकुलता हो और ध्येय तथा मनोवेगों के सूक्ष्म रूपों का निदर्शन कराना हो। इस बात को ध्यान में रखते हुए जब हम उसके इस अतिरेक के साथ, व्यापार तथा अवकाश के क्षेत्र में प्राप्त हुई उसकी उस अनिरुद्ध स्वतंत्रता को मिला देते हैं, जिसे कभी कभी समालोचक उपन्यास के कलासंबंधी दोषों के नाम से पुकारा करते हैं—अर्थात् उसकी विस्तृत परिधि, उसके संस्थान की

अनियंत्रिता, स्वभावतः इसमें प्रतिफलित होने वाली उपन्यास-कार की व्यक्तिता—तब हमें ज्ञात होता है कि चरित्रचित्रण के क्षेत्र में एक उपन्यासकार को नाट्यकार की अपेक्षा कितनी अधिक सुविधाएं प्राप्त हैं।

नाटक में उसके रचयिता का व्यक्तित्व नहीं प्रतिफलित होना चाहिए इस बात का यह आशय कदापि नहीं कि नाटक के मूल में उसके रचयिता का व्यक्तित्व सुतरां रहता ही नहीं है। ऐसा होने पर तो हम नाटक को साहित्य ही नहीं कह सकते; क्यों कि साहित्य का विवेचन करते समय हम कह आए हैं कि **साहित्य कहाने वाली प्रत्येक रचना में उसके रचयिता का व्यक्तित्व अवश्य निहित रहना चाहिए।** व्यक्तित्वमुद्रण के अभाव का आशय तो केवल यही है कि जिस प्रकार एक निबंधलेखक, विषयि-प्रधान कवि अथवा उपन्यासकार का अपने पाठकों के साथ तादात्म्य संबंध रहता है वैसा संबंध एक नाट्यकार का अपने प्रेक्षकों के साथ नहीं रहता। वैसे तो साहित्य की दृष्टि से नाट्य-कार की व्यक्तिता उसकी रचना के मूल में अनिवार्यरूप से निहित रहती है, क्यों कि आखिरकार कहानी को ढूंढने और विकसाने वाला नाट्यकार स्वयं है, कहानी के किस पक्ष पर कितना और कैसा बल देना चाहिए इस बात का निर्धारक भी वह अपने आप है, कहानी के पात्रों को किस प्रकार कौन से व्यापार में जोड़ना है, उन से क्या क्या और कैसे कैसे कराना है यह सब बातें उसकी अपनी वैयक्तिक रुचि पर निर्भर हैं;

पात्रों का बनाना, उन्हें बुलवाना, उन्हें व्यापार में जोड़ना, उन्हें इष्ट या अनिष्ट रूप चरम परिणाम पर पहुंचाना भी उसका अपना काम है। इस प्रकार के व्यक्तित्वसंनिधान के क्या क्या और कैसे कैसे परिणाम हो सकते हैं इस बात को देखना हो तो कालिदास, भवभूति, शेक्सपीअर, शॉ, और गाल्जवर्दी के नाटकों की तुलना कीजिए। व्यक्तित्वसंनिधान का परिणाम और भी व्यक्त रूप में देखना हो तो कालिदास की शकुंतला का शेक्सपीअर के टेम्पेस्ट नाटक से सांमुख्य कीजिए। जहां दोनों आचार्यों की कला में महदंतर है, वहां जीवन के प्रति होने वाले उन दोनों के दृष्टिकोण में भी मौलिक भेद है। शकुंतला नाटक की नायिका शकुंतला है और टेम्पेस्ट की मिरांडा। शक्ति और सबलता शकुंतला में भी है और टेम्पेस्ट में भी। किंतु टेम्पेस्ट में बल के द्वारा विजय है और शकुंतला में मंगल के द्वारा सिद्धि की अवाप्ति। टेम्पेस्ट में असम्पूर्णता में ही समाप्ति है : शकुंतला की समाप्ति सम्पूर्णता में है। टेम्पेस्ट की मिरांडा आर्जव तथा मधुरता की मूर्ति है, पर उस सरलता की प्रतिष्ठा अज्ञता और अनभिज्ञता के ऊपर निर्भर है। शकुंतला की सरलता अपराध में, दुःख में, अभिज्ञता में, धैर्य में और क्षमा में परिपक्व है, वह गंभीर है और स्थायी है।

साहित्य की अन्य विधाओं के समान नाटक पर भी उसके लेखक की मुद्रा छपी रहनी स्वाभाविक है। नाट्यकार के द्वारा रचे गए जगत् की वृत्ति और उसका आकारप्रकार उसके रच-

यिता की वृत्ति और आकारप्रकार पर निर्भर है। नाट्यकार अपनी कला के उन्मेष के लिए छोटा सा, किंतु फड़कता हुआ वायुमंडल प्रस्तुत कर सकता है जैसा कि चेखोव करता है; वह अपनी अर्थसामग्री पर एक प्रकार का दृष्टिकोण आरोपित करके अपने मूल्यामूल्य को आँक सकता है, जैसा कि शॉ करते हैं; वह एकांततः शब्दसरणि द्वारा अपने संसार की रचना कर सकता है, जैसा कौंग्रेव में दीख पड़ता है; वह एकमात्र मनोवैज्ञानिक तथ्यों के विश्लेषण में व्याप्त रह सकता है जैसा कि इब्सन करते हैं; और अंत में वह शेक्सपीअर के समान अपनी विश्वमुखी प्रतिभा को नानामुख जगत् के भावभरित निदर्शन में भी व्याप्त कर सकता है।

किंतु स्मरण रहे, **नाट्यकार अपनी रचना में अपने व्यक्तित्व को उद्घोषित करने के लिए कदापि नहीं निकलता।** अन्य कलाकारों की भाँति उसका लक्ष्य भी अपने मन में निहित हुई विशेष प्रकार की सामग्री को मूर्त रूप में ढालना होता है; अपनी कल्पना को भाषा की रूपरेखा में बाँध प्रेक्षकों के संमुख रखना होता है; अपनी अनुभूति को पात्रों पर आरोपित करके उसे मुखरित करना होता है। उसकी सब से बड़ी समस्या इस प्रसंग में यह है कि **वह अपने मन की इस सामग्री को किस प्रकार रंगमंच द्वारा, जीती-जागती, प्रेक्षकों तक पहुँचावे।**

और ज्यों ही हम ऊपर संकेत की गई नाट्यकार की उक्त वृत्ति को भलीभाँति हृद्गत कर लेते हैं, त्यों ही हमें इस बात का

रहस्य ज्ञात हो जाता है कि क्यों और किस लिए प्रतिदिन के व्यवहार में अपने संमुख आने वाले व्यक्तियों और घटनाओं की अपेक्षा हमारा नाट्यकार के द्वारा खड़े किए गए व्यक्तियों और घटनाओं के साथ अधिक गहरा परिचय हो जाता है । और सच समझो, हम अपने गांव में रहने वाली शकुंतला को—जिसे हम प्रतिदिन कई बार अपनी आँखों से देखते है— इतना अच्छी तरह नहीं जानते जितना कि कालिदास द्वारा शकुंतला नाटक में उत्थापित की गई शकुंतला को । उस नाटक को पढ़ कर और उसका अभिनय देख कर वह सरल, किंतु सुबोध शकुंतला, हमारी आँखों आगे चित्रपट पर शतधा मुखरित हो उठती है और हम कालिदास के द्वारा किए गए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उपायों द्वारा उसके मर्म मर्म को रंगमंच पर विवृत हुआ पाते हैं। इसी प्रकार संभव है स्वयं हैमलेट अपनी माता को इतना अच्छी न जानते हों, जितना शेक्सपीअर के नाटक को पढ़ कर हम उन्हें जान लेते हैं। और यही बात मैकबेथ, ओथेलो, इयागो, सीजर आदि के विषय में कही जा सकती है। हमारी चर्मचक्षु व्यक्तियों के स्थूल शरीर को देखती और हमारी बुद्धि उनके अंतरंग को निभालती है; नाटकीय अभिनय में नाटक के पात्र कवि की कल्पना के मुलम्मे में से होकर रंगमंच पर नाचने आते हैं; उनकी अशेष वृत्तियों के अंतर्मुखीन हो जाने के कारण उनका क्रियाकलाप और वार्तालाप संक्षिप्त तथा सजीव हो उठता है और इन बातों के साथ जब नाट्यकार की लोकातिशायिनी कला

आ मिलती है तब सोने में सुगंध बस जाता है, और मांस के ये पुतले, अर्थात् पात्र, कुछ अनूठे और अटपटे ही रूप में हमारे सामने विराजने लगते हैं।

चरित्रचित्रण आकृति द्वारा

अपने इन पात्रों के चित्रण में एक नाट्यकार अनेक प्रकारों से काम लिया करता है। उन उपायों में सब से पहला उपाय है **आकृति**। किसी पात्र का प्रथम दर्शन ही एक अनुभवशील प्रेक्षक को उसके विषय में बहुत सी बातें जता देता है। आकार, प्रकार, संघटन, शरीरमुद्रा, आकृति की सुंदरता अथवा विकृति, पात्र की विशालता अथवा दुर्बलता, इन सभी बातों से एक पात्र के विषय में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है, और उसके पहले ही दर्शन से हमारे मन में उसके प्रति आकर्षण अथवा घृणा बुद्धि उद्बुद्ध हो जाती है। उसके नाक की बनावट, उसकी आँखों की स्फीतता, उसका केशवेश, उसकी दंतपंक्ति और मुखमुद्रा, उसके हाथों का आकारप्रकार, उनका उत्थान और पतन, इन सभी बातों से उसके चरित्र का थोड़ा बहुत पता चल जाता है, और शरीर ही का एक भाग समझो उसकी वेषभूषा को। उसके वस्त्रों की शुभ्रता अथवा अस्वच्छता, वेषविषयक उसकी बहुव्ययिता अथवा मितव्ययिता, वस्त्रधारण के विषय में उसकी सावधानी अथवा असावधानी, इन सब बातों का प्रेक्षक के मन पर बलात् एक प्रभाव पड़ता है, जो बहुत काल तक वैसा का वैसा अटूट बना रहता है।

एक चतुर नाट्यकार, चरित्रचित्रण के इस सब से अधिक सरल और प्रत्यक्ष उपाय से बहुत काम निकाला करता है। और यद्यपि आकारप्रकार के द्वारा किए जाने वाले चरित्रचित्रण के रूप न केवल हर एक युग के अपने पृथक् रहे हैं, प्रत्युत हर नाट्यकार के भी वे अपने निर्धारित ही रहे है, तथापि वेषभूषा आदि के द्वारा चरित्रचित्रण करना एक ऐसी प्रथा है, जिसे न तो नाट्यकार ही को भूलना चाहिए और न प्रेक्षक वर्ग को ही।

वाणी द्वारा चरित्रचित्रण

आकारप्रकार से मिलता हुआ ही चरित्रचित्रण का दूसरा प्रकार **वाणी** है, जिसमें उच्चारण के साधन शरीर के अवयव और उच्चरित हुआ शब्दसमुदाय दोनों संमिलित हैं। और यद्यपि हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में वाणी का महत्त्व श्रोता के श्रोत्रों की उत्कटता अथवा सामान्यता पर निर्भर है, तथापि रंगमंच पर खड़े हो कर बोलने वाले पात्र की वाणी, उसकी गहनता, गंभीरता, विपुलता, आकार, पटल, पात्र नाक से उच्चारण करता है अथवा गले से, उसकी वाणी स्थूल है अथवा सूक्ष्म, ये सब बातें नाट्यकार तथा प्रेक्षकगण दोनों ही के लिए चरित्रचित्रण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वशाली हैं।

वाणी की शारीरिक परिधि को छोड़ जब हम उस के उत्पाद्य शब्दजात पर ध्यान देते हैं तब हमारे संमुख चरित्रचित्रण के लिए उसकी महत्ता और भी अधिक विपुल बन कर आती है। और यह बात उपन्यास तथा नाटक दोनों के रचयिताओं

पर समानरूप से लागू होती है। दोनों ही अपनी क्षमता के अनुसार अपने पात्रों को गरिमान्वित, जीवनमयी वाणी प्रदान कर सकते हैं; और हम चाहें तो, पात्र द्वारा उच्चरित हुई भाषा से, उसके वाक्याविन्यास की ऋजुता तथा वक्रता से, उसकी वाणी में प्रतिफलित होने वाले संस्कृति के माप से, उसकी भाषा की नागरिकता अथवा ग्राम्यता से, और उसकी वाक्यमाला में गुंथे हुए अलंकारों के चमत्कार तथा उसके अभाव से उसके मन तथा संस्कारों की थाह ले सकते हैं।

मति अथवा आशय के द्वारा चरित्रचित्रण

पात्र के द्वारा अपने अथवा दूसरों के विषय में उच्चरित हुई वाणी से कुछ उतर कर **उसके चरित्रचित्रण के लिए उसके विषय में प्रकट की गई दूसरे पात्रों की संमति है।** बहुधा हम अपने प्रतिदिन के व्यवहार में इसी प्रक्रिया से काम लिया करते हैं। एक व्यक्ति से मिलने पर उसके विषय में जो हमारी धारणा होती है, उसे हम बहुधा उसके विषय में दूसरों की संमति जान कर ठीक कर लिया करते हैं। यही बात एक नाटयकार अपने पात्रों के विषय में किया करता है। हम कालिदास की शकुंतला के विषय में उसके आकारप्रकार, उसकी वेषभूषा और उसकी वाणी से बहुत कुछ जान लेते हैं। इसके साथ ही हम उसके विषय में बहुत कुछ उसकी सखियों के द्वारा उसके विषय में कही गई बातों से सीखते हैं। इसी प्रकार शेक्सपीअर ने अपने दुर्बोध पात्र हैमलेट को बहुत से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उपायों

द्वारा हमारे सामने विशद बना कर रखने का प्रयत्न किया है। उन सभी उपायों से हम हैमलेट के अगम चरित्र को पहचानने का प्रयत्न करते हैं, किंतु हम उसके विषय में बहुत कुछ होरेशियो, क्लाडियस, गर्ट्रूड और ओफेलिया द्वारा उसके ऊपर की जाने वाली टीकाटिप्पणियों से भी सीखते हैं।

विचारों के द्वारा चरित्रचित्रण

किसी पात्र के चरित्र को पहचानने के लिए हमें उसके विचारों और मानसिक प्रक्रियाओं से प्रचुर सहायता मिलती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाट्यकार बहुधा विदूषक का उपयोग किया करते हैं, जो छाया की भांति नायक के पार्श्व में रहता और नर्मसचिव के रूप में उसका चित्तरंजन करता और सुखदुःख में सदा उसका साथ देता है। नायकनायिका अपने गुप्ततम भावों को इस पर प्रकट कर देते हैं और इस प्रकार हम उनके निभृत मनोवेगों को जान कर उनके चरित्र के विषय में अपना मत निर्धारण कर लेते हैं।

अपवार्य अथवा स्वगत द्वारा चरित्रचित्रण

कभी कभी पात्र अपने मन की निभृत भावनाओं को किसी और को न सुना उन्हें अपने आपे पर प्रकट किया करते हैं। **स्वगत की यह प्रथा** करुणरसजनक नाटकों में इतनी नहीं बरती जाती जितनी कि सुखांत नाटकों में, जहां नायकनायिका अपने चरित्र तथा अंतरात्मा में होने वाले विरोध अथवा विग्रह का, उत्साह तथा भीरुता के सांमुख्य का, और उद्घोषित आशय की

निष्पापता तथा वास्तविक अभिप्राय की असूया का प्रातीप्य दिखाने के लिए इसका उपयोग करते हैं।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से **आत्मभाषण** का बड़ा महत्त्व है।

आत्मभाषण के द्वारा चरित्रचित्रण

आत्मभाषण में पात्र अपने विचारों तथा मनोवेगों को अपने ही शब्दों में मुखरित करता है, अपनी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक सामग्री को विषय का रूप देकर उसकी विवेचना करता है। हम जानते हैं कि हमारे आंतरिक जीवन में एक वह अनुभूति भी होती है, जिसकी चेतना के प्रवाह में पर्यवेक्षण, निरीक्षण, अनुभव, मनोवेग और विचार सभी का संकलन रहता है। आत्मभाषण के द्वारा एक नाट्यकार पात्रों की इस संकलित अनुभूति को व्याप्त करता और अभिव्यक्त करता है।

जब नाट्यकारों का ध्यान चरित्रचित्रण के इस उपाय की ओर गया उनकी दृष्टि में उसका उपयोग और महत्त्व विशद हो गया। आत्मभाषण चरित्रचित्रण का एक ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा हम प्रत्यक्ष रूप से पात्र के अपने तथा अन्य वर्ग के विषय में निर्धारित किए विचारों को, उसके द्वारा किए गए अतीत व्यापार के महत्त्व को, और भविष्य में उसके द्वारा की जाने वाली व्यापारशृंखला को जान लेते हैं। इसके द्वारा हम पात्र की अंतस्तली में इतना गहरा पैठ जाते हैं, जितना कि एक नाटककार के लिए अभीष्ट तथा क्षम्य है। ग्रीक दुःखांत नाटकों में तो इसका उपयोग प्रस्तावना के स्थान में भी होता था और

इसके द्वारा प्रेक्षक वर्ग को यह बता कर कि आज कौन सा नाटक खेला जायगा, उसमें प्रधान व्यापार कौन सा होगा, उनके साथ रससंबंध स्थापित किया जाता था। शेक्सपीअर के नाटकों में आत्मभाषण का प्रचुर प्रयोग हुआ है और वह उपयोग यातो मनोवेगसंबंधी चरम कोटि के प्रदर्शन के लिए, अथवा आने वाले महत्त्वशाली साहस कृत्य पर आरूढ होने से पहले उसको पूर्ण करने वाले साधन आदि के उतार-चढ़ाव पर सिंहावलोकन करने के उद्देश्य से किया गया है। हैमलेट ने अपने प्रख्यात आत्मभाषण **टु बी ऑर नॉट टु बी दैट इज़ द क्वेश्चन** में आत्मघात के उतार-चढ़ाव को आँका है, तो राजा के प्रार्थना करते समय उच्चरित हुए आत्मभाषण में उन्हों ने यह देखा है कि क्या उनके उस समय राजहत्या करने से उनके उद्देश्य की सिद्धि होगी अथवा नहीं। कुछ आत्मभाषणों में हैमलेट ने अपनी अंतरात्मा की रहस्यमय नानामुख गति पर विचार किया है, और इन सभी आत्मभाषणों से हमें उनके संकुल चरित्र को समझने में प्रचुर सहायता प्राप्त होती है।

व्यापार के द्वारा चरित्रचित्रण

क्यों कि **नाटक का सार ही व्यापार का प्रतिनिधान करना है, इस लिए नाटक में चरित्रचित्रण का एक साधन पात्रों का व्यापार भी है।** और जैसा कि वास्तविक जीवन में, वैसा ही नाटक में भी, यह बात, कि एक पुरुष किसी काम को करता है या नहीं करता, करता है तो कैसे करता है, आपत् में उसकी चेष्टा किस

प्रकार की होती हैं, अपने ध्येय की अवाप्ति में वह कहां तक व्यवसायात्मक बुद्धि से काम लेता है, उस पात्र के चरित्र को प्रकाशित करने में बहुत अधिक सहायक होती है।

पात्र को व्यापार द्वारा प्रदर्शित करते हुए (exhibiting character through action) जो विशेष समस्या एक नाटच-कार के संमुख आती है, वह है पात्र और व्यापार में एक निर्धारित संबंधस्थापन। हो सकता है कि कोई पात्र विशेष रूप से रुचिर अथवा कुरूप हो, कोई व्यापार सौम्य, भयानक, अथवा हास्यजनक हो; किंतु जब तक पात्र और व्यापार के मध्य सामंजस्य का स्थापन करने वाला संबंध नहीं उद्भावित किया जायगा तब तक रचना की संभाव्यता तथा विश्वासजनकता अधकचरी रहेगी और नाटक की सफलता और उसकी ऋजुता नष्ट होती जायगी। पात्र तथा व्यापार के मध्य सामंजस्यस्थापन की समस्या पर हमें नाटकीय ध्येय को ध्यान में रख कर हाथ डालना चाहिए। सामंजस्यस्थापना के मूल में काम करने वाली बात यह है कि **रंगमंच पर घटित होने वाली महान् अथवा सामान्य सभी प्रकार की घटनाओं के लिए पर्याप्त कारण और पर्याप्त ध्येय विद्यमान होना चाहिए।** कोई भी व्यापार ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसकी पात्रों की प्रकृति, उनके आशय और उनके उद्देश्यों की दृष्टि से पूरी पूरी व्याख्या न की जा सके। **संक्षेप में पात्रों का व्यापार उनकी मनोवृत्ति से प्रसूत होना चाहिए।** इसका यह आशय नहीं है कि सभी व्यापारों की उत्पत्ति पात्रों

की विवेचनात्मक बुद्धि से होनी चाहिए; ऐसा कहना मनोविज्ञान का निरादर करना होगा। पात्रों और उनके व्यापार के मध्य होने वाले सामंजस्य का आशय यही है कि पात्रों द्वारा किए गए अशेष क्रियाकलाप का व्याख्यान उनकी मनोवृत्ति, उनके मनोवेग, भावना, सहजावबोध, अभिलाषा, विवेचनात्मक बुद्धि तथा विचारों को ध्यान में रख कर संभव होना चाहिए।

पात्र और व्यापार में सामंजस्य उत्पन्न करने वाला तत्त्व प्र-योज्-अन

कहना न होगा कि चरित्र और व्यापार में सामंजस्य स्थापित करने वाले कतिपय तत्त्वों में **प्र-योज्-अन** प्रधान तत्त्व है। किसी नाटक का **प्रयोजन** उसके अपने स्वरूप पर निर्भर है। स्वभावतः करुणाजनक नाटकों में, जिनमें जीवन के उत्कट मनोवेगों का पारस्परिक संघर्ष प्रदर्शित किया जाता है, उन सामान्य कोटि के नाटकों की अपेक्षा, जिनमें जीवन के साधारण तत्त्वों का प्रतिनिधान किया जाता है, **प्रयोजन** कहीं अधिक गंभीर तथा उदात्त कोटि का होना वांछनीय है। इस तत्त्व के अनुसार हमें ऐसे नाटकों की अवधीरणा करने का पूर्ण अधिकार है जिनमें किसी उदात्त **प्रयोजन** को दृष्टि में रखे बिना ही जीवनपरिवर्तन और जीवन-हरण की घटनाओं को घटाया गया हो, जिनमें छोटे से उद्देश्य से जीवन के गंभीर मर्मों को उत्ताडित किया गया हो। मनो-विज्ञान की इस उपेक्षा के कारण ही बड़े बड़े करुणाजनक नाटक थोथे रुधिराक्त नाटकों में बदल जाते हैं। इसी प्रकार

एक सुखांत नाटक की गंभीरता भी उसके **प्रयोजन** की गंभीरता तथा उदात्तता पर निर्भर है; और इसी लिए विश्व के प्रमुख सुखांत नाटकों में पात्रों तथा उनके व्यापार को एक दूसरे का तुल्यभार बनाने का प्रयत्न किया गया है। शेक्सपीअर के उन रोमांटिक नाटकों में, जो अपने ही एक अनूठे जगत् में विघटित होते हैं, हम किसी प्रकार के निर्धारित **प्रयोजन** की जिज्ञासा नहीं करते। छोटे छोटे प्रहसनों में तो एक सामान्य सी बात भी नाटकीय वस्तु का **प्रयोजन** बन सकती है।

प्रयोजन को सफल बनाने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है वे हैं: **औचित्य, पर्याप्ति, संवादिता**।

कहना न होगा कि **नाटकीय व्यापार के लिए आवश्यक है कि वह, जिन पात्रों से उसकी प्रसूति हुई है, उनके अनुरूप प्रतीत होना चाहिए**। शकुंतला से प्रसूत होने वाले अशेष व्यापार उसके अनुकूल होने चाहिएँ और मिरांडा तथा क्लियोपेट्रा से प्रसूत होने वाली व्यापारधारा उनके अनुरूप होनी चाहिए। एक राजा को, चाहे वह कितना भी ओछा तथा छद्म्मी क्यों न हो, कभी न कभी राजा के अनुरूप उत्साह वाला होना चाहिए, कभी न कभी उससे धीर तथा उदात्त कार्यधारा की प्रसूति होनी चाहिए। वस्तुतः पात्र और व्यापार एक दूसरे के साथ पारस्परिक क्रियाकारिता के द्वारा संबद्ध हैं। जिस प्रकार व्यापार के अतिरिक्त और किसी उपाय द्वारा किए गए चरित्रचित्रण से व्यापार के प्रयोजन पर प्रकाश पड़ता है उसी प्रकार स्वयं

व्यापार भी पात्र के ऊपर संभवतः और सब उपायों की अपेक्षा अधिक प्रकाश डालने वाला है।

प्रयोजन की सफलता के लिए **औचित्य की अपेक्षा भी पर्याप्तता की अधिक आवश्यकता है।** एक नाट्यकार के लिए यह काम सहज है कि वह पात्रों के अनुरूप व्यापार की, और व्यापार के अनुरूप पात्रों की उद्भावना कर ले; किंतु उसके लिए प्रेक्षकवर्ग के मन में इस बात का विश्वास जमा देना इतना सहज नहीं है कि रंगमंच पर प्रदर्शित किए गए व्यापार का उसके द्वारा दिखाया गया प्रयोजन पर्याप्त है। और नाटक की वह कड़ी, जिससे कि प्रयोजन की पर्याप्तता अथवा अपर्याप्तता परखी जाती है, करुणाजनक नाटक में नायक अथवा नायिका के द्वारा की जाने वाली आत्महत्या है। दुःखांत नाटक रचने वालों में से बहुतों ने अपने पल्लवग्राहि मनोविज्ञान के आधार पर सामान्य बातों के लिए अपने नायक अथवा नायिका को आत्मघात के अंध तमस् में धकेल दिया है। इस प्रकार का आत्मघात, जिसका प्रभव नायक अथवा नायिका के स्वभाव का चिड़चिड़ापन है, रोमांटिक ट्रेजेडी अथवा भावों को गुदगुदाने वाले सामान्य नाटकों में तो किसी सीमा तक सह्य है भी, किंतु मार्मिक जीवन का निरूपण करने वाले उदात्त करुणाजनक नाटकों में इसके लिए स्थान नहीं है। प्रथम कोटि के करुणाजनक नाटकों को जाने दीजिए, उत्कृष्ट कोटि के सुखांत नाटकों में भी इस प्रकार के आत्मघात की उद्भावना नहीं की जाती। और यही कारण

है कि कालिदास की सौम्य शकुंतला, दुष्यंत के द्वारा भरी सभा में प्रत्याख्यात होने पर भी, आत्महत्या करना तो दूर रहा, फिर वन तक को न लौटती हुई, कर्मक्षेत्र में ही जीवनयापन करना श्रेयस्कर समझती है, और इसके अनुसार वह उदात्त संयम तथा प्रशांत कर्मण्यता के पावन संगम पर ही शांतिलाभ करती है। इसके विपरीत हमें इब्सन के हेड्डा गेब्लर और सर आर्थर पिनेरो के दि सेकंड मिसेज़ टैंकेरे में आत्मघात का एक निदर्शन मिलता है। दोनों ही नाटकों में आत्मघात के द्वारा नाटक का जवनिकापतन कराया गया है, किंतु जहाँ इब्सन के द्वारा कराया गया आत्मघात नाटकीय दृष्टि से न्याय्य कहा जा सकता है, वहाँ सर आर्थर द्वारा कराया गया आत्मघात एकमात्र थियेटर की दृष्टि से रोचक माना जा सकता है। पहला मनोविज्ञान के अनुकूल संपन्न हुआ हुआ है, दूसरे में वह बात नहीं आने पाई। इब्सन ने पात्र तथा परिस्थिति का अभूतपूर्व संकलन संपन्न करके हेड्डा के आत्मघात को हमारे लिए न्यायसंगत बना दिया है। हेड्डा एक भावदुष्ट प्रलयंकर प्राणी है; उसे पता चलता है कि उसका जीवन उसकी रोगभरित कल्पना से उद्भावित की गई परिस्थिति में असंभव है; वह अपने हाथों बिछाए काँटों में स्वयं फँस गई है; भविष्य में उसे पाप ही पाप, पतन ही पतन, और विनाश ही विनाश मुँह बाए खड़े दीखते हैं; वह आत्मघात कर लेती है और उसका आत्मघात किसी सीमा तक न्याय्य कहा जा सकता है। इसके विपरीत पौला टैंक्वेरे का, एलीन द्वारा अपने प्रेम

का प्रत्याख्यान किए जाने पर, आत्मघात कर लेना निष्प्रयोजन तथा निराधार दीख पड़ता है।

इसी तत्व के आधार पर हम कहेंगे कि भवभूति ने अपने उत्तर-रामचरित नाटक में दुर्मुख के सीताविषयक लोकापवाद के घोषित करने पर, राम के हाथों गर्भिणी सीता को वन में पठा कर अपने नाटक के प्रमुख नाटकीय आधार सीतावनवास को निर्मूल बना डाला है। हम नहीं समझते कि किस प्रकार श्रीराम जैसे विचारशील राजा सामान्य पुरुष के सामान्य सी बात कहने पर उसकी जाँच-परताल किए बिना ही, अपनी गर्भिणी प्राणप्रिया को, बिना कुछ कहे सुने और बिना कुछ विचारे, वन में पठा सकते हैं। यदि भवभूति को सीतावनवास ही अपने नाटक का आधार बनाना था तो उन्हें उसके लिए किसी विशिष्टतर कारण की उद्भावना करनी चाहिए थी; और उस कारण को उद्भूत करके राम के मन में कर्तव्य तथा प्रेम का तुमुल संघर्ष दिखाना था। भवभूति ने दोनों कामों में से एक भी न करके अपनी नाटकीय कला को सदा के लिए पंगु बना डाला है।

चरित्रचित्रण की गरिमा

चरित्रचित्रण को गरिमान्वित बनाने के लिए उसमें संवादिता, परिपूर्णता, प्रकाशकता, सारवत्ता तथा दर्शनीयता का होना अपेक्षित है। चाहे कोई पात्र शकुंतला के समान सामान्य हो अथवा हैमलेट के समान संकुल, चाहे वह साधारण हो अथवा असाधारण, उस के चित्रण में संवादिता तथा

बुद्धिगम्यता होनी आवश्यक हैं। उस के गौण अंशों तथा व्यापारों का उसकी समष्टि तथा उसके प्रमुख व्यापार के साथ सामंजस्य होना चाहिए। चरित्रचित्रण की गरिमा उसकी परिपूर्णता पर भी निर्भर है। चरित्रचित्रण को नाटक में पढ़ कर अथवा उसे रंगमंच पर उघड़ता हुआ देख कर हमें प्रतीत होना चाहिए कि हम उसे तीन परिमाणों में-- अर्थात् विचार, वाणी और व्यापार इन के भीतर—उद्‌घटित होता देख रहे हैं। वे पात्र, जिनका विवरण ऊपर कहे तीन परिमाणों में से दो या एक परिमाण में किया जाता है, विशद तथा परिमेय भले ही संपन्न हो जाँय, उनमें सजीवता और गतिमत्ता नहीं आ पाती। उदात्त पात्रों में प्रकाशकता का होना भी वांछनीय है, जिसका आशय यह है कि वे चाहे थोड़ा ही बोलें, किंतु जो कुछ बोलें, वह उन के हृदय से निकला होना चाहिए, और औचित्य, अभिव्यंजकता, प्रकाशकता आदि गुणों से अलंकृत होना चाहिए। वास्तव में एक प्रकाशकतासंपन्न पात्र की वाणी में इस प्रकार की गूँज होनी चाहिए जो उसकी अपनी हो और जो और किसी भी पात्र के कंठ में न मिल सके। पात्र में, चाहे वह प्रधान हो अथवा गौण, दर्शनीयता भी अपेक्षित है। इसका यह आशय नहीं है कि हम उस की ऊँचाई, मोटाई तथा गोलाई आदि के द्वारा उसे माँप सकें। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि हमें उस पात्र के विषय में उसके आकारप्रकार, उसकी मुद्रा, भावभंगी, ईहा और इंगित आदि का आभास होना चाहिए। **किंतु संभवतः चरित्रचित्रण की**

गरिमा का इन से भी बड़ा निर्णायक तत्त्व पात्र की सारवत्ता है। कलाकार की किसी अनूठी ही कल्पना, पर्यवेक्षण, निर्माणशक्ति, तथा कलाकारिता के गर्भ में से ऐसे सजीव पात्रों की प्रसूति हुआ करती है। ऐसा पात्र, चाहे वह कलहकारी हो अथवा पोच, चाहे वह प्रतिभा का पुतला हो अथवा कोरा आततायी, वह जो कुछ भी हो, उसके लिए मनस्वी और ऊर्जस्वी होना आवश्यक है। **नाटकीय कला का सबसे बड़ा रहस्य इसी बात में है; क्योंकि इस में नाट्यकार परमात्मा के समान** विधाता **बन जाता है; शब्दों की तरल सामग्री में से वह ऐसे घन प्राणी उत्पन्न करता है, जो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वास्तविक होते हैं, जो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक ऊर्जस्वी होते हैं और जिनसे हम इतने अधिक परिचित हो जाते हैं, जितने स्वयं उनके रचने वाले नाट्यकार से नहीं।**

कथोपकथन

कथावस्तु, जिसके द्वारा हम **पात्र को व्यापार में** देखते हैं, पात्रों की रूपरेखा को ही व्यक्त कर सकता है, और इस काम को भलीभाँति पूरा करने के लिए भी यह आवश्यक है कि इसकी रूप-रेखाएँ उभरी हुई हों और यह स्वयं गतिमत्ता से सजीव हो; इसकी गंभीर परिस्थितियाँ ऐसी उघड़ी हुई हों कि उनके आशय को विपरीत समझना असंभव हो, और अंत में उसके पात्र अपेक्षाकृत विपुलता तथा ऋजुता से उपेत हों। किंतु चरित्रचित्रण के विस्तार के लिए और पात्रों के विचार, प्रयोजन, तथा मनोवेगों की उत्पत्ति, वृद्धि,

तथा परिणाम के संप्रदर्शन के लिए हमें व्यापार पर से आँख हटा कर, उसके साथ साथ चलने वाले पात्रों के **कथोपकथन** पर ध्यान देना होगा, जिसकी गरिमा उन नाटकों में और भी अधिक विपुल हो जाती है, जिनका अत्यन्त संबंध मनोविज्ञान से है और जिनकी कथावस्तु का संबंध व्यापार की अंतस्तली में पैठी हुई आंतरिक शक्तियों से है, न कि उन बाह्य घटनाओं से, जिनके रूप में वे अपने आप को प्रवाहित करती हैं। और इस दृष्टि से देखने पर **कथोपकथन** व्यापार का एक आवश्यक सहचर ही नहीं, अपि तु उसका एक मार्मिक अंग बन जाता है और वार्तालाप के माध्यम में उघड़ने वाली कथा का, इसके द्वारा पदपद पर विवरण होता है।

कहना न होगा कि वार्तालाप के समान कथोपकथन की भी दो वृत्तियाँ हैं: एक **उपयोगिनी** और दूसरी **अनुपयोगिनी**। उपयोगी कथोपकथन वह है जो कथावस्तु को गतिमान् बनाता, पात्रों के विचार, मनोवेग तथा उनके मार्मिक स्तरों को विवृत करता और विधान का वर्णन करता है। दूसरी ओर **अनुपयोगी** कथोपकथन अपनी कवीय उदात्तता तथा काल्पनिक विशदता से, अथवा अपनी उपहासकता आदि वृत्तियों से हमारी रुचि को प्ररोचित करता है।

सामान्य वार्तालाप और नाटकीय कथोपकथन में मौलिक भेद यह है कि जहाँ सामान्य वार्तालाप उखड़ा-पुखड़ा, निरुद्देश्य, विषय से विषयांतर पर भटकने वाला होता है, वहाँ नाटकीय

कथोपकथन पर नाटक के उस दृश्यविशेष का—जिसका कि कथोपकथन एक अंश है—नियंत्रण रहता है;

सामान्य वार्तालाप तथा कथोपकथन में अंतर

यह कथावस्तु को गतिमान् बना कर परिणाम की ओर अग्रसर करता है; कभी कभी यह प्रधान अथवा गौण पात्रों की विशिष्ट मनोवृत्तियों को उघाड़ कर प्रेक्षकों के संमुख रखता है और कलाकारिता की दृष्टि से चरम परिपाक को पहुँचा हुआ कथोपकथन तो इन सब कामों को एक साथ पूरा करता है। कथोपकथन के इन नपे-तुले उपयोगों को ध्यान में रखते हुए एक नाट्यकार को इस बात का अधिकार नहीं रह जाता कि वह चमत्कार, अनूठेपन अथवा सौष्ठव के आवेग में आ, नाटकीय वायुमंडल की आवश्यकताओं को भुला, अपने कथोपकथन के निरर्थक टीपने में बह जाय। उसे अपने कथोपकथन को काट-छाँट कर, माँज-पूँछ कर, सीधा खड़ा करना होगा; और परिष्कार की इस प्रक्रिया में से गुजरता हुआ उसका कथोपकथन स्वयमेव सोद्देश्य, सनिर्देश तथा सुयोग्य संपन्न हो जायगा।

कथोपकथन का उपयोग

नाटकीय कथोपकथन के उपयोगों में सब से प्रमुख है कथावस्तु को गतिमान् बना कर अग्रेसर करना। कथोपकथन अपने इस काम को अनेक प्रकार से पूरा कर सकता है। **इन सब प्रकारों में दो प्रमुख हैं: पहला, रंगमंच पर दिखाए जाने वाले**

व्यापार का सहकारी बन कर; दूसरा, रंगमंच से अलग होने वाले व्यापार का सूचक बन कर।

रंगमंच पर उघड़ने वाले व्यापार में कथोपकथन द्वारा विश्वसनीयता आ जाती है; और यदि कहीं नाटक को देखने वाले प्रेक्षक वर्ग कुछ तार्किक भी हुए तो स्वभावतः उनकी रुचि पात्रों के व्यापार में केंद्रित न हो, उस व्यापार का उन पात्रों की दृष्टि में क्या आशय है, इस बात में, अर्थात् व्यापार की बाह्यता से हट कर उसकी आंतरिकता पर केंद्रित होगी; और इस दृष्टि से देखने पर, यह बात, कि पात्रों के वर्गविशेष के आस्पद तथा उत्कर्ष में किंचित् भी परिवर्तन आ जाने पर उनके मन में विचारों और मनोभावों का कैसा संकुल उमड़ पड़ता है, इतनी ही अधिक रुचिकर बन जाती है जितने कि बड़े बड़े राजाओं के तुमुल संग्राम। प्रथम कोटि के मनोवैज्ञानिक नाटकों के कथोपकथन का विश्लेषण करके देखने पर ज्ञात होगा कि उनके कथोपकथन की रुचिरता तथा गरिमा का सब से बड़ा उपकरण है उनके द्वारा उद्भावित होने वाला, रंगमच पर दिखाई गई अथवा न दिखाई गई घटनाओं के प्रत्युत्तर में उठने वाली मनोवैज्ञानिक दशाओं का अविछिन्न पारंपर्य।

रंगमंच पर न दिखाए जाने वाले व्यापार की प्रेक्षकों तक सूचना पहुँचाने में तो कथोपकथन की उपयोगिता व्यक्त ही है। यह व्यापार भी दो प्रकार का है: पहला वह व्यापार, जिसकी वृत्ति दूसरी बातों का व्याख्यान करना है; दूसरा वह

व्यापार जो पहले से प्रवाहित की गई कथावस्तु के विकास के लिए आवश्यक तो है, किंतु जिसका किसी कारण रंगमंच पर प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। नाटक के आरंभ होने से पहले होने वाली घटनाओं को प्रेक्षकों तक पहुँचाने का प्रमुख साधन ही कथोपकथन है।

रंगमंच पर न दिखाए जाने वाले व्यापार को प्रेक्षकों तक पहुँचाने की कला जितनी ग्रीक आचार्यों के हाथों परिष्कृत तथा उपयोगिनी संपन्न हुई है उतनी नाटकीय साहित्य के किसी भी दूसरे युग में नहीं हो पाई। उग्र हिंसा के व्यापारों को रंगमंच पर न दिखाने की ग्रीक आस्था के कारण चाहे जो भी हों, उनकी इस सरणि ने इस प्रकार की घटनाओं को प्रेक्षकों तक पहुंचाने के उद्देश्य से नाटक में दूतप्रवेश की वह प्रथा चलाई जो आगे चलकर बहुत ही उपयोगिनी तथा बलवान् संपन्न हुई। इस विषय में उनको सफलता का एक उपकरण यह भी है कि उन्होंने नाटकीय कथोपकथन का प्रवेश उस प्रसंग पर कराया होता है, जब कि पात्र और प्रेक्षक दोनों ही वर्णित किए जाने वाले व्यापार के प्रति उत्सुकमना होते हैं; क्योंकि हम जानते हैं कि प्रेक्षकवर्ग, जिस व्यापार अथवा व्यापारपरंपरा में उनकी उत्सुकता और रुचि उत्कट हो चुकी है, उसके विषय में किए जाने वाले वर्णन को, चाहे वह कितना भी विस्तृत क्यों न हो, सुनने के लिए धीर बने रहते हैं।

हमने अभी कहा था कि नाटकीय कथोपकथन की

उपयोगिनी तथा **अनुपयोगिनी** ये दो वृत्तियाँ होती हैं। जहाँ इसकी पहली विधा से कथावस्तु में गतिमत्ता आती है, चरित्रचित्रण होता है, विधान का वर्णन होता है, वहाँ इसकी दूसरी विधा प्रत्यक्षतः इनमें से कोई काम न करती हुई भी अपने आपे में ही नितांत रुचिकर होती है। किंतु जहाँ कथोपकथन की पहली विधा में, कथा और व्यापार के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध होने के कारण नाटक को ऋजु मार्ग से इधर उधर भटकने का भय कम रहता है, वहाँ उसकी दूसरी विधा में, व्यापार आदि के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध न होने के कारण यह भय बराबर बना रहता है। किंतु इस प्रकार की आशंकाएँ रहने पर भी गंभीर तथा सामान्य दोनों ही प्रकार के नाटकों में इस कोटि के कथोपकथन का स्वच्छंद प्रयोग होता आया है। सामान्य कोटि के नाटकों में तो इसका प्रयोग पराकाष्ठा को पहुँच गया है; और इस दृष्टि से विचार करने पर भवभूति तक के नाटकों में इस कोटि के कथोपकथन का आवश्यकता से अधिक उपयोग हमें अखरने सा लगता है। इतना ही नहीं, शेक्सपीअर तक के नाटक हमें इस दोष से स्वतंत्र नहीं दीख पड़ते। और जब हम इस दृष्टि से उनकी अमर रचना हैमलेट का अनुशीलन करते हैं, तब हमें उसके चतुर्थ दृश्य में आने वाला वह सारे का सारा प्रकरण, जिसमें मद्यपान की जातीय प्रथा का अनावश्यक प्रसार किया गया है, नीरस तथा दोषावह प्रतीत होने लगता है। और यदि करुणाजनक जैसे

अनुपयोगी कथोपकथन

गंभीर नाटकों में भी इस कोटि के कथोपकथन का इस सीमा तक अभिनंदन किया जा सकता है, तो सुखांत नाटकों अथवा प्रहसनों के विषय में—जिनका प्रमुख लक्ष्य ही प्रेक्षकों का मनोविनोद करना है—कहना ही क्या। यहां तो जिस किसी बात से भी प्रेक्षकों का चित्तरंजन संभव हो उसका प्रवेश कराया जा सकता है। वस्तुतः एक नाट्यकार के लिए यह वांछनीय है कि वह, चाहे उसका कथोपथन **उपयोगी** हो अथवा **अनुपयोगी**, उसे हर प्रकार से चित्तरंजक बनावे; काट-छाँट कर मनोरंजक तथ्यों द्वारा उसे ऐसा सुघड़ बनावे कि वह, कथा को अग्रसर बनाने आदि, जो उसके प्रत्यक्ष लक्ष्य हैं, उन्हें पूरा करता हुआ, स्वयं अपने आपे में भी एक रमणीय तथा चमत्कारी वाक्यवर्ग बन जाय।

पद्यबंध कथोपकथन

यहाँ पर इस समस्या के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है कि संसार के उत्कृष्ट नाटक, चाहे वे करुणाजनक हों अथवा सुखांत—किस लिए सदियों तक पद्य में लिखे जाते रहे हैं। चाहे यह काम नाटकीय अभिनय को, दृश्यमान जीवन की सामान्य परिधि से पृथक् करके उसे आदर्श के क्षेत्र में पहुँचाने के लिए किया गया हो, अथवा नाटकीय वस्तु को कल्पनाभरित आवृत्तिमयी भाषा के चित्रपट पर खचित करके उसमें रुचिरतासंपादन के लिए, इसमें संदेह नहीं है कि **पद्यबंधन की प्रथा का आदि काल से ही नाटकीय कला के साथ संबंध रहता आया है।**

और यह बात तो बहुत पीछे जा कर हाल ही हुई है कि नाट्यकारों ने कम से कम करुणाजनक गंभीर नाटकों में पद्य का प्रत्याख्यान करके गद्य का आश्रय लिया है। फलतः पद्यबद्ध नाटकीय कथोपकथन पर भी ऐतिहासिक विकास की वे सभी बातें घटनी स्वाभाविक हैं जिनका हम सामान्य कविता के विषय में पहले अनुशीलन कर चुके हैं। और यह एक साहित्य के क्षेत्र में सचमुच बड़े ही आश्चर्य की बात है कि नाट्यकारों ने अपने कथोपकथन को पद्य में खड़ा करते हुए भी उसे नाटकीय अभिनय के प्रतिफलन और अग्रसारण में इतने सूक्ष्म तथा व्यापक रूप से समर्थ बनाया है कि उसने कलाकार के संकेत के अनुसार पात्रों की सूक्ष्मतम मनोवृत्तियों, गुप्ततम ईहाओं, तथा चपलतम भावभंगियों पर मनचाहा प्रकाश डाला है। वस्तुतः किसी भी **साहित्य का सुवर्णयुग वही माना गया है, जब कि उस साहित्य के सब से उत्कृष्ट नाट्यकार, साथ ही, उत्कृष्टतम कवि भी हुए हैं।**

नाटकीय कविता में उन सब आकर्षणों के साथ साथ, जो एक कविता में स्वभावतः होते हैं, वे सब अतिरिक्त विशेषताएँ भी होती हैं, जो नाटकीय तत्त्व के संनिधान द्वारा हमारे कथन में निसर्गतः आ जाया करती हैं। फलतः किसी भी साहित्य के सुवर्णयुगीन नाटकीय कवि की रचनाओं का विस्तृत विवेचन नाटकीय कविता के मार्मिक निदर्शन के लिए आवश्यक हुआ करता है; और उसमें हमें नाटकीय तत्त्वों के साथ साथ

कविता के रीति, छंद, तथा चमत्कार आदि सब उपकरणों को एक साथ मिला कर नाटकीय कविता का सौष्ठव परखना होता है।

यहां पर इस विषय की विवेचना करना अप्रासंगिक होगा कि नाटकीय क्षेत्र में कब और किन कारणों से पद्य का प्रत्याख्यान करके गद्य का सूत्रपात किया गया। इस बात के कारणों पर हम ने गद्य के प्रकरण में प्रकाश डाला है; पाठकों को उसे वहीं देखना चाहिए।

गद्यबद्ध कथोपकथन

आरंभ में, नाटकों के वे प्रकरण—जिनमें नाट्यकार ने अंतर्मुखीन हो जीवन की तलैटी में पैठ, वहां के भावरूप रत्नों को भाषा के प्रच्छदपट पर जड़ा है, अनायास ही पद्यों में मुखरित हुए हैं; इसके विपरीत वे प्रकरण, जिनमें उसने जीवन की सतह के सामान्य भावों को टटोला है, अपेक्षाकृत न्यूनरस वाले होने के कारण गद्य की सरणि में खड़े हुए हैं। शनैः शनैः प्राचीन जीवन के आधुनिक जीवन में परिवर्तित होने पर, और उसके साथ ही विगत साहित्य के प्रचलित साहित्य के रूप में बदल जाने पर, नाटकीय कविता का स्थान भी नाटकीय गद्य ने ले लिया; आगे चल कर जिसका परिपाक आधुनिक नाट्यकारों के उन नाटकों में हुआ, जिनमें कविता का नाम नहीं है और अशेष नाटक की परिनिष्ठा गद्य ही में संपन्न हुई है। कहना न होगा कि इस परिवर्तन के द्वारा जहां नाटक के, कविता

की कल्पनाभरित कुक्षि से दूर हो जाने के कारण उसके आकर्षण में न्यूनता हुई, वहां वह गद्य में परिनिष्ठित होने के कारण पहले की अपेक्षा, जीवन के कहीं अधिक समीप आ गया; और हम पहले ही देख चुके हैं कि जीवन का प्रतिनिधान ही नाटक का प्रमुख लक्षण है। किंतु जहां कविता के उत्तुंग मंच से उतर गद्य की निम्नस्थली में आ जाने के कारण नाटक के जीवनप्रदर्शन में यथार्थता आई, वहां साथ ही नाटकीय कथोपकथन को प्रतिदिन के जीवन में व्यवहृत होने वाले वार्तालाप जैसा बनाने की प्रवृत्ति के द्वारा उसमें नीरसता आ जाने का भय भी उत्पन्न हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक युग के नाटकों में यदि उत्कृष्ट कोटि की जीवन का अनुकरण करने की शक्ति है, तो उनमें सामान्यतया उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिकता नहीं मिलती; उनके द्वारा व्यवहृत किए गए कथोपकथन को सुनते पढ़ते प्रेक्षकों और पाठकों का मन ऊब जाता है; और स्मरण रहे, मन का ऊब जाना एक नाटक की नाटकीयता के लिए सब से बड़ा घातक है। कथोपकथन को जीवन में व्यवहृत होने वाले वार्तालाप के अनुकूल बनाते हुए भी उसे साहित्य की दृष्टि से उत्कृष्ट बनाना आधुनिक नाट्यकार की दक्षता का श्रेष्ठ परिचायक है।

कहना न होगा कि एक कलाकार की कलावत्ता इस बात से परखी जाती है कि वह किस प्रकार जीवन को कला में परिवर्तित करता है; और एक चतुर नाट्यकार अपनी नाटकीय

कला का आधार अपने उस कथोपकथन को बनाया करता है, जिसे वह अपने पात्रों के मुँह से उच्चरित कराता है। **यदि कथा का घटन नाटक का ढांचा है तो कथोपकथन को हम उस ढांचे को अनुप्राणित करने वाला रुधिर तथा प्राण कह सकते हैं।** समालोचकों ने अब तक **नाटक** के रीतितत्त्व की विवेचना पर समुचित ध्यान नहीं दिया है। एक समालोचक नाटक के विधान, उसके विषय, उसकी देशकालपरिस्थिति, उसके पात्र, और इन सब तत्त्वों का पारस्परिक संबंध, इन सब बातों की विवेचना करता हुआ भी उसके मार्मिक अंग, अर्थात् नाटकीय रीति को अछूता छोड़ सकता है। किंतु वह कौन सा तत्त्व है, जो थिएटर में आंतरिक चित्तोद्वेग तथा आनंद उत्पन्न करता है, जिसकी, किसी भव्य नाटक में पात्रों के शब्दोच्चारण करते ही उत्पत्ति होजाती है और जो नाटकीय प्रतिभा के उत्थान और पतन के साथ साथ स्वयं भी किसी नाटक में चमका और छिप जाया करता है। नाटक का चरम सार यही तत्त्व है; इसको प्रयत्न द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता; किंतु अपने विद्यमान होने पर यह छिपाए नहीं छिप सकता। इसे हम केवल शाब्दिक चमत्कार नहीं कह सकते। कुछ नाटकों का तो जीवन ही इसके आधार पर है; उदाहरण के लिए, ओस्कर वाइल्ड तथा कौंग्रेव के नाटकों की थिएटर से बाहर की सत्ता एकमात्र उनके चोजभरे कथनों में है। इनका जगत् मंजे हुए चामत्कारिक शब्दविन्यास में है। रह रह कर उनकी वाक्यावलि हमारे

मन में उठती है। भवभूति आदि कविसामंतों की रचनाएं अपने तालमय शब्दविन्यास के आधार पर अब तक खड़ी हुई हैं। रसों की नानाविध लहरियों में प्रवाहित होने वाली गीति में उनके नाटकों के दोष छिप जाते हैं और नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से कृपण होने पर भी इनके नाटक अब तक जनता द्वारा अपनाए जाते रहे हैं। किंतु मार्मिक नाटकीय सार तो आवृत्तिमय भाषा के इन ऊपरी प्रभावों की अपेक्षा कहीं अधिक गहन तथा सांद्र होता है। **इसे हम कहते हैं कथोपकथन में लोकातिशायिनी शक्ति का संचारः**; इसके द्वारा शब्द एक अजीब ही, अनूठी ही, अभिव्यंजकता धारण कर लेते हैं। जब हम कालिदास-रचित शकुंतला में शकुंतला को अपनी सखियों तथा आश्रमवासियों के साथ वार्तालाप करता देखते हैं, तब हमें अपनी आंखों के आगे जिस प्रकार पेट्रल पंप में तैल ऊपर चढ़ता और उतरता दीख पड़ता है, इसी प्रकार शकुंतला की स्वर्णाभ गात्रयष्टि में मनोवेगों की वीचियां उल्लोलित होती दीख पड़ती हैं। इसी प्रकार जब हम शेक्सपीअर के जूलियस सीजर में ब्रूटस और कैशियस का कथोपकथन पढ़ते हैं, तब प्रतिपंक्ति, प्रतिपद और प्रतिवर्ण हमारा आत्मा पारस्परिक विद्वेष, असहशीलता तथा घृणा की उन्हीं लपटों में झुलस उठता है जो उन दोनों के हृदयों में दहाड़ती दीख पड़ती हैं। पता नहीं शेक्सपीअर की किस अलौकिक कला ने उनके कथोपकथन में वह विद्युद्गति पैदा की है जो बिजली के बटन को छूने के नांई कथोपकथन पर आंख या कान

देते ही हमारे हृदय को नानाविध रसों की उत्ताल तरंगों से आप्लावित कर देती है। चतुर नाट्यकारों ने अपने कथोपकथन को उदात्त भावनाओं के क्षेत्र में ही सबल नहीं बनाया, जीवन के साधारण क्षेत्र में रख कर भी चेखोव आदि कलाकारों ने उसे उतना ही गतिमान् तथा बलवान् बनाया है।

देशकालविधान

क्योंकि सभी घटनाएं, न केवल एक समयविशेष में, अपि तु एक स्थानविशेष पर घटा करती हैं, इस लिए एक नाट्यकार का कर्तव्य होता है कि वह थोड़े बहुत विस्तार के साथ देश और काल के उस विधान का निदर्शन भी करा दे, जिस में कि उसके द्वारा वर्णित की गई घटनाएं घटित हुई हैं। परंतु क्योंकि इने-गिने विश्वजनीन नाट्यकारों को छोड़, शेष सभी नाट्यकारों को अपने अपने युग के थिएटर पर ध्यान रखते हुए ही नाटकरचना करनी पड़ी है, इस लिए हमें भी उस उस युग के थिएटर पर ध्यान देते हुए ही देशकालविधान का निदर्शन कराना होगा।

यूरोप के नाट्यकारों के संमुख क्रम से चार प्रकार का थिएटर रहता आया है। पहला प्राचीन काल का **स्थायिविधान रंगमंच** (permanent-set stage); दूसरा **चलनशील** अथवा **निश्चल प्लेटफार्म रंगमंच** (moving or stable platform-stage) जो इंगलैंड के मध्ययुग अथवा नवजननयुग (Renaissance) में बरता जाता था; तीसरा परावर्तन युग (Restoration) के अंत से लेकर १९वीं शताब्दी के अंत तक बरता जाने वाला

चित्रसंस्थान रंगमंच (picture-frame stage) और चौथा बीसवीं शताब्दी का **यांत्रिक रंगमंच** (mechanized stage)।

क्लासिकल नाटक का विधान

विधान की दृष्टि से प्राचीन युग के स्थायिविधान रंगमंच वाले थिएटर में नाट्यकार को देशविधान का अपेक्षाकृत न्यून अवसर मिलता था। करुणाजनक नाटकों का विधान या तो किसी मंदिर में होता था, अथवा राजप्रासाद में, जिसका वर्णन करने की विशेष आवश्यकता नहीं होती थी; और नाट्यकार इन स्थानों की शांति अथवा गरिमा आदि की ओर संकेत करके अपनी रचना में उपयोगी वायुमंडल का विधान कर देते थे। सुखांत नाटक का विधान बहुधा राजपथों पर होता था, जहां कि उन में भाग लेने वाले पात्र साधारणतया रहा करते थे। इस प्रकार के नाटकों में कभी कभी रंगमंच का संघटन करने वाले सूत्रधार आदि को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। अरिस्टोफेनीस-रचित दि बर्ड्स तथा दि क्लाउड्स आदि के विधाननिर्माण के लिए कभी कभी व्यवस्थापक को बड़ी कठिनाई होती थी, और जिन देशों अथवा स्थानों का रंगमंच पर विधान नहीं किया जा सकता था, उनको उन दिनों की जनता, कल्पना के द्वारा कृत लेती थी। राजपथों के आधार पर खड़े होने वाले सुखांत नाटकों को खेलने में भी बहुधा कठिनाई होती थी। इन नाटकों में घर के भीतर होने वाली घटनाओं तथा कथोपकथनों को राजपथों पर ला कर दिखाना पड़ता था; और क्योंकि प्राचीन ग्रीस में

संमानित घरों की महिलाएं बहुधा असूर्यंपश्या होती थीं और उनका राजपथों पर लाना अस्वाभाविक प्रतीत होता था इस लिए हमें उस काल के नाटकों में बहुधा ऐसी स्त्रियां भाग लेती दीख पड़ती हैं, जिनका समाज में अपेक्षाकृत नीचा स्थान होता था।

मध्ययुगीन नाटक का विधान

इंगलैंड के मध्ययुगीन नाटक में, जिसका रंगमंच एक **निश्चल अथवा चलनशील प्लेटफार्म** होता था, एक नाट्यकार को विधानविषयक अनेक नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ता था। मध्ययुगीन धार्मिक नाटक में **प्रदर्शन गाड़ी** (pageant wagon) की स्टेज के, प्रेक्षकों के लिए चहुँ ओर से खुला होने के कारण विधान की आवश्यकता बहुत कुछ न्यून हो जाती थी। **निश्चल प्लेटफार्म वाले** नाटकों में विधान को दर्शाने का विशेष प्रयत्न न करके उसकी ओर **संकेतमात्र** कर दिया जाता था। विधान-प्रदर्शन में किसी सीमा तक पात्रों की विशेष प्रकार की वेषभूषा से भी स्थान और काल का संकेत कराया जाता था।

इलीज़ाबीथ नाटक का विधान

मध्ययुग के आरंम्भिक **प्लेटफार्म-रंगमंच** की अपेक्षा नव-जननयुगीन इंगलैंड का **प्लेटफार्म-रंगमंच** बहुत सी बातों में बढ़ा हुआ था। पब्लिक थिएटरों में रंगमंच इतना आगे की ओर सरका होता था कि उसके तीन ओर निम्नस्थ प्रेक्षक खड़े हो सकते थे। साथ ही प्रधान रंगमंच के साथ एक आंतरिक रंगमंच भी होता था,

जिसको, बीच में परदा डालकर, प्रधान रंगमंच से पृथक् किया जा सकता था। किंतु जहां प्राचीन नाटक में विधान का परिवर्तन न होने के कारण एक प्रकार की सादगी थी, वहां इस युग के नाटक में विधानसंबंधी यथेष्ट परिवर्तन करने की प्रथा ने नाट्यकारों पर, समय समय पर बदलने वाले विधानविशेषों को जनता के लिए स्पष्ट करने की आवश्यकता का सूत्रपात भी कर दिया। किंतु यह सब कुछ होने पर भी इस काल के नाटक में भी देशविधान को पूरी पूरी सफलता न मिल सकी और उसका कुछ अंश तो सुतरां अनिर्धारित ही रह जाता था और कुछ का नाट्यकार को अपनी रचना में वर्णन करके निदर्शन कराना पड़ता था।

रिस्टोरेशन के पश्चात् का विधान

चित्रसंस्थान-रंगमंच—जिसका इंगलैंड तथा यूरोप के शेष देशों में रिस्टोरेशन से लेकर १९ वीं सदी के अंत तक प्रचार रहा है—विधान की दृष्टि से प्राचीन रंगमंच—जिसके दृश्य में विधानसंबंधी परिवर्तन न होता था, और इलीभावीथन युग के रंगमंच, जिसमें विधानसंबंधी परिवर्तन बहुधा और शीघ्रता के साथ हुआ करते थे—बीच में आता था। पहले की अपेक्षा इसमें विधान का परिवर्तन अधिक होता था और दूसरे की अपेक्षा न्यून।

रंगमंच के इस रूप ने नाट्यकार का विधानसंबंधी भार बहुत कुछ न्यून कर दिया। वह अपने नाटक के लिए आवश्यक वायुमंडल की ओर संकेत करता हुआ अभीष्ट रंगमंचीय सामग्री

का निर्देश कर देता था; जिसकी पूर्ति करना चित्रलेखक तथा वेषभूषा को बनाने वाले कलाकारों का काम होता था। शनैः शनैः इन नाटकों के विविध दृश्यों में बदल बदल कर आने वाले सभी विधानों को कलाकारों ने चित्रों में खींच दिया, जिससे नाटक खेलने वालों को बहुत कुछ सुविधा हो गई।

साहित्य में यथार्थवाद का सूत्रपात होने पर नाट्यकार तथा चित्रकार, विधान की दृष्टि से दोनों ही की उत्तरदायिता बढ़ गई; क्योंकि यथार्थवाद का एक परिणाम हुआ उपन्यास तथा नाटक दोनों ही में विधान और वातावरण की अतिशय देशीयता (localization)। इसी कारण वर्तमान युग में लिखे जाने वाले नाटकों में बहुधा छात्रों को विधानसंबंधी विस्तृत निर्देश मिला करते हैं। और यद्यपि अमेरिका और यूरोप दोनों ही के थिएटरों में अभी तक **चित्रसंस्थान-रंगमंच** पर ही अभिनय किया जाता है, तथापि यह स्मरण रखना चाहिए, कि वर्तमान युग के यांत्रिक आविष्कारों ने—जिनमें विद्युत् प्रधान है—रंगमंच तथा उसके साथ संबंध रखने वाली सभी बातों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। विधान में भी अब चित्रकार का हाथ प्रासाद, राजपथ, उद्यान, सरोवर आदि तक ही परि-सीमित न रह, पर्वत, वन, समुद्र तथा भयंकर से भयंकर और दूरातिदूर देशों और स्थानों पर चलने लगा है और रंगमंच पर होने वाले जो परिवर्तन अब तक हाथ द्वारा किए जाते थे, अब बिजली से किए जाने लगे हैं; और दृश्यों की जिस विविध रंग

रूपता को संपन्न करने के लिए अब तक मोमबत्ती आदि से काम लिया जाता था, अब बिजली के रंगबिरंगे बल्वों द्वारा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह से संपन्न किया जाता है।

संकलनत्रय

नाटकीय विधान का संक्षेप में वर्णन हो चुका; अब हमें नाटकीय वस्तु, काल तथा स्थल के संकलन पर ध्यान देना है। प्राचीन यूनानी आचार्यों ने यह सिद्धांत स्थिर किया था कि **आदि से अंत तक अशेष अभिनय किसी एक ही कृत्य के संबंध में होना चाहिए, किसी एक ही स्थान का होना चाहिए और एक ही दिन का होना चाहिए,** अर्थात् एक दिन में एक स्थान पर जो कुछ कृत्य हुए हों, उन्हीं का अभिनय एक बार में होना चाहिए। नाटकरचना का यह नियम ग्रीस से इटली में और इटली से फ्रांस में पहुँचा था, जहां इसका बहुत दिन तक पालन होता रहा। किंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात हो जायगा कि संकलनसंबंधी यह नियम, उठती हुई ग्रीक कला की दृष्टि से कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न रहा हो, इसका उत्कृष्ट कोटि के कलाकारों ने पालन नहीं किया और शेक्सपीअर जैसी प्रतिभाओं ने तो इस पर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया। उनके नाटकों में से प्रायः सभी में अनेक स्थानों और अनेक वर्षों की घटनाएँ आ जाती हैं। प्राचीन काल के ग्रीक नाटक अपेक्षाकृत सादे होते थे और उनमें बहुधा

तीन या पांच पात्र हुआ करते थे। फलतः उन नाटकों में संकलन के उक्त नियमों का पालन सहजसाध्य था। किंतु वर्तमान काल के नाटकों और रंगशालाओं की अवस्था उस समय के नाटकों और रंगशालाओं से सुतरां भिन्न प्रकार की है; इसी लिए इन नियमों के पालन की अब न तो आवश्यकता ही रह गई है और न इनका पालन आज-कल संभव ही है। हां, हम मानते हैं कि नाटककार को अपनी रचना में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथा का निर्वाह आदि से अंत तक सुतरां समंजस हो, आदि से अंत तक उसका एक ही मुख्य कथावस्तु और एक ही मुख्य सिद्धांत हो। कुछ गौण कथावस्तुएं और सिद्धांत भी उसमें स्थान पा सकते हैं, पर उनका समावेश इस प्रकार संपन्न होना अभीष्ट है कि मूल कथावस्तु के साथ उनका अटूट संबंध स्थापित हो जाय और वे उससे उखड़े-पुखड़े न दीख पड़ें।

कालसंकलन

कालसंकलन का मौलिक आशय यह था कि जो कृत्य जितने समय में हुआ हो उसका अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिए। प्राचीन ग्रीक नाटक दिन-दिन और रात-रात भर होते रहते थे; फलतः ग्रीस के प्रख्यात तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने यह नियम निर्धारित किया था कि एक दिन और रात, अर्थात् चौबीस घंटों में जो जो कृत्य हुए अथवा हो सकते हों, उन्हीं का समावेश एक अभिनय में होना चाहिए। पीछे से फ्रांस के प्रख्यात दुःखांत नाटककार कौर्नेय्य

ने काल की इस अवधि को चौबीस घंटे से बढ़ा कर तीस घंटे कर दिया। पर साधारणतः नाटक तीन चार घंटे में पूरे हो जाते हैं; फलतः यदि चौबीस अथवा तीस घंटों का काम तीन या चार घंटो में पूरा हो सकता है तो फिर छः मास या वर्ष भर का अथवा उससे भी कहीं अधिक काल का काम उतने ही समय में क्यों नहीं समाप्त किया जा सकता। यदि कालसंकलन का यूनानी अथवा फ्रांसीसी आशय लिया जाय तो फिर आज-कल की दृष्टि से किसी अच्छे नाटक की सृष्टि हो ही नहीं सकती। हां, इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार से किया जाय कि उसके मध्य का अवकाश, चाहे वह थोड़ा हो अथवा बहुत, चाहे वह कतिपय मास का हो अथवा कई वर्षों का, प्रतीत न होवे, और प्रेक्षक गण एक दृश्य से दूसरे दृश्य में ऐसे सरकते जांय, जैसे हम अनजाने दिन से रात में और रात से दिन में खिसक जाते हैं।

शकुंतला नाटक के पहले अंक में राजा दुष्यंत की शकुंतला के साथ भेंट होती है। तीसरे अंक में पहले उनका मिलाप होता है और पश्चात् दोनों का बिछोह हो जाता है। इसके उपरांत बीच में जो समय बीतता है उस पर हमारा ध्यान नहीं जाता और सातवें अंक में दुष्यंत अपने कुमार सर्वदमन को सिंह के शावकों के साथ खेलता हुआ पाते हैं। कालसंकलन की ग्रीक अथवा फ्रांसीसी रीति से देखने पर शकुंतला नाटक हास्यास्पद प्रतीत होगा; किंतु कालसंकलन की भारतीय दृष्टि से वह अत्यंत ही

रमणीय संपन्न हुआ है। प्रेक्षकवर्ग जिस समय नाटक देखने बैठते हैं उस समय वे रसमग्न हो जाते हैं, और अभिनय से उत्पन्न होने वाले रस में निमग्न हो जाने पर उन्हें घटनाओं के बीच का समय प्रतीत ही नहीं होता, और कालिदास की अनूठी जादूगरी के द्वारा वे एक अंक से दूसरे अंक में और एक घटना से दूसरी घटना पर ऐसे आ विराजते हैं जैसे नदी में प्रवाहित होने वाले काष्ठफलक पर बैठा हुआ पक्षी नदी की लहरियों को देखता हुआ, अनजाने, उसके एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जा पहुँचता है।

स्थलसंकलन

स्थलसंकलन का प्राचीन आशय यह है कि नाटक की रचना ऐसी होनी चाहिए जो एक ही स्थान में, एक ही दृश्य में, दिखलाई जा सके। अभिनय के बीच में रंगभूमि के दृश्य में इस नियम के अनुसार किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। यह व्यवस्था कला की दृष्टि से दूषित और साथ ही नाटक के तत्त्वों का ध्यान रखते हुए बहुत कुछ अस्वाभाविक भी थी। फलतः शेक्सपीअर जैसे प्रतिभाशाली नाट्यकारों ने जहां पहले संकलन का प्रत्याख्यान किया वहां इस पर भी उन्हों ने ध्यान नहीं दिया। कहना न होगा कि भारतीय नाट्याचार्यों ने भी इस संकलन को नहीं अपनाया है।

उद्देश्य

उपन्यास की भांति नाटक के उद्देश्य से भी हमारा तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है।

किंतु जीवन की यह आलोचना उपन्यासों तथा नाटकों में भिन्न प्रकार से होती है। उपन्यासलेखक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से जीवन की व्याख्या करता है, पर नाटककार केवल प्रत्यक्ष रूप से ही यह काम कर सकता है। विद्वानों का कथन है कि, **उपन्यास जीवन की सब से अधिक विस्तृत व्याख्या है; इसके विपरीत नाटक का क्षेत्र संकुचित है;** क्योंकि इस में नाटककार को अपनी ओर से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है। हेनरी जेम्स के अनुसार उपन्यास **जीवन का वैयक्तिक अंकन है;** इसके विपरीत **नाटक को हम सैद्धांतिक रूप से जीवन का अवैयक्तिक संप्रदर्शन कह सकते हैं।** फलतः जहां हम उपन्यास के क्षेत्र में आसानी के साथ उसके लेखक के आत्मीय विचारों को पहचान जाते हैं, वहां नाट्यक्षेत्र में उसके रचयिता के जीवनसंबंधी सिद्धांतों को खोज निकालना हमारे लिए दुष्कर हो जाता है।

किंतु स्मरण रहे, नाटक की अवैयक्तिकता से हमारा आशय यह नहीं कि उसमें उसके लेखक के व्यक्तित्व का संसर्ग रहता ही नहीं; ऐसा होने पर तो हम नाटक को साहित्य ही नहीं कह सकते। उपन्यास के विपरीत नाटक के सुतरां विषयप्रधान होने पर भी उसका रचयिता नाटकीय बंधनों को तोड़ जहां तहां अपने पात्रों के मुँह जीवन के विषय में अपने सिद्धांत प्रेक्षकों को सुना ही देता है।

ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि ग्रीक करुणाजनक नाटकों

में गायकगणों के मुंह से कही जाने वाली बातें बहुधा नाट्य-

नाटक में उद्देश्य को प्रकट करने के भिन्न भिन्न उपाय

रचयिता की अपनी होती थीं। उनमें उसके जीवनविषयक तत्त्वज्ञान का निष्कर्ष होता था। किंतु आधुनिक नाटकों में गायकगणों के न रह जाने से नाटककार के हाथ में से अपने तत्त्वज्ञान को उद्घोषित करने का उक्त साधन छिन गया है, और उसे इस काम के लिए अपने पात्रों में से ऐसा पात्र छांट लेना पड़ता है, जिसका कथावस्तु के साथ उतना अटूट संबंध नहीं होता, जितना अन्य पात्रों का होता है और जिसकी बातें बहुधा नाटक रचने वाले की अपनी बातें होती हैं। आधुनिक नाटकों में—जिनका प्रमुख लक्ष्य प्रेक्षकों के संमुख जीवन की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ उपस्थित करना है—बहुधा एक पात्र ऐसा होता है, जो आदि से अंत तक सारे कथावस्तु में एक वैज्ञानिक दर्शक की भांति उपस्थित रह कर, नाटककार की ओर से प्रेक्षकों को जीवन के सिद्धांतों का संकेत कराता है। हाल के यूरोपीय नाटकों में तो यह पात्र इतना अधिक व्यक्त तथा सबल बन गया है कि फरांसीसियों की नाटकीय परिभाषा में उसका नाम ही तार्किक (raisonneur) पड़ गया है। किंतु नाटकीय पात्रों में से इस तार्किक अथवा व्याख्याता को ठीक ठीक ढूंढ निकालना चतुरता का काम है, और बहुधा समालोचक किसी पात्र के मुँह विशेष प्रकार की तात्त्विक बातें सुन कर उसे तार्किक समझने की भूल कर जाते हैं।

कहना न होगा कि चतुर नाटककार का कर्तव्य है कि वह अपने इस पात्र को कथावस्तु के साथ ऐसा संघटित कर दे कि वह नाटक में असंबद्ध व्यक्ति न प्रतीत होकर उसका एक अविभाज्य अंग बन जाय। ऐसा न होने पर नाटकीय दृष्टि से उस पर आक्षेप किया जा सकता है; और क्योंकि बहुधा नाटककारों को ऐसा करने में कठिनाई होती है इस लिए सिद्धांत-संकेतन के लिए इस उपाय का त्याग करके सामान्य पात्रों के मुंह से ही अपने सिद्धातों को संकेतित कराना नाट्यकार के लिए श्रेयस्कर होगा। किंतु क्योंकि एक नाटक में अनेक पात्र होते हैं; उन सब के मुंह से निकली बातों को हम नाटककार की अपनी बातें नहीं कह सकते, इस लिए नाटककार के निजू सिद्धांतों को खोजने के लिए सभी पात्रों के वार्तालाप की तुलनात्मक विवेचना करनी होगी और उसके उपरांत नाटक की समष्टि के तत्त्व को ध्यान में रखते हुए उसके किसी विशेष पात्र के अथवा पात्रों के वार्तालाप में नाटककार के निजू सिद्धांतों की उद्भावना करनी होगी। एक बात और; रंगमंच पर जो सृष्टि दिखाई देती है, उसका स्रष्टा नाटककार ही है; फलतः उसकी रचना में उसके भावों, विचारों तथा सिद्धांत आदि का समा जाना अनिवार्य तथा स्वाभाविक है। उसकी रची हुई साहित्यिक सृष्टि से हमें इस बात का भान हो जाना चाहिए कि वह इस संसार को किस दृष्टि से देखता है, वह उसका क्या आशय समझता है, वह उसके किन नैतिक आदर्शों को महत्त्वशाली समझता है। जीवन

का जो सार उसे दीखता है, उसे ही वह प्रेक्षकों के संमुख उपस्थित करता है। फलतः किसी नाटक की अशेष घटना को देख कर हम सहज ही इस बात का निर्धारण कर सकते हैं कि जीवन के विषय में उसके रचयिता के क्या सिद्धांत हैं। इस प्रसंग में बाबू श्यामसुंदरदास ने अंगरेजी के प्रख्यात कवि शैले का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो संबंध है, वह नाटक में सब से अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इस बात में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि जो समाज जितना ही उन्नत होता है, उसकी रंगशाला भी उतनी ही उन्नत होती है। यदि किसी देश में किसी समय बहुत ही उच्च कोटि के नाटक रहे हों और पीछे से उन नाटकों का अंत हो गया हो, अथवा उनमें कुछ दोष आ गए हों, तो समझना चाहिए कि इसका कारण उस देश का उस समय का नैतिक पतन है।

कालिदास का नाटकीय आदर्श

कहना न होगा कि जिस प्रकार भद्र नाटक किसी देश की भव्य भावनाओं के द्योतक हैं उसी प्रकार कुत्सित नाटक उस देश के नैतिक पतन के ख्यापक हैं। इस दृष्टि से जब हम कालिदास रचित शकुंतला नाटक पर विचार करते हैं तब हमें उस नाटक में वे सभी ऋजु भाव मूक मुद्रा में पंक्तिबद्ध हुए खड़े दीखते हैं, जो इस देश की अनादि काल से विभूति रहते आए हैं। कविवर रवींद्र के शब्दों में इस नाटक में एक गंभीर परिणति

का भाव परिपक्व होता है। वह परिणति फूल से फल में, मर्त्य से स्वर्ग में, और स्वभाव से धर्म में संपन्न हुई है। मेघदूत में जैसे पूर्वमेघ और उत्तरमेघ हैं, अर्थात् पूर्वमेघ में पृथिवी के विचित्र सौंदर्य का पर्यटन करके उत्तरमेघ में अलकापुरी के नित्य सौंदर्य में उत्तीर्ण होना होता है, वैसे ही शकुंतला में एक पूर्वमिलन और दूसरा उत्तरमिलन है। प्रथम अंक के उस मर्त्यलोक-संबंधी चंचल, सौंदर्यमय तथा अनूठे पूर्वमिलन से स्वर्ग के तपोवन में शाश्वत तथा आनंदमय उत्तरमिलन की यात्रा ही शकुंतला नाटक का सार है। यह केवल विशेषतः किसी भाव की अवतारणा नहीं है, और न विशेषतः किसी चरित्र का विकास ही है; यह तो सारे काव्य को एक लोक से अन्य लोक में ले जाना और प्रेम को स्वभावसौंदर्य के देश से मंगलसौंदर्य के अक्षय स्वर्गधाम में उत्तीर्ण कर देना है।

स्वर्ग और मर्त्य का यह जो मिलन है, इसे ही कालिदास ने अपने नाटक में प्रदर्शित किया है। उन्होंने फूल को इस सहज भाव से फल में परिणत कर दिया है, मर्त्य की सीमा को उन्होंने इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच का व्यवहार किसी को दृष्टिगोचर ही नहीं होता।

कालिदास ने अपनी आश्रमपालिता नवयौवनशालिनी शकुंतला को सरलता तथा भव्यता का निदर्शन बनाते हुए उसे संशयशून्य स्वभाव से भूषित किया है। अंत तक उसके इस स्वभाव में बाधा नहीं पहुँचाई। फिर इसी शकुंतला को अन्यत्र

शांत प्रकृति, दुःखसहनशील, नियमचारिणी, और सतीधर्म की आदर्शरूपिणी बना कर चित्रित किया है। एक ओर तो वह तरुलताफलपुष्प की भाँति आत्मविस्मारक स्वभावधर्म के अनुगत दिखलाई पड़ती है और दूसरी ओर एकाग्र तपःपरायण और कल्याण धर्म के शासन में एकांत भाव से नियंत्रित चित्रित की गई है। कालिदास ने अपने विचित्र रचनाकौशल से अपनी नायिका को लीला और धैर्य, स्वभाव और नियम तथा नदी और समुद्र के ठीक संगम पर खड़ा कर दिया है।

नाटक के आरंभ में ही हम शकुंतला को एक निष्कलंक सौंदर्यलोक में विहरती देखते हैं। वहाँ का अशेष वातावरण उसकी भव्य भावनाओं से आप्लावित हुआ दीख पड़ता है। उस तपोवन में वह आनंद के साथ अपनी सखियों तथा तरुलताओं से हिली-जुली दीख पड़ती है। उस स्वर्ग में छिपे-छिपे पाप ने प्रवेश किया और वह स्वर्गसौंदर्य कीटदष्ट कुसुम की भाँति विशीर्ण और त्रस्त हो गया। इसके अनंतर लज्जा संशय, दुःख, विच्छेद और अनुताप हुए; और सब के अवसान में विशुद्धतर, उन्नततर स्वर्गलोक में क्षमा, प्रीति और शांति दिखलाई पड़ने लगी। कविवर रवींद्र के शब्दों में शकुंतला का सार यही है और यही है भारतीय जीवन का चरम आदर्श। इस आदर्श की उत्थानिका जितनी रुचिर कालिदास के शकुंतला नाटक में परिनिष्ठित हुई है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं।

दूसरी ओर यूरोप के सर्वोत्तर नाटककार शेक्सपीअर ने अपने

टेम्पेस्ट नाटक में मनुष्य का प्रकृति के साथ, और मनुष्य का मनुष्य के साथ विरोध प्रदर्शित किया है। इस नाटक में उनके अन्य नाटकों की नाईं आद्यंत विक्षोभ ही विक्षोभ लहर मार रहा है।

शेक्सपीअर का नाटकीय आदर्श

मनुष्य की दुर्दम प्रवृत्तियाँ उसके जीवन में ऐसा ही विरोध खड़ा कर दिया करती हैं। शासन, दमन और पीडन से इन प्रवृत्तियों को हिंस्र पशुओं की नाईं संयत करके रखना पड़ता है। किंतु स्मरण रहे, इस प्रकार बल से इन प्रवृत्तियों को दबा देने पर, किंचित् काल के लिए उनका उत्पीडन हो जाता है; समय पाकर वे फिर उठ खड़ी होती हैं और फिर से मनुष्य के जीवन में विक्षोभ का तांडव उत्पन्न कर देती हैं। भारतीय आध्यात्मिक जगत् ने इस प्रकार के उत्पीडन को परिणाम नहीं समझा है। सौंदर्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एक दम समूल नष्ट कर देना ही भारतीयों की दृष्टि में सच्ची परिणति समझी जाती रही है। इस परिणति का व्याख्यान करने वाला साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य है, और उसी व्याख्यान में कविता के समान नाटक की भी परिनिष्ठा होनी वांछनीय है। इस प्रकार का साहित्य श्रेय को प्रिय और पुण्य को हृदय की संपत्ति बना कर जनता के संमुख उपस्थित करता है। वह अंतरात्मा के मंगलमय आंतरिक पथ का अवलंबन करके उसके मल को उसी के आँसुओं में धोया करता है, और इसी तत्त्व का चिंतन करते हुए कालिदास ने शेक्सपीअर की भाँति बल को बल

से, आग को आग से न शांत कर अपने नाटक में दुरंत प्रवृत्ति के दावानल को अनुतप्त हृदय के अश्रुवर्षण से शांत किया है।

जीवनव्याख्या के इसी आदर्श को ध्यान में रख कर हमारे आचार्यों ने कहा है कि धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही नाटकीय कथावस्तु के फल अथवा कार्य हैं, अर्थात् नाटकों से इन तीनों अथवा इनमें से किसी एक की निष्पत्ति होना आवश्यक है। जिस नाटक में इनमें से किसी एक तत्त्व की भी प्राप्ति न होती हो वह नाटक सचमुच निरर्थक है।

कमेडी और ट्रैजेडी

सुखांत नाटक

होरेस वेलपोल के **अनुसार जीवन सुखांत है उन लोगों के लिए जो विचारशील हैं, और करुणरसजनक है उनके लिए जो अनुभवशील हैं।** इस कथन के अनुसार हम कह सकते हैं कि करुणरसजनक नाटक हमारे मनोवेगों को अपील करते हैं और सुखांत नाटक हमारे मस्तिष्क को।

इसी तत्त्व को मेरेडिथ ने अपने प्रख्यात निबंध कमेडी का आधार बनाया और इसी के आधार पर उन्होंने सुखांत नाटक का लक्षण **विचारपूर्ण हास्य** करते हुए इसे जीवन के अनुभवों के लिए सामान्य ज्ञान (commonsense) का मापदंड बताया।

किंतु ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि सुखांत नाटक का उक्त लक्षण दोषयुक्त है। प्रकार अथवा आचारविषयक अनेक

सुखांत नाटकों में—जैसा कि दि स्कूल फॉर स्कैंडल—केवल मस्तिष्क का व्यापार न रह कर बौद्धिक तथा मनोवेगीय तत्त्वों का संकलन दृष्टिगत होता है; और जब हम सुखांत नाटक के उक्त लक्षण को शेक्सपीअर के सुखांत नाटकों पर घटाते हैं तब तो वह उन पर किसी प्रकार घटता ही नहीं है।

शेक्सपीअर को किसी के भी अपावरण (exposure) में प्रसन्नता नहीं होती थी। उन्होंने अपने समय के किसी भी एक विचार, चारित्रिक मापदंड अथवा रीतिरिवाज की समालोचना नहीं की। शठों तथा मूर्खों के प्रति हृदय की वह कठोरता, जो कि प्रकार अथवा आचारसंबंधी सुखांत नाटकों का मेरुदंड है, शेक्सपीअर में ढूँढे नहीं मिलती।

हैज़लिट के शब्दों में शेक्सपीअर के उपहास में दुष्ट स्वभाव के डंक का अभाव है। उसकी सुखांत प्रतिभा इस काम से बहुत ऊपर है; उसने अपनी प्रतिभा के द्वारा मूर्खता, आत्मवंचना, शठता और गृध्नुता आदि भावों की क्लेशावहता न दिखा उसके द्वारा दुर्भाग्य और अन्याय के वशीभूत हुए प्राणियों का सुख में अवसान दिखाया है।

ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि सुखांत नाटकों का अपना जगत् पृथक् ही होता है, और उस जगत् के अपने अलग ही नियम होते हैं। वहाँ के व्यवहार को हम वास्तविक जीवन के मापदंड से नहीं नाप सकते। और जब हम इस दृष्टि से शेक्स-पीअर के सुखांत नाटकों का अनुशीलन करते हैं तब हमें ज्ञात

होता है कि उनके सौंदर्य का सार उस वातावरण तथा चित्तवृत्ति में है, जिसमें कि कवि ने उनका निर्माण किया है। अनुपपन्न परिस्थितियों से वे भरे पड़े हैं; किसी न किसी प्रकार उन्हें सभी के लिए सुखांत बनाया गया है; कथोपकथन उनका बहुधा नीरस तथा फीका है; यथार्थवाद के सभी मापदंडों का उनमें कवि ने प्रत्याख्यान कर दिया है; इनके मिडसमर नाइट्स ड्रीम में सामान्य ज्ञान को जगह जगह धता बताई गई है; लड़के के वेष में फिरने वाली रोज़ालिंड का ओर्लैंडो तथा उसके पिता के द्वारा न पहचाना जाना इस बात का पर्याप्त निदर्शन है। किंतु ज्यों ही हम अपनी अविश्वासवृत्ति को त्याग, कवीय श्रद्धा से अनुप्राणित हो, इनके रचे मायारूप जगत् में पैठते हैं, त्यों ही हमें इनका रचा जगत् वास्तविक जीवन का अनुकरण करने वाले सुखांत नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक मंगलमय तथा वैभवसंपन्न दृष्टिगोचर होने लगता है। यहाँ पहुँच हमारे मन में एक प्रकार की श्रद्धा अंकुरित हो जाती है और हम समझने लगते हैं कि वह सभी भद्र है जहाँ हमें यौवन ले जाता है, जिधर हमें मूर्खता अग्रसर करती है। मनोज्ञता और आध्यात्मिकता से समुपेत, उदीयमान प्रेम और अनुपपन्नताओं की मर्मज्ञता से संपन्न, मानवीयता तथा प्रकृति के भीतर संनिहित सभी प्रसन्न, मधुर, तथा मंजुल तत्त्वों के प्रति एक प्रकार के प्रेम से समुल्लसित, सभी प्रकार के गिरे-पड़े, उखड़े-पुखड़े आचार की विचित्रताओं से चर्चित, उपहास की उत्कृष्ट भावना से आप्लावित और सभी

प्रकार की मूर्खता के वैचित्र्य से अर्चित ये सुखांत नाटक कुछ अनूठे ही, किसी और ही जगत् के, किसी अन्य ही प्रकार के मनुष्यों से बसे हुए दीख पड़ते हैं। और अंत में शेक्सपीअर ने अपने अंतिम सुखांत नाटकों में इस जगत् में वास्तविक मानवीय अभद्रता तथा क्लिष्टता का प्रवेश किया है।

फलतः यह कहना कि सुखांत नाटक की अपील मस्तिष्क के प्रति और करुणरसजनक नाटक की अपील मनोवेगों के प्रति होती है, दोषयुक्त ठहरता है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि **करुणरसजनक नाटक वे हैं, जिनमें नायक का निधन दर्शाया गया हो; और सुखांत नाटक वे हैं, जिनमें ऐसा न होता हो** तब हमें यह मानना पड़ेगा कि दि थ्री सिस्टर्स, जस्टिस, दि सिल्वर बॉक्स सुखांत नाटक हैं और डाक्टर्स डाइलेमा करुणरस-जनक नाटक है, जब कि वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि **मानवीय प्रसन्नता की कहानियाँ सुखांत नाटक हैं; और उसके क्लेश की कहानियाँ करुण-रसजनक हैं** तब हमें रोमिओ एंड जूलियट तथा उत्तररामचरित को करुणरसजनक नाटक और वोल्पोन को सुखांत नाटक मानना पड़ेगा, जब कि बात वास्तव में इसके सुतरां विपरीत है।

किंतु यह सब कुछ कह चुकने पर भी यह सभी को मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार सामान्य दृष्टि से देखने पर, एक दूसरे से भिन्न प्रकार के होने पर भी ओथेलो, दि थ्री सिस्टर्स, घोस्ट्स, तथा जस्टिस नाम के नाटकों में एक प्रकार की आंतरिक समानता है,

उसी प्रकार सामान्य दृष्टि से देखने पर एक दूसरे से भिन्न प्रकार के होने पर भी शकुंतला, उत्तररामचरित, एज़ यू लाइक इट, वोल्पोन, दि कंट्री वाइफ, तथा मैन एंड सुपरमैन नाम के नाटकों में एक प्रकार की आंगिक समीपता है।

इस समानता का आश्रय इन नाटकों की कथनीय वस्तु नहीं है। एक ईर्ष्यालु पति, जो ओथेलो में करुणरसजनक नाटक का आधार बनता है, वही दि कंट्री वाइफ में सुखांत नाटक की कथा-वस्तु बन जाता है। शेक्सपीअर के एक नाटक में क्लियोपेट्रा करुण-रसजनक संपन्न हुई है तो शॉ ने उसी को अपनी सुखांत रचना का विषय बनाया है। यह समानता इन नाटकों के पीछे काम करने वाले व्यक्तियों की समानता भी नहीं है और नहीं है वह उनके माध्यम के पारिभाषिक उपयोग की। और इस प्रकार अंत में यह समानता **एकमात्र इन नाटकों के द्वारा प्रेक्षक अथवा पाठकवर्ग पर पड़ने वाले प्रभाव की ही** ठहरती है; आइये, अब देखें कि वह प्रभाव कौन सा और किस प्रकार का है।

और इस अवस्थान पर आकर हमें करुणरसजनक तथा सुखांत नाटकों के प्रभाव में एक प्रकार का मौलिक प्रातीप्य दीख पड़ेगा। **सुखांत नाटक का सार एक विशेष प्रकार की मनोवेगीय प्रतिक्रिया में है, तो करुणरसजनक का सार उससे दूसरे प्रकार की मनोवेगीय प्रतिक्रिया में।** ये प्रतीपी प्रभाव अथवा परिणाम मनोविज्ञान से संबंध रखते हैं। मानवीय चेतना के विषय में हमारा इतना ज्ञान नहीं है कि हम इस बात की गवे-

षणा कर सकें कि वह कौन सी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा इन परिणामों की उपपत्ति होती है; संभवतः साहित्यिक रचना के लिए इन बातों की खोज में जाना उचित भी नहीं है। ऐसी दशा में हमारा कर्तव्य नाटकों के उक्त दो प्रकार के प्रभावों के मूल में न जाकर एकमात्र उन प्रभावों की विवेचना करना और यह देखना रह जाता है कि साहित्यिक कला से उनकी उत्पत्ति कैसे होती है।

सुखांत नाटक में मुक्ति की अनुभूति

और यहाँ हम इस समस्या के अनपेक्षित विस्तार में न फँस इतना ही कहेंगे कि नाटकीय समस्याओं के मनोवेगीय विशदीकरण की विभिन्नता —जो ट्रैजेडी और कमेडी से उद्भूत होने वाली अनुभूति की प्रमुख अवच्छेदक है—एकमात्र सुख तथा दुःख का, अथवा रात्रि के समय होने वाले भय और प्रातःकाल के साथ आने वाले आनंद का ही विभेद नहीं है; किंतु यह इनसे एक पग और आगे बढ़ नाटक के अंत में उद्भूत होने वाले मनोवेगीय मूल्यों (emotional values) से भी संबंध रखती है; और हम कह सकते हैं कि **सुखांत नाटक का संबंध सामयिक मूल्यों से है,** तो **करुणरसजनक नाटक का संबंध शाश्वत मूल्यों से है।** सुखांत नाटक में व्यक्ति का समाज के साथ और समाज का व्यक्ति के साथ जो संबंध है, उसका प्रदर्शन होता है; और उसका चरम मापदंड सदा से सामाजिक रहता आया है। सुखांत नाटक के अवसान का संबंध अनिवार्यरूपेण उस

मर्यादा, व्यवहार अथवा वृत्ति से है, जिसमें कि सामान्य जीवन को जीवित रहना है । इसका संबंध भावरूप अमूर्त न्याय से नहीं, अपितु इस जगत् के स्थूल मनोवेगीय तथा चारित्रिक निर्णयों से है। और जिस प्रकार चरित्र के क्षेत्र में, उसी प्रकार मनोवेगों की परिधि में सुखांत नाटक के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया में द्रष्टा को जीवन में दीख पड़ने वाले खिंचाव तथा तनाव से मुक्ति प्राप्त होती है, उसके मनोवेगों का भार ढीला पड़ता है और वह खोटे भाग्य की चपेटों से बच कर शांति की ओर अग्रसर होता है। **और यही कारण है कि सुखांत नाटक में अनिवार्यरूप से उपहास का अंश विद्यमान रहता है।** सभी जानते हैं कि उपहास एक सामाजिक वस्तु है और मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इसके पीछे मुक्ति अथवा सुस्थता की भावना बनी रहती है । सुखांत रचना में उपहास के इस तत्त्व को मुखरित होने का वह अवसर मिल जाता है, जो वास्तविक जीवन में दुष्प्राप्य है; क्योंकि कला के क्षेत्र में हमारे क्रियाकलाप और हमारी वृत्तियाँ, वास्तविक जीवन में अनिवार्यरूपेण उनसे उद्भूत होने वाले गंभीर परिणामों से पृथक् हो जाने के कारण, उपहासास्पद बन जाती हैं, और इसी लिए वे उस नाटकीय आनंद का विषय बन सकती हैं, जिससे वे यथार्थ जीवन में वंचित रहा करती हैं । फाल्स्टाफ का भद्दा मोटापन, उसकी शराब पीने और बात बात में झूठ बोलने की टेव, उसकी पद पद पर धोखा देने की आदत, और उसकी अन्य बहुत सी बेतुकी बातों का यथार्थ जीवन में प्रेक्षकों तथा श्रोताओं

पर ऐसा कुरुचिजनक प्रभाव पड़ेगा कि उन्हें सुनकर वे उस पर थू-थू करने लगेंगे; किंतु फाल्स्टाफ की उन्हीं बातों के सुखांत नाटक की परिधि में प्रविष्ट हो जाने पर हम वास्तविक जीवन से नाटकीय जीवन में सरक जाते हैं, और फाल्स्टाफ के साथ तदात्म हो हम उसी स्वतंत्रता तथा मुक्ति का अनुभव करने लगते हैं, जो अपने शरीर और चरित्र की बेतुकी बातों के द्वारा इनके नियमित संस्थान की कठोरता से दूर भाग कर फाल्स्टाफ ने अनुभव की थी।

किंतु इन सब बातों का यह आशय कदापि नहीं है कि **एक सुखांत नाटक में उपहास के अंश का होना अनिवार्य है।** उपहास के अभाव में भी इस कोटि के नाटक को देख कर हमारे मन में एक प्रकार का संतोष तथा आनंद उत्पन्न हो सकता है; और सच पूछो तो, उच्च कोटि के सुखांत नाटकों में हम संभवतः कदाचित् ही हँसते होंगे। इसके द्वारा हमारे मन में विविध प्रकार की वृत्तियाँ उदय हो सकती हैं; क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं के समान सुखांत नाटक भी अपने रचयिता की प्रतिमूर्ति है; और स्वभावतः सुखांत नाटकों से उत्पन्न होने वाले स्वाद भी इतने ही होंगे, जितने कि इन नाटकों के रचने वाले कलाकार। किंतु इस कोटि के नाटक से उत्पन्न होने वाला प्रभाव, चाहे ऐसा सरल हो जैसा कि थू नेवर कैन टैल का, अथवा इतना संकुल जैसा कि शकुंतला अथवा टेंपेस्ट का, **दोनों ही प्रकार के प्रभावों में, उनसे उत्पन्न होने वाली मनोवेगीय तथा बौद्धिक प्रति-**

क्रिया में एक प्रकार की मुक्ति तथा संतोष का अंश विद्यमान रहता है। यदि एक सुखांत नाटक को देख हमारे मन में मुक्ति की यह भावना न जगी, यदि उसने हमारे मन में मनोवेगों का तो तहलका मचा दिया किंतु उनको एक लय का रूप दे मनस्तुष्टि की चरम तान में संकलित न किया तो समझो सुखांत नाटक की दृष्टि से वह नाटक कोरा गया। और परिणाम में होने वाली इस एकतानता की दृष्टि से देखने पर शेक्सपीअर का सुखांत नाटक मर्चेंट ऑफ़ वेनिस दोषपूर्ण ठहरता है; क्योंकि आधुनिक प्रेक्षकों के हृदय में इस नाटक का अवसान होने पर भी शायलाक का चरित्र तीर की भांति गड़ा रहता है; और यही बात शेक्सपीअर के मच एडो अबाउट नथिंग के विषय में दुहराई जा सकती है; क्योंकि वहां भी नायक की कठोर यातनाएँ, नाटक का अवसान हो चुकने पर भी, प्रेक्षकों को गाँस की नाईं सालती रहती हैं। सुखांत नाटक की चरम परिनिष्ठा कालिदास के शकुंतला नाटक में संपन्न हुई है, जहाँ आदर्शभरित जीवनसरिता के तलपृष्ठ पर उतराने वाले अशेष बुद्बुदों का, अंत में, उसी सरिता में अवसान हो गया है और शकुंतला अपने पथ के सब कंटकों का अपसारण कर अंत में अपने इष्ट देव के साथ एक हो गई है।

और वह तत्त्व, जिसके कारण कि मर्चेंट ऑफ़ वेनिस **तथा** मच एडो अबाउट नथिंग **नामक नाटकों में**

ट्रैजेडी

क्लेश सुख में पर्यवसित न हो अंत तक प्रेक्षकों के मन को सालता रहता है, करुणरसजनक नाटकों

का मौलिक आधार है। ट्रैजेडी और कमेडी में प्रमुख भेद यही है कि ट्रैजेडी में हमें अपनी उस मनोवृत्ति का, जिसके द्वारा कि हम इस जीवन को बुद्धिगम्य समझते हैं, परित्याग कर देना पड़ता है। हमें इसे, जैसा यह हमारे संमुख प्रपंचित रहता है, उसी रूप में मान लेना पड़ता है; और एकतालता—यदि ट्रैजेडी की परिधि में इसकी संभावना है भी तो—दृश्यमान जगत् के मूल्यों में उद्भूत न हो उस पार के जगत् के मूल्यों में दीख पड़ती है।

अरिस्टोटल के कथनानुसार ट्रैजेडी के रस करुणा तथा भय होते हैं। करुणरसजनक नाटक का विषय निसर्गतः भद्र पुरुष को अभ्युदय से गिरा कर अवनति के गर्त में धकेलना नहीं होना चाहिए; क्योंकि इससे प्रेक्षकों का, उद्वेग के मारे हक्के-बक्के रह जाने का भय है। ट्रैजेडी का नायक ऐसे मनुष्य को बनाना उचित है जो सर्वांशेन भद्र न हो, और जो पतन के गर्त में अपनी नैसर्गिक नीचता से नहीं, अपि तु अपने किसी प्रमाद अथवा निर्बलता के कारण गिर पड़ा हो।

किंतु जब हम ध्यानपूर्वक उक्त कथन की परीक्षा करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि ट्रैजेडी के देखने पर हमारे मन में एकमात्र करुणा तथा संत्रास के भाव न उत्पन्न हो कभी कभी साध्वस, विषाद, अमर्ष तथा क्रांति के भाव भी भर जाते हैं। क्या हम कह सकते हैं कि बड़ी से बड़ी ट्रैजेडी को देख कर भी हमारे मन में इन भावनाओं का उदय नहीं होता ? क्या ओथेलो को

देख कर हमारे मन में अमर्ष, दि ट्रोजान वोमैन को देख कर क्रांति, और घोस्ट को देख कर उग्र विषाद नहीं उत्पन्न होता ?

ट्रैजेडी में मानवीय वेदना

अब यदि सिद्धांतवाद के झमेले को छोड़ **हम ट्रैजेडी में किसी ऐसे तत्त्व को खोज करें जो समान-रूप से सभी करुणरसजनक नाटकों में संनिहित रहता हो, तो वह हमें मानवीय संताप अथवा वेदना में मिल जाता है।** कहना न होगा कि करुणरसजनक नाटक का रचयिता मानवसमाज को रहस्यमय अदृष्ट की चपेटों में परिविष्ट हुआ पाता है; वह उसे दुर्दम दैव से दलित, दैवी घटनाओं से परिहसित, परिस्थितियों का दास, और कठोरता, अन्याय, तथा उत्पीडन का उपहार बना हुआ देखता है। नियतियक्षी के इस निरुद्देश्य नृत्य को वह कभी उन परंपरागत दैवोपाख्यानों में प्रतिफलित हुआ देखता है, जिनका जगत् देवताओं तथा धीरोदात्त नायकों से बसा हुआ है; जिसमें बसने वाले आगामेम्नन ने इफिजेनिया को अंधविश्वास की बलिवेदी पर चढ़ा दिया था; इफिजेनिया की माता ने उसके पति की हत्या करके उसका बदला लिया था; उसके पुत्र ओइ-डिपुस ने अपने पिता की मृत्यु का बदला अपनी माता तथा उसके प्रेमी को मार कर लिया; और अंत में देवताओं ने अपना बदला उससे लिया। नियतियक्षी के इसी निरुद्देश्य तांडव को वह उस जराजीर्ण राजा की जीवनवनी में घोषित होता देख सकता है, जो अपने राज्य को अपनी पुत्रियों में—उनके अपने प्रति होने वाले

प्रेम की मात्रा के अनुसार—बाँट देता है; अथवा उस पुरुष और उसकी पत्नी की कहानी में देख सकता है, जो अपनी उच्चपदाभिलाषा से प्रेरित हो परघात करने को उद्यत होते हैं, किंतु अपनी भीरुता के कारण उस पाप से दूर रह जाते हैं। इस नृत्य को वह ऐंटनी और क्लियोपेट्रा तथा जॉन ऑफ आर्क आदि ऐतिहासिक नायकनायिकाओं के जीवन में घटता देख सकता है; वह इसी अनिरुद्ध पादप्रहार को बड़े से बड़े और छोटे से छोटे मनुष्य के जीवन में ध्वनित होता देख सकता है।

मानवयंत्रणा के इस दृश्य से, चाहे यह किसी भी रूप में और समाज की किसी भी श्रेणी में क्यों न हो—मानव-जीवन के प्रति वह दैवदुर्नियोग लक्षित होता है, जो नाटकीय कला का सार है।

कहना न होगा कि नाटक में अभिनीत की जाने वाली मानवीय यंत्रणा में किसी सीमा तक स्वयं नायक और नायिका का अपना हाथ होता है; और उस दैवदुर्नियोग को, जिसमें कि वे फंसते हैं, वे स्वयं अपने हाथों अप्रत्यक्ष रूप से आमंत्रित करते हैं; **और उनके इस प्रकार अनजाने अपनी मौत अपने आप बुलाने में ही ट्रैजेडी का चरम सार है।**

ट्रैजेडी की मानव-वेदना में भाग्य का हाथ

करुणारसजनक नाटक में जहाँ उसके नायकनायिका अनजाने अपनी मौत आप बुलाते हैं, वहाँ साथ ही उनके क्रियाकलाप की प्रसूति में भाग्य के प्रतिनिवेश का भी बड़ा हाथ रहता है; और

सभी जानते हैं कि भाग्यचक्र मनुष्य के हाथ से बाहर की वस्तु है, स्वयं विधाता भी इसमें फंसा हुआ सृष्टि के अविराम यातायात को चला रहा है। और जब कि हम सुखांत नाटक में होने वाले परिणाम की नीतिमत्ता अथवा औचित्य को इसी जीवन में प्रत्यक्ष हुआ पाते हैं, करुणरसजनक नाटक के परिणाम की नीतिमत्ता अथवा औचित्य को हम इस जगत् के मापदंड से नहीं नाप सकते; क्योंकि हम देखते हैं कि ओथेलो एक वदान्य तथा भव्य व्यक्ति था, और इयागो आमूलचूल पैशाचिकता में पगा हुआ नरपिशाच; अंत दोनों का फिर भी एक समान था, मरे दोनों थे, और दोनों ही क्लेश और यातना के प्रचंड क्राथ में। डेस्डिमोना, कोर्डेलिया और ओफेलिया, जो फूलों पर पली थीं और फूलोंसे फलों में परिणत हुई थीं, भी अत में उसी प्रकार मृत्यु का ग्रास बनती हैं, जिस प्रकार कि नारकीय मंथरा और उसी कोटि की अन्य नरशुनियां। इन परिणामों को हम भौतिक जीवन के सामयिक मूल्यों से नहीं आंक सकते; यहाँ तो हमें "बस भाग्य में यही बदा था" यह कह कर मौन हो जाना पड़ता है।

कहना न होगा कि करुणरसजनक नाटकों की बहुसंख्या में किसी प्रकार की मनोवेगीय एकलयता नहीं संपन्न होती। इसमें संदेह नहीं कि करुणरसजनक नाटकों के अभिनय से एक प्रकार का आंतरिक आनंद उत्पन्न होता है, किंतु वह आनंद मानवीय यातना की कथा से नहीं, अपितु उस कथा को कहने

के चामत्कारिक ढंग से, उस कथा के रचयिता की अनूठी कलावत्ता से प्राप्त होता है; यह आनंद है परिणाम उस रसमयी साहित्यिक संयोजना का जिसके द्वारा कि एक परिनिष्ठित कलाकार ऐक्य की भावना का, और नाटकीय संघर्ष की तुमुलता तथा गहनता का परिपाक किया करता है। प्रत्येक नाटक के अवसान में हमारे मन में एक परिपूर्ण, संतोषजनक, समृद्ध अनुभूति का उदय होता है। हम अनुभव करते हैं कि ट्रैजेडी का चक्र जितना चाहिए था उतना घूम चुका है, उसके परिणाम का उसके आरंभ के साथ सामंजस्य पूरा उतरा है, और नाटकीय संस्थान अथवा प्रकार की वह इतिमत्ता हो चुकी है जिसे हम नाटक के अवसान में रंगभूमि को छोड़ते समय यह कह कर व्यक्त किया करते हैं कि "ओह! क्या ही अच्छा नाटक था? उस कवि ने तो बस जीवन के चित्रण में लेखनी ही तोड़ दी !!" किंतु ध्यान रहे, यह आनंद, जिसका प्रकाशन हम उक्त शब्दों में किया करते हैं, बहुधा नाटक के रूप से, ट्रैजेडी की नाटकीयता से संबंध रखता है; इसकी प्रसूति नाटक में दीखने वाली मानवीय यंत्रणा के दर्शन से नहीं हुई है। इसे देख कर तो बहुधा हमारा मन मुरझाया ही रहता है; और यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो व्यक्ति नाटकीय कला के अवबोध से वंचित हैं, वे इस कोटि के नाटकों को देख अंत में खिन्न ही हुआ करते हैं और कहा करते हैं कि क्या ही अच्छा होता यदि हम इस नाटक को देखने ही न जाते। वास्तविक जीवन के चित्रण के

रूप में देखने पर ये नाटक हमारे मन में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न कर देते हैं; हम इनके भीतर नायक और नायिका की चरित्र की दृष्टि से उनके निष्पाप होने पर भी, अकिंचनता को मुरझाए मन स्वीकार किया करते हैं। शेक्सपीअर रचित ओथेलो में हम अन्य बहुत से व्यक्तियों के पतन के साथ साथ उस नाटक के धीरोदात्त नायक ओथेलो को भी निहत होता देखते हैं। हैमलेट नाटक में जहाँ अन्य बहुत से नरनारी यमलोक की यात्रा करते हैं, वहाँ प्रतिक्षण विचारों में झूलने वाला उस नाटक का भावुक नायक भी नाटक के अंत में यही कहता सुनाई पड़ता है कि बस तैयार रहने में ही बहादुरी है। नाटकीय कला की दृष्टि से निधन का कितना भी महत्त्व क्यों न हो, इन नाटकों को देख कर प्रेक्षक वर्ग के लिए ओथेलो और हैमलेट जैसे भद्र पुरुषों को मृत्यु के मुख में जाता हुआ देखना कठिन हो जाता है और वे अकस्मात् चीख पड़ते हैं क्या ऐसे वदान्य व्यक्तियों का भी जीवन में यही अवसान होना बदा था?

किंतु दैवदुर्नियोग के इतना कठोर होने पर भी, आर्त समाज की इस दबी चीख के सुनाई देने पर भी कि "हे राम! क्या इसी को मनुष्य कहते हैं, क्या मनुष्य का यही अवसान है?" हमारे मन पर ट्रैजेडी का चरम अंकन एक भिन्न ही प्रकार का होता है, जिसका आँकना इह लोक के सामयिक मापदंड से न होकर परलोक के शाश्वत मापदंड से हुआ करता है। इन नरपुंगवों को भाग्य के साथ जूझता हुआ

देख कर हमारे मन में क्षुद्र भावनाओं के स्थान पर उदात्त और उत्तुंग भावनाएँ जागृत होती हैं और संग्राम से उत्पन्न होने वाले उत्साद के साथ साथ हमारे मन में मनुष्य की मौलिक विशालता और उसके स्वाभाविक उत्कर्ष की गरिमा भी जागृत हो जाती है। और इसी लिए जहाँ हम अपने विषाद को गहरा बता कर उसकी उत्कटता प्रकट करते हैं, वहाँ ट्रैजेडी के समक्षेत्र को सदा उन्नत तथा ऊँचा बता कर उसकी उदात्तता को व्यक्त किया करते हैं। और यद्यपि ओथेलो तथा हैमलेट की कथा को पढ़ कर हमारे मन में विषाद की तमिस्रा छा जाती है, तथापि अंततोगत्वा हमें इस बात की पूरी अनुभूति हो जाती है कि जीवन में शाश्वत मूल्य भद्रता, वदान्यता, शुचिता, निष्पापता और उत्साह का ही है, और इन्हींके प्रदर्शन में मनुष्य की—चाहे उस पर कितने भी कष्ट क्यों न आवें, और हम जानते हैं कि कष्टों की अग्नि में पिघल कर ही आत्मा कुंदन बनता है—इतिकर्तव्यता है।

कहना न होगा कि भारतीय आचार्यों ने सदा से सुखांत नाटक को ग्रहण करते हुए दुःखांत नाटक का प्रत्याख्यान किया है। उनकी दृष्टि में किसी भी मंगलमय जीवन का अवसान अवसाद में नहीं होता; मंगल का अवसान अनिवार्य रूप से शिव तथा शांति में होता है; और शांति है मन का धर्म; और एक मंगलमय जीवन का वहन करने वाला त्यागी जब अपने पीठ पर लदे भार को फेंकता है, तब स्वभावतः उसके हृदयाकाश

में शांति की ज्योत्स्ना खिली रहती है और उसके शरीर के वेदनाओं से परिविष्ट रहने पर भी उसका अंतःकरण सुप्तमीन सरोवर की नाईं निस्तब्ध तथा नीरव रहा करता है। यदि किसी व्यक्ति के चित्त की वृत्ति अवसान के समय इससे विपरीत प्रकार की रही तो समझो वह सच्चा महात्मा नहीं है।

हमारे यहाँ इस जीवन की प्रसूति आनंदमय भगवान् से मानी गई है और उसी में उसका अवसान भी निर्धारित किया गया है। और क्योंकि हमारा आत्मा आनंदमय भगवान् का ही एक व्यक्तिकरण है इस लिए उसीके समान यह भी शाश्वत तथा आनंदमय है; इसे अवश्यमेव अपने आदि स्रोत अथवा अपने जैसे अगणित ज्योतिकणों की समष्टि में मिल कर एक हो जाना है। किंतु यह अनुष्ठान सदा तपस्या के द्वारा हुआ करता है। फलतः हमारे यहाँ जीवन के शाश्वत होने के कारण उसका अंत सदा ही आनंदमय रहता आया है और आत्मा को इस पद तक पहुँचाने के साधन तपस्या अथवा क्लेश का उससे पहले ही अवसान हो चुका होता है। यह बात कालिदास के शकुंतला नाटक को देखने से भली भाँति व्यक्त हो जाती है। इस नाटक में भारत के अमर कवि ने पाप को हृदय के भीतर अपनी ही आग से आप ही दग्ध कर दिया है—बाहर से उसे राख में छिपा कर नहीं छोड़ा। उन्होंने दुष्यंत और शकुंतला के चरम मिलन के मध्य आने वाले सभी अमंगलों को भस्म करके यह नाटक समाप्त किया है, जिसका परिणाम यह होता है कि प्रेक्षकों

के मन में एक संशयहीन मंगलमय परिणाम की शांति छा जाती है। बाहर से अचानक पापबीज पड़ जाने से हृदय में जो विषवृक्ष खड़ा हो जाता है, वह भीतर से जब तक समूल नष्ट नहीं होता, तब तक उसका उच्छेद नहीं होता; कालिदास ने शकुंतला और दुष्यंत के मिलनरूप क्षेत्र में पड़े हुए दुर्वासा के शापरूप वृक्ष को समूल ध्वस्त करके ही—और स्मरण रहे आदम और ईव का अशेष क्रियाकलाप ही उस शाप का परिणाम है—उनका चरम मंगलमय मिलन संपादित किया है। जीवन की जो मनोज्ञ प्रक्रिया नाटकीय क्षेत्र में कालिदास ने खड़ी की भारत के विभिन्न नाटककारों ने अपनी अपनी रचनाओं में उसीको अंगीकार किया है।

नाटकरचना के सिद्धांत

नाटकीय तत्त्व की विवेचना करते हुए हमने कहा था कि **नाटकीय तत्त्व में संघर्ष अथवा द्वंद्व का होना आवश्यक है।** यह संघर्ष नाटकीय पात्रों का बाह्य तथा आंतर दोनों ही प्रकार के जगत् के साथ हो सकता है। बाह्यघटनाओं के साथ युद्ध दिखाने के निदर्शन ओथेलो तथा मैकबेथ हैं और आंतरिक प्रवृत्तियों का द्वंद्व दिखाने के हैमलेट तथा किंग लियर निदर्शन हैं। नाटक के मूल आधार इस विरोध रूप तत्त्व के उदय, उत्थान और परिणाम के अनुसार ही नाटक के ढांचे का पाश्चात्य आचार्यों ने विवेचन किया है।

नाटकीय विकास की पाश्चात्य और भारतीय परिभाषा

नाटक में जहाँ से यह विरोध या द्वंद्व आरंभ होता है वहीं से मुख्य कथावस्तु का भी आरंभ होता है और जहाँ इस विरोध या संघर्ष का कोई परिणाम निकलता है, वहीं कथावस्तु का भी अवसान हो जाता है। कथावस्तु के आरंभ में जो विरोध उत्पन्न होता है, वह पहले एक निश्चित सीमा तक बढ़ता जाता है, और उस परिधि के उपरांत दो विरोधी पक्षों में से एक की विजय आरंभ होने लगती है और तब अंत में भले को बुरे पर अथवा भाग्य को व्यक्ति पर विजय प्राप्त होती है। नाटकीय कथावस्तु, अर्थात् संघर्ष के विकास के आधार पर पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक को पाँच भागों में विभक्त किया है: पहला **आरंभ**, जिसमें विरोध अथवा संघर्ष उत्पन्न करने वाली कुछ घटनाएं होती हैं; दूसरा **विकास**, जिसमें संघर्ष बढ़ता है; तीसरा **चरम सीमा**, अथवा **परा कोटि**, जहाँ से किसी एक पक्ष की विजय का आरंभ होता है; चौथा **उतार या निगति**, जिसमें विजयी की विजय निश्चित हो जाती है; और पाँचवां **अंत या समाप्ति**, जिसमें उस विरोध या द्वंद्व पर पटाक्षेप हो जाता है। विकास की इन्हीं अवस्थाओं को कुछ परिवर्तन के साथ भारतीय आचार्यों ने **आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति** और **फलागम** इन पाँच विधानों में व्यक्त किया है। भारतीय आचार्यों के अनुसार नायक अथवा नायिका के मन में किसी प्रकार का फल प्राप्त करने की अभिलाषा होती है और उसी अभिलाषा से नाटक का **आरंभ**

होता है । उस फल की प्राप्ति के लिए जो व्यापार होता है, वह **प्रयत्न** कहाता है । आगे चल कर विघ्नों पर विजयलाभ करते हुए उस फल के प्राप्त होने की आशा होने लगती है, इसीको **प्राप्त्याशा** कहते हैं। इसके अनंतर विघ्नों का नाश हो जाता है और फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, इसे **नियताप्ति** कहते हैं; और सब के अंत में फलप्राप्ति होती है; जो **फलागम** कहाती है।

ऊपर लिखी पाँचों अवस्थाएं व्यापारशृंखला की हैं। इसके

अर्थप्रकृति

साथ ही भारतीय आचार्यों ने दो बातों पर और विवेचन किया है : एक **अर्थप्रकृति** और दूसरी **संधि**। अर्थप्रकृति से अभिप्रेत हैं कथावस्तु को प्रधानफल-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारयुक्त अंश, जिनके भेद हैं : **बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य**। वस्तु के प्रारंभिक कथाभाग को, जो कि क्रमशः विस्तृत होता जाता है, **बीज** कहते हैं। जो बात समाप्त सी होने वाली अवांतर कथा को अग्रसर करती और मुख्यकथा का विच्छेद नहीं होने देती, उसे **बिंदु** कहते हैं । प्रासंगिक कथावस्तु जब आधिकारिक कथावस्तु के साथ साथ चलती है तब उसे **पताका** कहते हैं; जैसे रामायण में सुग्रीव की, वेणीसंहार में भीमसेन की और शकुंतला नाटक में विदूषक की कथा। **प्रकरी** वह प्रासंगिक कथावस्तु है, जो आधिकारिक कथावस्तु के साथ साथ न चल, थोड़ी दूर चल कर समाप्त हो जाती है; जैसे रामायण में जटायुरावणसंवाद और शकुंतला में छठे अंक में दो दासियों का वार्तालाप। **कार्य** से तात्पर्य

उस घटना से है, जिसके लिए उपायजात का आरंभ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए नाटकीय सामग्री जुटाई जाय। कहना न होगा कि ये पांचों बातें वस्तुविन्यास से संबंध रखती हैं।

संधि

उपरिवर्णित अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं के परस्पर संयोग से नाटक के जो पांच अंश या विभाग बनते हैं, उन्हें पांच **संधियों** की संज्ञा दी गई है। उनके नाम हैं: **मुखसंधि, प्रतिमुखसंधि, गर्भसंधि, अवमर्शसंधि, और निर्वहणसंधि**। जहाँ प्रारंभ नामक अवस्था और बीज नामक अर्थप्रकृति के संयोग से अर्थ और रस की अभिव्यक्ति हो, वहाँ **मुखसंधि** होती है। **प्रतिमुखसंधि** में मुखसंधि में दिखलाए हुए बीज का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से विकास होता है; जैसे रत्नावली में वत्सराज और सागरिका का प्रेम विदूषक को स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाता है, पर वासवदत्ता चित्रावली की घटना से केवल उसका अनुमान ही कर पाती है। इस प्रकार राजा का प्रेम कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रहता है। **प्रतिमुखसंधि** प्रयत्ननामक अवस्था और बिंदुनामक अर्थप्रकृति के समान कार्यश्रृंखला को अग्रसर करती है। **गर्भसंधि** में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थप्रकृति होती है और **प्रतिमुख संधि** में स्फुरित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता है। रत्नावली में गर्भसंधि तीसरे अंक में है। **अवमर्शसंधि** में, गर्भसंधि की अपेक्षा बीज का अधिक

विकास होकर उसके फलोन्मुख होने के समय जब शाप, आपत्ति, विलोभन आदि से विघ्न उपस्थित हो तब यह संधि होती है। इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थप्रकृति रहती है। **प्राप्त्याशा** अवस्था में सफलता की संभावना के साथ साथ विफलता की आशंका भी बनी रहती है और पताका अर्थप्रकृति में प्रधान फल का सिद्ध करने वाला प्रासंगिक वृत्तांत रहता है। रत्नावली के चौथे अंक में जहाँ आग के कारण गड़बड़ मचती है वहाँ **अवमर्शसंधि** है। **निर्वहणसंधि** में पूर्वोक्त चारों संधियों में प्रदर्शित हुए अर्थों का समाहार प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है और मुख्य फल की प्राप्ति हो जाती है। इसमें **फलागम** अवस्था और **कार्य** अर्थप्रकृति होती है। रत्नावली में विमर्शसंधि के अंत से लेकर चौथे अंक की समाप्ति तक निर्वहणसंधि है। अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और संधियों का पारस्परिक संबंध नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट हो जायगा:—

अर्थप्रकृति	**अवस्था**	**संधि**
बीज	आरंभ	मुख
बिंदु	प्रयत्न	प्रतिमुख
पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श
कार्य	फलागम	निर्वहण

इसके अतिरिक्त हमारे आचार्यों ने नाट्य अथवा अभिनय की दृष्टि से वस्तु के दो मुख्य भेद किए हैं: एक **दृश्य** और दूसरा

सूच्य । **दृश्य वस्तु** वह है, जिसका रंगमंच पर अभिनय किया जा सके, जिससे निरंतर रस का उद्रेक होता रहे और जिसके देखने के लिए प्रेक्षकवर्ग उत्सुक रहे। **सूच्य वस्तु** वह है, जिसका कारणविशेष से रंगमंच पर प्रदर्शन न किया जा सके, जैसे, लंबी यात्रा, वध, मृत्यु, युद्ध, स्नान, चुंबन आदि । **सूच्यवस्तु** को दर्शकों के ध्यान में लाने के लिए अनेक उपाय किए जाते हैं, जिन्हें **अर्थोपक्षेपक** के नाम से पुकारा जाता है । नाटकीय वस्तु के उक्त भेदों से ही न संतुष्ट हो भारतीय आचार्यों ने उसके **श्राव्य**, **अश्राव्य** और **नियतश्राव्य** आदि अनेक उपभेद किए हैं; इसी प्रकार उन्होंने अभिनय को भी **आंगिक**, **वाचिक**, **आहार्य**, तथा **सात्त्विक** इन भेदों में विभक्त किया है । जिस प्रकार वस्तु और अभिनय के, उसी प्रकार उन्होंने नाटकीय वृत्ति के भी **भारती** **कैशिकी**, **सात्वती** और **आरभटी** ये चार भेद बताए हैं । कहना न होगा कि सूक्ष्मेक्षिका की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी नाटकीय तत्त्वों के ये विभाग अत्यंत ही नीरस तथा निरर्थक सिद्ध हुए हैं । इनके आधार पर न तो कोई नाटक आज तक खड़ा ही हुआ है और न इन विभागों की शृंखला में कसे जाकर किसी कलाकार की प्रतिभा काम ही कर सकती है। फलतः हमने इनका यहाँ पर दिग्दर्शन करा देना ही पर्याप्त समझा है।

भारतीय प्रेक्षागृह

भारतीय आचार्यों की दृष्टि से नाटकीय तत्त्वों का दिग्दर्शन करा चुकने पर भारतीय **रंगशाला अथवा प्रेक्षागृह**

के विषय में कुछ कह देना अप्रासंगिक न होगा। भरत के अनुसार प्राचीन काल में तीन प्रकार के प्रेक्षागृह होते थे: **विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र**। **विकृष्ट** प्रेक्षागृह—जिसकी लंबाई १०८ हाथ होती थी—सर्वोत्तम होता था और कहा जाता है कि वह देवताओं के लिए होता था। **चतुरस्र** प्रेक्षागृह की लंबाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होती थी और यह राजाओं, धनिकों तथा साधारण जनता के लिए होता था। **त्र्यस्र** प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होता था और इसमें एक कुटुम्ब के अथवा कतिपय मित्र अथवा परिचित व्यक्ति मिल कर नाटकीय अभिनय देखा करते थे।

सभी प्रकार के प्रेक्षागृहों में आधा स्थान दर्शकों के लिए और शेष आधा भाग अभिनय के लिए रहता था, जिसे **रंगमंच** कहा जाता था। रंगमंच का सबसे पिछला भाग **रंगशीर्ष** कहाता था और उसमें छः खंभे रहते थे। रंगमंच के खंभों और दीवारों पर नक़्क़ाशी और चित्रकारी हुआ करती थी। वायु और प्रकाश के आने का अच्छा प्रबंध होता था। रंगमंच का आकार ऐसा होता था कि उसमें स्वर भलीभांति प्रतिध्वनित हो सके। बहुधा रंगमंच दो खंडों का भी बनाया जाता था: एक खंड ऊपर और दूसरा नीचे होता था। ऊपर वाले खंड में स्वर्ग के दृश्य दिखाए जाते थे। खंभों पर चित्रकारी होने के अतिरिक्त रंगमंच की दीवारों पर भी पहाड़ों, नदियों, जंगलों आदि के चित्र खिंचे होते थे। रंगमंच के पीछे एक परदा होता था, जिसे यवनिका कहते थे।

संभवतः इस परदे का कपड़ा यूनान से आता था, इसी कारण इसका नाम यह पड़ गया हो। यवनिका का रंग नाटकीय रस के अनुसार बदल दिया जाता था : रौद्र रस के लिए लाल, भयानक के लिए काला, शृंगार के लिए श्याम, करुण के लिए खाकी, अद्भुत के लिए पीला, बीभत्स के लिए नीला और वीर के लिए सुनहरा परदा बरता जाता था।

प्रेक्षकों के बैठने का प्रबंध संतोषजनक होता था। प्रेक्षकों की पंक्तियाँ यहाँ वर्णों के अनुसार ही लगती थीं, और जैसे और जगह, वैसे ही यहाँ भी, सब से आगे ब्राह्मण बैठते थे, उनके पीछे क्षत्रिय, उनके पीछे उत्तरपश्चिम की ओर वैश्य और सब से पीछे उत्तरपूर्व में शूद्र बैठते थे। यदि पृथ्वी पर आसनों की कमी हुई तो आजकल के सिनेमाओं की भांति दूसरा खंड खड़ा कर लिया जाता था।

नाटक और उसके तत्त्वों के विषय में पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों दृष्टिकोणों से विवेचना कर चुकने पर उसकी उत्पत्ति और इतिहास के विषय में कुछ कह देना अप्रासंगिक न होगा।

नाटक की उत्पत्ति

किसी न किसी रूप में नाटक संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाया जाता है, और सभी जातियों में इसकी उत्पत्ति का संबंध किसी न किसी प्रकार की नृत्य और गीतिभरित धार्मिक पूजा से दीख पड़ता है। यह पूजा एक तो उस रहस्यमय शक्ति की होती थी, जिसे हम परमात्मा कहते हैं और

जिसका परिचय आरंभ से ही मनुष्य को प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों में मिलता आया है, और दूसरे यह पूजा मृतक वीरों की होती थी। ऋतुपरिवर्तन के समय और फसल बोने तथा काटने के अवसर पर किसी देवविशेष की आराधना के उद्देश्य से नृत्य और गीत आदि का आयोजन भारतवर्ष, चीन और यूनान जैसे देशों में ऐतिहासिक काल से बहुत पहले आरंभ हुआ प्रतीत होता है। यूनान में नाटक का प्रारंभ डायोनिसस देवता की सार्वजनिक पूजा से हुआ बताया जाता है। और सभी देशों में देवताओं की पूजा के पश्चात् मृतक वीरों की पूजा का सूत्रपात हुआ, जिसका योजक सूत्र हमें भारत में आज भी कृष्णलीला तथा रामलीला के रूप में संतत हुआ दीख पड़ता है। निष्कर्ष इन बातों के कहने का यह है कि नाटक की उत्पत्ति देवता तथा मृतक वीरों की पूजा में संमिलित हुए नृत्य और गीत से हुई। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के आरंभ में कहा है कि नाट्यशास्त्र की रचना के लिए ब्रह्मा ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिए। इस कथन से नाटक के विकास का संकेत मिलता है। नृत्य और गान के साथ जब कथोपकथन मिल जाय, तब साहित्यिक अर्थ में नाटक का जन्म हो जाता है।

यदि भरत मुनि के उक्त संकेत को सत्य न भी माना जाय तो भी इतना तो निश्चित है कि नाटकसृष्टि के आवश्यक उपकरण वेदों में बीजरूप से

नाटक की सृष्टि

विद्यमान थे। ऋग्वेद में इंद्र, अग्नि, सूर्य, उषस्, मरुत् आदि देवताओं की स्तुति के गीत, और सरमापणि, यमयमी, तथा पुरूरवाउर्वशी के कथोपकथन मिलते हैं, और हो सकता है कि इनके अथवा इन्हीं के समान अन्य आख्यानों के आधार पर भारत के प्राचीनतम नाटक लिखे गए हों। इस बात का पूरा पूरा निश्चय करना कि भारत में नाटक ने परिपक्व रूप किस युग में धारण किया, बहुत कठिन है। किंतु इस बात के मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि पाणिनि और पतंजलि के समय तक नाटकों का पर्याप्त विकास हो चुका था। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में नाट्य-शास्त्र के दो आचार्यों, अर्थात् शिलालिन् और कृशाश्व का नाम लिया है। पाणिनि के पश्चात् उनके सूत्रों की व्याख्या करने वाले पतंजलि मुनि अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि **रंगशालाओं में नाटकों का अभिनय होता था**। हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही नाटकों का अभिनय होने के संकेत पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हरिवंश पुराण में लिखा है कि वज्रनाभ के नगर में कौबेररंभाभिसार नामक नाटक का अभिनय हुआ, जिसमें कैलाश पर्वत का दृश्य दिखाया गया। कठपुतलियों का वर्णन—जिन का संबंध नाटक की उत्पत्ति और विकास के साथ अविभाज्य सा प्रतीत होता है—महाभारत और कथासरित्सागर में पाया जाता है।

यों तो भारत में नाटक का विकास वैदिक काल में हो चुका था, किंतु उसके विकास का क्रमबद्ध इतिहास भरतमुनि के समय

भरतमुनि और नाटक का विकास

से ही आरंभ होता है। भरत का समय ईसा से कम से कम तीन चार सौ वर्ष पहले बताया जाता है; और स्मरण रहे भरत मुनि द्वारा प्रारंभ किया गया नाट्यशास्त्र एक लक्षण ग्रंथ है, जिस से यह बात माननी अनिवार्य हो जाती है कि उससे भी कहीं पहले हमारे देश में नाट्यकला और नाटकों का भरपूर प्रचार हो चुका होगा; क्योंकि बहुसंख्यक तथा बहुविध नाटकों को रंगमंच पर देखे अथवा पढ़े बिना उनके गुणदोषों का विवेचन करना और उनके संबंध में लक्षणग्रंथों की रचना करना असंगत सा है।

यद्यपि भरत मुनि के पश्चात् नाटककारों में कालिदास का नाम ही विशेषतया स्मरणीय है, तथापि स्वयं कालिदास के कथनानुसार उनसे पहले भास आदि अनेक प्रसिद्ध नाटककार हो चुके थे। इस संबंध में यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि मध्यएशिया में बौद्धकालिक नाटकों में से कतिपय के हस्तलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें से एक रचना कनिष्क के राजकवि अश्वघोष की बताई जाती है। अश्वघोष का समय ईसा संवत् के आरंभ के निकट का है।

भारतीय नाटक-साहित्य: संस्कृत नाटक

भारतीय नाटक का स्पष्ट इतिहास कालिदास के समय से आरंभ होता है। तब से लेकर लगभग ईसा की दसवीं शताब्दी तक भारत में नाटकों का खासा प्रचार रहा और इसके उपरांत उनका ह्रास होने लगा। कालिदास का समय संस्कृतनाटक

के लिए ही नहीं, अपितु संस्कृत साहित्य के सर्वांगीण विकास के लिए स्वर्णयुग बताया जाता है । संसार के नाट्यकारों में कालिदास का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। उन्होंने अपने प्रथम नाटक मालविकाग्निमित्र के पश्चात् शकुंतला नाटक की रचना की, जिस की गणना, क्या देशी और क्या परदेशी, सभी एक स्वर से विश्वसाहित्य की विलक्षण विभूतियों में करते हैं । योरुप की प्रायः सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। इसके अतिरिक्त उन का विक्रमोर्वशीय नाटक भी उल्लेखयोग्य है, जिस के अनुकरण में आगे चल कर संस्कृत में अनेक नाटकों की रचना हुई। कालिदास के अनंतर स्मरणीय नाटककार श्रीहर्ष हैं। ये ईसा की सातवीं शताब्दी के आरंभ में हुए, और इनकी नागानंद और रत्नावली नाम की रचनाएँ नाटकीय दृष्टि से अच्छी संपन्न हुई। इनके पश्चात् शूद्रक ने मृच्छकटिक की रचना की । सातवीं शताब्दी के अंतिम भाग में भवभूति हुए, जिनकी तीन रचनाएँ—महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव—प्रसिद्ध हैं। नवीं शताब्दी के मध्य के लगभग भट्टनारायण ने वेणीसंहार और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नामक नाटक लिखे । नवीं शताब्दी के अंत में राजशेखर ने कर्पूरमंजरी, बालरामायण और बालभारत की रचना की और ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमिश्र ने प्रबोधचंद्रोदय नाम का नाटक लिखा।

ईसा की दसवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत नाटक एवं भारतीय नाट्यकला का ह्रास होना आरंभ हो गया । यद्यपि दसवीं

और बारहवीं शताब्दी के मध्य में भी, इस देश में, हनुमन्नाटक, प्रबोधचंद्रोदय और मुद्राराक्षस जैसे नाटक लिखे जाते रहे, तथापि इस में संशय नहीं कि शनैः शनैः नाटक का प्रचार हमारे देश में कम होता गया; यहाँ तक कि चौदहवीं सदी में, जब कि मुसलमानों के आक्रमणों ने उग्र रूप धारण कर लिया था, यह कला इस देश से किसी सीमा तक कूच ही कर गई। अपने हिंदी साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास की भूमिका में हम ने इस बात के कारणों पर विस्तृत विचार किया है। इन कारणों में प्रमुख कारण तो इस देश की राजनीतिक दुरवस्था थी, और दूसरा कारण यह था कि मुसलमान स्वयं संगीत और नाट्यकला के विरोधी थे। जहाँ-जहाँ उनकी विजयवैजयंती फहराई, वहाँ-वहाँ वह नट्यकला को ग्रसती चली गई। इसके साथ ही देश में जहाँ कहीं भी हिंदुओं का राज्य रहा, वहाँ कभी कभी इस कला का चमत्कार दीखता रहा; किंतु इस व्यवधान में बने नाटकों में कोई भी विशेषरूप से ध्यान देने योग्य नहीं है।

संस्कृत नाटक का ह्रास

पिछले साठ-सत्तर वर्षों में बंगला, मराठी और गुजराती में नाटकों को खासी प्रगति मिली और आधुनिक ढंग की रंगशालाओं में उनका अभिनय भी स्वागत के साथ हुआ। किंतु खेद है कि हिंदी में अभी तक इस कला ने उत्कर्षलाभ नहीं कर पाया है।

हिंदीनाटक

हिंदी नाटक के प्रथम उत्थान (संवत् १८१३–५७) में

भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता बाबू गिरधरदास के रचे नहुष नाटक के पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित शकुंतला नाटक, श्रीनिवासदास का तप्तासंवरण, तथा तोताराम रचित केटोकृतांत पर होते हुए हम भारतेंदु द्वारा रचे, तथा अनुवाद किए गए अनेक नाटकों पर आते हैं, जो नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से खासे संपन्न हुए और जिनके द्वारा हिंदी साहित्य में वास्तविक नाटकों का सूत्रपात हुआ। नाटकों के द्वितीय उत्थान (संवत् १८५७–१८७७) में हम गोपालराम गहमरी, बाबू सीताराम, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद पूर्ण, और पंडित रूपनारायण पांडेय को संस्कृत तथा बंगला आदि के भव्य नाटकों का हिंदी में अनुवाद करने के साथ साथ कतिपय नवीन नाटकों की भी रचना करता हुआ पाते हैं। पिछले बीस-तीस वर्षों में हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना भी आरंभ हो गई है; और इस संबंध में पंडित राधेश्याम कविरत्न, नारायणप्रसाद बेताब, और बाबू हरिकृष्ण जौहर के नाम स्मरणीय हैं; इनकी रचनाओं के द्वारा पारसी रंगमंच की कायापलट हुई, और उर्दू का स्थान हिंदी को प्राप्त हुआ। पंडित राधेश्याम के वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, श्रीकृष्णअवतार, और रुक्मिणीमंगल, पंडित नारायणप्रसाद बेताब के महाभारत तथा रामायण नाटक, और बाबू हरिकृष्ण जौहर के पतिभक्ति आदि नाटक खासे प्रसिद्ध हैं। हाल ही में बाबू जयशंकर प्रसाद के अजातशत्रु, जनमेजय, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि ऐतिहासिक नाटक साहित्यिक दृष्टि से मनोज्ञ संपन्न हुए; किंतु

इनका सफलता के साथ रंगमंच पर अभिनय नहीं किया जा सकता। **प्रसाद** जी के साथ ही मुंशी प्रेमचंद, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, माखनलाल चतुर्वेदी, बद्रीनाथ भट्ट, जगन्नाथप्रसाद मिलिंद, सुदर्शन, नगेंद्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, तथा बलदेव शास्त्री आदि ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है; किंतु इनमें से किसी के नाटकों में भी इस कला को वह बहार न मिली, जो इसने संस्कृत, बंगला, मराठी और गुजराती में प्राप्त की है।

